निर्वाण उपनिषद

अनुक्रम

1. शांति पाठ का द्वार, विराट सत्य और प्रभु का आसरा...........................2
2. निर्वाण उपनिषद--अव्याख्य की व्याख्या का एक दुस्साहस................21
3. यात्रा--अमृत की, अक्षय की--निःसंशयता निर्वाण और केवल-ज्ञान की.36
4. पावन दीक्षा--परमात्मा से जुड़ जाने की...51
5. संन्यासी अर्थात जो जाग्रत है, आत्मरत है, आनंदमय है, परमात्म-आश्रित है...63
6. अनंत धैर्य, अचुनाव जीवन और परात्पर की अभीप्सा...........................76
7. अखंड जागरण से प्राप्त--परमानंदी तुरीयावस्था.............................94
8. स्वप्न-सर्जक मन का विसर्जन और नित्य सत्य की उपलब्धि...............107
9. साधक के लिए शून्यता, सत्य योग, अजपा गायत्री और विकार-मुक्ति का महत्व..121 10....................आनंद और आलोक की अभीप्सा, उन्मनी गति और परमात्म-आलंबन
.... 136
11.अंतर-आकाश में उड़ान, स्वतंत्रता का दायित्व और शक्तियां प्रभु-मिलन की ओर...154 12.........सम्यक त्याग, निर्मल शक्ति और परम अनुशासन मुक्ति में प्रवेश
.... 170
13.असार बोध, अहं विसर्जन और तुरीय तक यात्रा--चैतन्य और साक्षीत्व से
.... 187
14.......भ्रांति-भंजन, कामादि वृत्ति दहन, अनाहत मंत्र और अक्रिया में प्रतिष्ठा..204 15.. निर्वाण रहस्य अर्थात सम्यक संन्यास, ब्रह्म जैसी चर्या और सर्व देहनाश..223

निर्वाण उपनिषद
पहला प्रवचन

शांति पाठ का द्वार, विराट सत्य और प्रभु का आसरा

शांति पाठः

ओम वाड्गमे मनसि प्रतिष्ठता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम आविराः वीर्म एधिं वेदस्य म आणीस्थः श्रुतम मे माप्रहासीरनेन आधीनेन अहोरात्रात संदधामि।

ओम मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ।
हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे वेद-ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं।

बूंद चाहे भी कि सागर को बिना स्मरण किए सागर की खोज कर ले, तो भी वह खोज हो न सकेगी। और कोई दीया सोचता हो कि सूर्य को स्मरण किए बिना सूर्य को खोज लेगा, तो नासमझी है। आत्मा भी परमात्मा की खोज पर निकली हो, तो सिर्फ अपने पर भरोसा करके चले तो पहुंच न सकेगी। अपने पर भरोसा काफी नहीं है। परमात्मा का स्मरण जरूरी है--उस परमात्मा का स्मरण, जिसका हमें कोई भी पता नहीं है। यही कठिनाई है।
जिस परमात्मा का हमें कोई भी पता नहीं है, उसका स्मरण बड़ी कठिन और असंभव बात है। और अगर हम यह जिद करें कि पता होगा तभी स्मरण करेंगे, तो भी बड़ी कठिनाई है। क्योंकि पता हो जाने पर स्मरण की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। जो जानते हैं, उन्हें प्रभु का नाम लेने की भी कोई जरूरत नहीं है। जो पहचानते हैं, उनके लिए प्रार्थना व्यर्थ है। और जिन्हें पता नहीं है, वे कैसे प्रार्थना करें! वे कैसे पुकारें उसे! वे कैसे स्मरण करें! जिन्हें उसकी कोई खबर ही नहीं है, उसकी तरफ वे हाथ भी कैसे जोड़ें और सिर भी कैसे झुकाएं!
बूंद को सागर का कोई भी पता नहीं है, लेकिन फिर भी बूंद जब तक सागर न हो जाए तब तक तृप्त नहीं हो सकती। और अंधेरी रात में जलते हुए एक छोटे से दीए को क्या पता होगा कि सूरज के बिना वह न जल सकेगा। लेकिन सूर्य कितना ही दूर हो, वह जो छोटा सा अंधेरे में जलने वाला दीया है, उसकी रोशनी भी सूर्य की ही रोशनी है। और आपके गांव में आपके घर के पास छोटा सा जो झरना बहता है, उसे क्या पता होगा कि दूर के सागरों से जुड़ा है! और अगर सागर सूख जाएं और रिक्त हो जाएं तो यह झरना भी तत्काल सूखकर समाप्त हो जाएगा! झरने को देखकर आपको भी ख्याल नहीं आता कि सागरों से उसका संबंध है।
आदमी भी ठीक ऐसी ही स्थिति में है। वह भी एक छोटा सा चेतना का झरना है।
और उसमें अगर चेतना प्रकट हो सकी है तो सिर्फ इसीलिए कि कहीं चेतना का कोई महासागर भी निकट में है--जुड़ा हुआ, संयुक्त, चाहे ज्ञात हो, चाहे ज्ञात न हो।
तो ऋषि एक यात्रा पर निकल रहा है इस सूत्र के साथ। लेकिन यह सूत्र बहुत अदभुत है और बहुत अजीब भी, एब्सर्ड भी, बहुत बेमानी भी। क्योंकि जिसकी खोज पर जा रहा है, उसी से प्रार्थना कर रहा है। जिसका पता नहीं है अभी, उसी के चरणों में सिर रख रहा है। यह कैसे संभव हो पाएगा? इसे समझ लें, क्योंकि जिसे भी साधना के जगत में प्रवेश करना है उसे इस असंभव को संभव बनाना पड़ता है।
एक बात तय है कि बूंद को सागर का कोई भी पता नहीं है, लेकिन दूसरी बात
भी इतनी ही तय है कि बूंद सागर होना चाहती है। जो हम होना चाहते हैं, उसके समक्ष ही हमें प्रणाम करना होगा--हमें, वे जो हम हैं। जो हम हैं, उसे उसके समक्ष प्रार्थना करनी होगी, जो हम हो सकते हैं। जैसे बीज उस संभावित फूल के सामने प्रार्थना करे, जो वह हो सकता है।

इस प्रार्थना से परमात्मा को कुछ लाभ हो जाता हो, ऐसा नहीं है। लेकिन
इस प्रार्थना से हमारे पैरों में बड़ा बल आ जाता है। यह प्रार्थना परमात्मा के लिए नहीं है, अपने ही लिए है। परमात्मा के प्रति है, अपने ही लिए है।
अगर बूंद ठीक से प्रार्थना कर पाए सागर की, तो उसके प्राणों में कहीं सागर से संपर्क होना शुरू हो जाता है। और बूंद जब सागर को पुकारती है, तो किसी अज्ञात मार्ग से सागर होने की क्षमता और पात्रता पैदा होती है। और जब बूंद कहती है सागर से कि मुझे सहायता करना कि मैं तुझ तक पहुंच सकूं, तो आधी मंजिल पूरी हो जाती है। क्योंकि जिस बूंद ने... श्रद्धा और आस्था और निष्ठा से कह सकी जो बूंद कि परमात्मा मुझे सहायता करना, यह श्रद्धा, यह निष्ठा, यह आस्था बूंद की जो संकीर्णता है उसे तोड़ देती है और जो विराटता है उससे जोड़ देती है।
प्रार्थना के क्षण में प्रार्थना करने वाला वही नहीं रह जाता, जो प्रार्थना के करने के पहले था। जैसे कोई द्वार खुल जाता है, जो बंद था। जैसे कोई झरोखा खुल जाता है, जो ढंका था। एक नया आयाम, एक नई यात्रा और एक नए आकाश का दर्शन होना शुरू हो जाता है। नहीं यह कि आप आकाश तक पहुंच जाते हैं, बल्कि अपने घर के भीतर ही खड़े होते हैं, फिर भी एक द्वार खुल जाता है और दूर अनंत आकाश दिखाई पड़ने लगता है। आप वहीं होते हैं, जहां थे। आप कुछ दूसरे नहीं हो गए होते हैं।
अंधेरे में खड़ा है एक आदमी अपने ही मकान में और फिर अपने द्वार को खोल लेता है। वही आदमी है, वही मकान है, वही जगह है। कहीं कोई परिवर्तन नहीं हो गया है, लेकिन अब बहुत दूर का आकाश दिखाई पड़ने लगता है। और मार्ग अगर दूर तक दिखाई न पड़े तो चलना बहुत मुश्किल है। और मंजिल हम जहां खड़े हैं, अगर वहीं से दिखाई पड़नी न शुरू हो जाए तो यात्रा असंभव है।
ऋषि ऐसी प्रार्थना से शुरू करता है इस निर्वाण उपनिषद को, जिसमें निर्वाण की खोज की जाएगी--उस परम सत्य की, जहां व्यक्ति विलीन हो जाता है और सिर्फ विराट शून्य ही रह जाता है। जहां ज्योति खो जाती है अनंत में, जहां सीमाएं गिर जाती हैं असीम में, जहां मैं खो जाता हूं और प्रभु ही रह जाता है।
यह निर्वाण शब्द बहुत अदभुत है। बुद्ध ने तो परमात्मा शब्द भी छोड़ दिया था, आत्मा शब्द भी छोड़ दिया था। क्योंकि बुद्ध ने कहा कि ये सब शब्द बहुत ओंठों पर गुजरकर जूठे हो गए हैं। पर निर्वाण शब्द को वे भी न छोड़ पाए। और बुद्ध ने तो सारी की सारी खोज निर्वाण के सत्य पर केंद्रित कर दी। शायद निर्वाण का आपको ख्याल भी न हो कि अर्थ क्या होता है। निर्वाण का अर्थ होता है, दीए का बुझ जाना। जैसे दीए को कोई फूंककर बुझा दे। कहां चली जाती है ज्योति?
इस जगत में जो भी अस्तित्व में है, वह अस्तित्व के बाहर नहीं जा सकता है। वैज्ञानिक भी अब वैसा ही कहते हैं। जो है उसे मिटाया नहीं जा सकता, और जो नहीं है उसे बनाया नहीं जा सकता। सिर्फ रूपांतरण होता है, परिवर्तन होता है। न कुछ नष्ट होता है, न कोई सृजन होता है।
एक दीए को फूंक मार दी और ज्योति बुझ गई--कहां चली जाती है? मिट तो नहीं सकती है, मिटने का कोई उपाय नहीं है। चाहें तो भी मिटने का कोई उपाय नहीं है। सिर्फ वही मिट सकता है जो था ही नहीं, सिर्फ दिखाई पड़ता था। वह नहीं मिट सकता, जो था। जो है, वह नहीं मिट सकता।
यह बहुत मजेदार बात है, सिर्फ वही मिट सकता है जो नहीं था। जो है, वह नहीं मिट सकता। वह रहेगा ही, वह रहेगा ही किसी भी रूप में, और आकार में। और कहीं भी रहेगा ही। उसके मिटने की कोई संभावना नहीं।
दीए की ज्योति बुझ जाती है, मिट नहीं जाती। दीए की ज्योति खो जाती है, समाप्त नहीं हो जाती। हमारी तरफ से जो खोना है, वह किसी दूसरी तरफ कहीं मिलन बन जाता है। वह ज्योति आई थी किसी विराट से और फिर विराट में लीन हो जाती है। असीम से आती है और फिर असीम में चली जाती है। सागर से ही आती हैं वे बूंदें, जो आपके घर पर बरसती हैं और आपके खेत और बाग और बगीचे में, और फिर सागर में लीन हो जाती हैं।

यह भी ध्यान रखें, एक शाश्वत सूत्र, कि जो चीज जहां लीन होती है, वह लीन होने का स्थान वही है जो उदगम का है। उदगम और अंत सदा एक हैं। जहां से कुछ जन्म पाता है, वहीं समाप्त, वहीं लीन, वहीं विदा हो जाता है। आने का द्वार और जाने का द्वार इस जगत में एक ही है। जन्म और मृत्यु उसी द्वार के नाम हैं, वह द्वार एक ही है। ज्योति खो जाती है वहीं, जहां से आती है।
बुद्ध कहते थेः ज्योति के इस खो जाने को मैं कहता हूं दीए का निर्वाण। किसी दिन जब अहंकार भी इसी तरह खो जाता है, महाविराट में, महत में, तब उसे मैं व्यक्ति का निर्वाण कहता हूं।
इस उपनिषद का नाम है निर्वाण उपनिषद। यह भी थोड़ा सोचने जैसा है कि उपनिषद की वाणी तो बुद्ध से बहुत पुरानी है। बुद्ध ने जो कहा है वह वही है, जो उपनिषदों में छिपा है। जो गहरे उतरेगा, वह जानेगा कि बुद्ध ने उपनिषदों की जीवंत व्याख्या की है।
लेकिन कैसा आश्चर्य है कि उपनिषदों को सर्वाधिक अपने जीवन में जीने वाला आदमी ही हिंदुस्तान में ब्राह्मणों को अपना शत्रु मालूम पड़ा। उपनिषद की अमृतधारा को अपने जीवन से हजार-हजार रूपों में प्रकट करने वाला गौतम बुद्ध ही, उपनिषद के जो मालिक बने बैठे हुए पंडित थे, उन्हें अपना दुश्मन मालूम पड़ा। बुद्ध के विचार को पंडितों ने भारत से हटाने की अथक चेष्टा की। और बुद्ध वही कह रहे थे, जो उपनिषदों ने कहा है। पर ऐसा होता है।
ऐसा इसलिए होता है कि जब उपनिषद का ऋषि कुछ कहता है... ऋषि कोई पंडित नहीं है, पुरोहित नहीं है। वह कोई पुजारी नहीं है। उसने कुछ जाना है। और ज्ञान की अग्नि को सभी नहीं झेल पाते। शास्त्र की राख को सभी सम्हाल पाते हैं। ज्ञान की अग्नि को सभी नहीं झेल पाते। और जब ज्ञान बुझ जाता है और राख रह जाती है, तो शास्त्र बन जाते हैं। पंडितों के हाथ में ज्ञान नहीं होता, शास्त्र होते हैं। निश्चित ही जो आज राख है, कभी वह अंगार थी। और उस अंगार होने के कारण ही हम राख को भी सम्हाले चले जाते हैं। पर जो आज राख है, वह अंगार नहीं है, यह भी जानना जरूरी है।
बुद्ध के समय तक उपनिषद राख हो गए थे, अंगार नहीं। असल में जब भी पंडितों के, पुरोहितों के, उनके हाथ में--जो जानते नहीं, लेकिन जानने के भ्रम में होते हैं--ज्ञान पड़ता है, तो राख हो जाता है। ज्ञान की हत्या करवानी हो, तो पंडितों के हाथ में दे देने से ज्यादा सुगम और कोई उपाय नहीं। पंडित इतने कुशल हैं ज्ञान की हत्या कर देने में जिसका कोई हिसाब नहीं।
राख के आप मालिक हो सकते हैं। आग के साथ खेलना खतरनाक है। राख की आप पूजा कर सकते हैं। आग के साथ जूझना खतरनाक है। राख को आप बदल सकते हैं, आग आपको बदल देगी, मिटा देगी।
तो उपनिषद के ऋषि तो आग से खेल रहे थे। लेकिन बुद्ध के समय तक आते-आते राख रह गई। और जब बुद्ध ने फिर आग की बात की, तो स्वाभाविक कि जो राख की रक्षा कर रहे थे और जो राख को ही आग कह रहे थे, उनको बुद्ध दुश्मन मालूम पड़े हों। यह स्वाभाविक है। क्योंकि जब फिर आग जला दी जाए, तो राख के मालिक बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं।
जीसस ने वही कहा, जो यहूदी ज्ञाताओं ने कहा था। लेकिन जीसस को यहूदी पंडितों ने ही सूली पर लटका दिया।
यह भी जानकर हैरानी होगी कि आज तक धर्म का विरोध करने वाले अधार्मिक लोग नहीं हैं। धर्म का विरोध तो सदा ही तथाकथित धार्मिक, सो-काल्ड रिलीजस लोग करते हैं। धर्म का विरोध अधार्मिक नहीं करते हैं, धर्म का विरोध तथाकथित धार्मिक लोग करते हैं। बुद्ध का विरोध भारत के नास्तिकों ने नहीं किया, बुद्ध का विरोध भारत के तथाकथित आस्तिकों ने किया।
कब हम यह समझ पाएंगे, कहना कठिन है। कब हमें यह समझ में बात आएगी कि सत्य सदा एक है, नई-नई अभिव्यक्तियां होती हैं उसकी, लेकिन सत्य के प्राण सदा एक हैं।
इस निर्वाण उपनिषद में, जिसका बुद्ध से कुछ लेना-देना नहीं है, बुद्ध
ने जो भी कहा है, उसका सब सार है।

मेरे एक मित्र अभी चीन होकर वापस लौटे हैं। इधर मैं लाओत्से के ऊपर कुछ चर्चा कर रहा था। तो उन मित्र ने मुझे आकर कहा कि आप लाओत्से पर चर्चा कर रहे हैं। मैं चीन गया था तो मैंने चीन के एक पंडित से पूछा कि लाओत्से के संबंध में तुम्हारा क्या ख्याल है? तो उसने कहा कि ही वा.ज करप्टेड बाई योर उपनिषद्स। तुम्हारे उपनिषदों ने हमारे लाओत्से को खराब किया।
यह बात बड़ी अर्थपूर्ण है। सच तो यह है कि जिस अर्थ में उसने कहा है खराब किया, उस अर्थ में कि हम सब अच्छे लोग हैं। इस दुनिया में जब भी कोई आदमी खराब हुआ है, तो उपनिषदों का हाथ रहा है। खराब उसी अर्थ में, जिस अर्थ में बुद्ध खराब होते हैं, महावीर खराब होते हैं, सुकरात खराब होता है, जीसस खराब होते हैं। इस जमीन पर जब भी कोई आदमी खराब हुआ है, तो ही वा.ज करप्टेड बाई उपनिषद्स।
मैंने उन मित्र से कहा कि लाओत्से अकेला, तो आप गलती में हैं। जब भी कोई आदमी जमीन पर खराब हुआ है, इधर कोई पांच हजार वर्षों के ज्ञात इतिहास में, तो उपनिषद ही उसका कारण थे।
असल में उपनिषदों ने जो भी शाश्वत है, उसे इतने गूढ़ता से कह दिया है कि
कई बार ऐसा लगता है कि क्या उपनिषदों से इंचभर भी यहां-वहां हटकर कुछ और कहा जा सकता है? क्या उपनिषदों का किसी तरह परिष्कार हो सकता है? कैन दे बी इंप्रूव्ड? तो शक होता है, होना बहुत मुश्किल मालूम होता है। संदिग्ध मालूम होता है। कोई उपाय नहीं मालूम पड़ता। और यह एक बड़ा भारी कारण बना भारत की परेशानी का।
उपनिषदों ने सत्य को इतनी शुद्धतम भाषा में कह दिया कि उसमें परिष्कार करना मुश्किल पड़ा। और इसलिए उपनिषदों के बाद भारत में बौद्धिक विकास मुश्किल हो गया, क्योंकि विकास के लिए कुछ उपाय चाहिए। उपनिषदों में ऐसी चरम बात कह दी गई कि उसके आगे कहने जैसा नहीं रहा। सत्य की जो परम घोषणाएं हैं, वे उपनिषदों में हैं।
और निर्वाण बहुत अदभुत उपनिषद है। इस पर हम यात्रा शुरू करते हैं और
यह यात्रा दोहरी होगी। एक तरफ मैं आपको उपनिषद समझाता चलूंगा और दूसरी तरफ आपको उपनिषद कराता भी चलूंगा। क्योंकि समझाने से कभी कुछ समझ में नहीं आता, करने से ही कुछ समझ में आता है। करेंगे तो ही समझ पाएंगे। इस जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है, उसका स्वाद चाहिए, अर्थ नहीं। उसका स्वाद चाहिए, उसकी व्याख्या नहीं। उसकी प्रतीति चाहिए। आग क्या है, इतने से काफी न होगा, वह आग जलानी पड़ेगी। उस आग से गुजरना पड़ेगा। उस आग में जलना पड़ेगा और बुझना पड़ेगा, तो निर्वाण की प्रतीति होगी कि निर्वाण क्या है। और कठिन नहीं है यह।
अहंकार को बनाना कठिन है, मिटाना कठिन नहीं है। क्योंकि अहंकार वस्तुतः है नहीं, मिट सकता है सरलता से। असल में जिंदगीभर बड़ी मेहनत करके हमें उसे सम्हालना पड़ता है। सब तरफ से टेक और सहारे लगाकर उसे बनाना पड़ता है। उसे गिराना तो जरा भी कठिन नहीं है। इन सात दिनों में अगर आपका अहंकार क्षणभर को भी गिर गया, तो आपको निर्वाण की प्रतीति हो सकेगी कि निर्वाण क्या है।
तो हम समझेंगे। समझेंगे सिर्फ इसीलिए कि कर सकें। तो मैं जो भी कहूंगा, उसे आप अपनी जानकारी नहीं बना लेंगे, उसे आप अपनी प्रतीति बनाने की कोशिश करेंगे। जो मैं कहूंगा, उसे अनुभव में लाने की चेष्टा करेंगे। तो ही! अन्यथा पांच हजार सालों में उपनिषद की बहुत टीकाएं हुई हैं, और परिणाम तो कुछ भी हाथ नहीं। शब्द, और शब्द, और शब्द का ढेर लग जाता है। आखिर में बहुत शब्द आपके पास होते हैं, ज्ञान बिल्कुल नहीं होता। और जिस दिन ज्ञान होता है, उस दिन अचानक आप पाते हैं कि भीतर सब निःशब्द हो गया, मौन हो गया। यह प्रार्थना है ऋषि की।
ऋषि ने कहा है, इसे कहा है, शांति पाठ।
परमात्मा से प्रार्थना करनी हो, तो कुछ और कहना चाहिए। परमात्मा के लिए शांति के पाठ का क्या अर्थ हो सकता है? परमात्मा शांत है। लेकिन इसे कहा है, शांति पाठ। जानकर कहा है, बहुत सोच-समझकर। वह इसीलिए कहा है कि प्रार्थना तो करते हैं परमात्मा से, करते अपने ही लिए हैं। और हम अशांत हैं और अशांत रहते हुए यात्रा नहीं हो सकती। अशांत रहते हुए हम जहां भी

जाएंगे वह परमात्मा से विपरीत होगा। अशांति का अर्थ है, परमात्मा की तरफ पीठ करके चलना।
असल में जितना अशांत मन, उतना परमात्मा से दूर। अशांति ही डिस्टेंस है, दूरी है। जितने आप अशांत हैं, उतना ही फासला है। अगर पूरे शांत हैं तो कोई भी फासला नहीं है, देन देअर इज नो डिस्टेंस। तब ऐसा भी कहना ठीक नहीं कि आप परमात्मा के पास हैं, क्योंकि पास होना भी एक फासला है। नहीं, तब आप परमात्मा में, परमात्मा में ही हैं। लेकिन शायद यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा में होना भी एक फासला है। तब कहना यही ठीक है कि आप परमात्मा हैं। या तो फिर आप हैं, और या परमात्मा है। फिर दो नहीं हैं, क्योंकि जहां तक दो हैं, वहां तक कोई न कोई तल पर फासला कायम बना रहता है। इसलिए ऋषि शुरू करता है शांति पाठ से। शांति पाठ के शब्द सोचने जैसे हैं, सोचने जैसे इसीलिए ताकि किए जा सकें।
ऋषि कहता है, ओम।
ओम प्रतीक है उस सब का, जिसे कहा नहीं जा सकता। ओम शब्द में कोई भी अर्थ नहीं है। यह मीनिंगलेस है। इसमें कोई भी अर्थ नहीं है। और अगर कोई आपको अर्थ बताता हो, तो उससे कहना कि अनर्थ मत करो। ओम में कोई भी अर्थ नहीं है। वह मात्र ध्वनि है।
ध्यान रहे, जहां भी अर्थ होता है, वहां सीमा आ जाती है। अर्थ का अर्थ
ही होता है सीमा। जब भी अर्थ होता है, तो उससे विपरीत भी हो सकता है। सभी शब्दों के विपरीत शब्द हो सकते हैं। ओम के विपरीत शब्द बताइएगा? जीवन है तो मृत्यु है, अंधेरा है तो प्रकाश है, अद्वैत है तो द्वैत है, और मोक्ष है तो संसार है। लेकिन ओम के विपरीत शब्द कभी सुना? अगर अर्थ हो तो विपरीत शब्द निर्मित हो जाएगा। लेकिन ओम में कोई अर्थ ही नहीं। यही उसकी महत्ता है। अजीब लगेगा, क्योंकि हमारा मन होता है, खूब-खूब अर्थ बताया जाए। ओम में तो जरा भी अर्थ नहीं है। जस्ट ए साउंड, सिर्फ ध्वनि। लेकिन बड़ी अर्थपूर्ण। अर्थपूर्ण, अर्थ बिल्कुल नहीं। अर्थपूर्ण, सिग्नीफिकेंट।
ओम प्रतीक है सिर्फ उस सब का, जो नहीं कहा जा सकता। हम सब कुछ कह सकते हैं, सिर्फ परमात्मा को नहीं कह सकते। और जब भी हम कहते हैं, तभी कठिनाई शुरू हो जाती है। अगर आस्तिकों ने ईश्वर न कहा होता, तो इस जमीन पर नास्तिक पैदा न होते। आपको पता है, नास्तिक आस्तिक के पहले कभी पैदा नहीं हो सकता। अगर आस्तिक न हो तो नास्तिक पैदा नहीं हो सकता। क्योंकि नास्तिक तो सिर्फ एक रिएक्शन है, सिर्फ एक प्रतिक्रिया है। सिर्फ आस्तिक का विरोध है।
तो अगर दुनिया से नास्तिक मिटाने हों तो आस्तिक को कुछ बदलाहट स्वयं में करनी पड़ेगी, नहीं तो नास्तिक नहीं मिट सकते। असल में सच्चा आस्तिक, आस्तिक होने का दावा भी नहीं करता, क्योंकि उस दावे से नास्तिक पैदा होते हैं।
बुद्ध ऐसे ही आस्तिक हैं जो आस्तिक होने का दावा नहीं करते। महावीर ऐसे ही आस्तिक हैं जो आस्तिक होने का दावा नहीं करते। जो परम आस्तिक है वह इतना भी न कहेगा कि ईश्वर है, क्योंकि इतना कहने से किसी को भी हम मौका देते हैं कि वह कह सके कि ईश्वर नहीं है। फिर जिम्मेवारी किसकी है? जैसे ही हम किसी चीज को कहते हैं, है, तो हम नहीं को निमंत्रण देते हैं। परम आस्तिक तो, अगर कोई कहेगा, ईश्वर नहीं है, तो उसमें भी हां भर देगा। उसमें भी विवाद खड़ा नहीं करेगा।
सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन को जीवन के आखिरी दिनों में वृद्ध
और अनुभवी जानकर गांव के लोगों ने न्यायाधीश बना दिया, गांव का काजी बना दिया। पहले ही दिन, जिसने अपराध किया था, नसरुद्दीन ने उससे सवाल पूछा। जो भी उसने कहा, नसरुद्दीन ने शांति से सुना। फिर बहुत आनंदित होकर कहा, राइट, परफेक्टली राइट। ठीक, बिल्कुल ठीक।
अदालत का मुंशी थोड़ा घबड़ाया। वकील थोड़े चिंतित हुए। अभी दूसरा पक्ष
तो सुना ही नहीं गया! लेकिन न्यायाधीश को बीच में टोकना उचित भी न था। नसरुद्दीन ने दूसरे पक्ष को बोलने के लिए कहा। सुना शांति से। जब पूरी बात हो गई तो कहा, ठीक, बिल्कुल ठीक। राइट, परफेक्टली राइट।
तब तो वकील और मुश्किल में पड़े। मुंशी ने पास सरककर नसरुद्दीन के कान में कहा कि शायद मुल्ला आपको पता नहीं। यह आप क्या कर रहे हैं? अगर दोनों

ही बिल्कुल ठीक हैं, तो फिर ठीक कौन! नसरुद्दीन ने मुंशी से कहा, राइट, परफेक्टली राइट। तुम भी ठीक, बिल्कुल ठीक।
नसरुद्दीन उठ गया। उसने कहा कि अदालत अपने काम की नहीं, क्योंकि हम कोई ऐसी बात न कहेंगे जिसका कोई विरोध कर सके। हम कोई ऐसी बात ही न कहेंगे जिसका कोई विरोध कर सके। अदालत अपने काम की नहीं।
आस्तिक इतना भी नहीं कहेगा कि नास्तिक गलत। आस्तिक यह तो कहेगा ही नहीं कि ईश्वर है और मैं सही, क्योंकि यह गलत कहे जाने के लिए निमंत्रण है। और जितने जोर से लोग ईश्वर को सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, उतने ही जोर से ईश्वर को असिद्ध करने की कोशिश की जाती है।
ओम अर्थहीन है। यहां कुछ कहा नहीं गया है। ओम का अर्थ ईश्वर भी नहीं है। इस ओम में कोई अर्थ ही नहीं है। यह उसके लिए प्रतीक शब्द है जिसको कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि जिसको भी हम कहें, उसे बांटना पड़ता है टुकड़ों में। लेकिन कुछ है अस्तित्व, जो बंटता नहीं, जो अनबंटा है, अनडिवाइडेड। वह जो अनडिवाइडेड एक्झिस्टेंस है, वह जो अस्तित्व है अनबंटा, एक वही है। उसके लिए ही कहा है ओम। इससे ही शुरू होती है प्रार्थना ऋषि की। ईश्वर से भी नहीं की जा रही है यह प्रार्थना। यह तो अस्तित्व से की जा रही है।
ध्यान रहे, जब आप ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, तब आप बड़े फर्क करते हैं।
एक सज्जन ने अभी-अभी मुझे पत्र लिखा है। वह पत्र बहुत मजेदार है। उन्होंने मुझे लिखा कि आप में जो-जो ईश्वरीय अंश है, उसको मैं नमस्कार करता हूं। उन्होंने सोचा कि कहीं पूरे आदमी को नमस्कार करें और उसमें कहीं कोई गैर-ईश्वरीय अंश हो तो अपनी नमस्कार... !
लेकिन ऋषि जब कहता है ओम, तो सामने पड़ा हुआ पत्थर भी ओम का हिस्सा है। आकाश में फैले हुए तारे भी ओम के हिस्से हैं। ओम शब्द सर्वग्रासी है, सभी को अपने में लिए हुए है। तो ये प्रणाम में कोई च्वाइस नहीं है, ओम की तरफ जो निवेदन है, इसमें कोई चुनाव नहीं है कि किसे। समस्त अस्तित्व को, जो भी है, उस सबको।
और शांति पाठ भी अगर चुनाव करता हो, तो अशांति पाठ बन जाएगा। लेकिन हम इतना ही चुनाव नहीं करते कि जितने ईश्वर अंश हों, उसको। हम तो और भी चुनाव करते हैं। हम कहते हैं, कौन सा ईश्वर? हिंदुओं का? फिर भी मैंने सोचा कि जिस आदमी ने पत्र लिखा है, काफी व्यापक हृदय वाला होगा। उसने यह तो नहीं लिखा कि आपके भीतर जितना हिंदू ईश्वरीय अंश है या जितना मुसलमानी ईश्वरीय अंश है! फिर भी काफी व्यापक! हम तो उसमें भी चुनाव करते हैं। धीरे-धीरे हमारे हाथ में जो बचता है वह हम ही हैं, और कुछ नहीं है।
सुना है मैंने कि एक आदमी का कुत्ता मर गया। उसे बहुत प्रेम था उससे। आदमी आदमी के बीच तो प्रेम बहुत मुश्किल हो गया है, इसलिए हमें कहीं और रास्ते खोजने पड़ते हैं। बड़ा आदमी था। उसने सोचा कि इस कुत्ते को ठीक मनुष्य जैसा सम्मान मिलना चाहिए। हालांकि उसे ख्याल ही न रहा कि आदमी तक को कुत्ते जितना सम्मान नहीं मिलता! पर ख्याल नहीं रहता, प्रेमी अंधे होते हैं।
वह गया। बड़ा कैथोलिक चर्च था गांव में। जाकर उसने पुरोहित को कहा कि मेरा कुत्ता मर गया है और मैं ठीक आदमी जैसा सम्मान उसे देना चाहता हूं। उस पुरोहित ने कहा, तुम पागल हो गए हो। कुत्ता! और आदमी जैसा सम्मान! मैं कुत्तों का पुरोहित नहीं हूं। भागो यहां से। लेकिन हां, मैं तुम्हें एक सलाह देता हूं कि यहां से नीचे हटकर जो प्रोटेस्टेंट चर्च है--यह कैथोलिक चर्च था--तुम वहां चले जाओ। शायद वह पुरोहित राजी हो जाए, क्योंकि आदमी तो वहां कम ही जाते हैं। और फिर प्रोटेस्टेंट है, हो सकता है। जाओ।
मजबूरी में था आदमी, बेचारा वहां गया। उसने कहा, तुमने समझा क्या है? तुम हमारा अपमान करने आए हो? कुत्ते को! नहीं, यह नहीं हो सकता। लेकिन पास में ही एक मस्जिद है, तुम वहां चले जाओ। और उसका जो, मस्जिद का जो मौलवी है, मुल्ला नसरुद्दीन, वह आदमी कुछ तिरछा है, उसके बाबत प्रेडिक्शन नहीं किया जा सकता। वह शायद राजी हो जाए।

वह गया। उसने नसरुद्दीन को कहा। नसरुद्दीन ने सारी बात सुनी। बहुत नाराज हुआ नसरुद्दीन। उसने कहा, तुमने समझा क्या है? हम आदमी को भी चुनाव करके और सम्मान देते हैं, तुम कुत्ते को लाए हो? बाहर निकल जाओ!
सोचा उस आदमी ने कि शायद वह आगे किसी मंदिर या किसी की सलाह देगा। लेकिन उसने कोई सलाह न दी, तो उसने कहा कि ठीक है, जाता हूं। कहीं और तो सलाह नहीं देते? उसने कहा, नहीं, मैं कोई सलाह नहीं देता। तो उस आदमी ने कहा कि जाते वक्त इतना मैं बता दूं कि मैंने सोचा था कि पचास हजार रुपया उस पुरोहित के मंदिर को दान कर दूंगा, जो मेरे कुत्ते को आदमी के जैसा सम्मान देकर दफना दे।
नसरुद्दीन ने कहा, ठहरो एक मिनट, क्या कुत्ता मुसलमान था, तो फिर हम विचार करें। उस आदमी ने कहा कि नहीं, कुत्ता मुसलमान नहीं था। वह जाने लगा। नसरुद्दीन ने कहा, ठहरो, एक क्षण और ठहरो। क्या कुत्ता धार्मिक था? उस आदमी ने कहा, पूछने का कोई मौका नहीं आया। तो नसरुद्दीन ने कहा, आखिरी बार, एक मिनट और ठहरो। क्या कुत्ता, कुत्ता था? तो फिर हम तैयार हैं। मुल्ला की बात ठीक ही है। अविभाजित अस्तित्व के लिए हमारे मन में कोई भाव ही नहीं है। विभाजित, और विभाजित, और विभाजित। ओम है अविभाज्य अस्तित्व।
तो ऋषि कहता है, ओम मेरी वाणी मन में स्थिर हो। मेरी वाणी मन में स्थिर हो। मेरा मन मेरी वाणी में स्थिर हो जाए।
हमारा रोग, हमारी अशांति, हमारे शब्द, हमारे विचार, हमारी वाणी, हमारे जीवन का तनाव निन्यानबे प्रतिशत हमारी वाणी से बंधा हुआ है।
अमरीका का एक प्रेसिडेंट था, कूलरिज। इतना कम बोलता था कि कहा जाता है
कि दुनिया में किसी राजनीतिज्ञ को इतनी कम गालियां नहीं मिलीं, जितनी कूलरिज को मिलीं, कम। क्योंकि गाली देने का भी उपाय नहीं था उसको। उसका खंडन भी नहीं हो सकता था।
जब वह पहली दफा प्रेसिडेंट हुआ तो पत्रकारों के एक सम्मेलन में एक पत्रकार ने पूछा कि क्या आप अपनी भविष्य की योजना के संबंध में बताएंगे? उसने कहा, नहीं। पूछा कि इस मसले के संबंध में आपका क्या उत्तर है? उसने कहा, मेरा कोई उत्तर नहीं है। पूछा कि आप किस राजनीतिज्ञ विचार से सर्वाधिक प्रभावित हैं? उसने कहा, नहीं, उत्तर नहीं दूंगा। और बातें पूछीं, नहीं के सिवाय उसने कोई उत्तर न दिया। और जब सब जाने लगे, तो उसने कहा, ठहरना, डोंट टेक दिस ऑन रिकार्ड, यह जो कुछ मैंने कहा है, इसको रिकार्ड पर मत लेना। और कहा तो उसने कुछ है ही नहीं। रिकार्ड पर मत लेना! एंड डोंट रिपोर्ट इट। ह्वाट सो एवर आई हैव सेड, डोंट रिपोर्ट इट। जो भी मैंने कहा है, अखबार में मत निकालना। और रिकार्ड पर नहीं। दिस वा.ज आल अनआफिशियल। यह जो मैंने कहा, वह सब गैर-आधिकारिक ढंग से कहा है। मित्रों की तरह बातचीत की है, कुछ कहा नहीं है। और कहा उसने कुछ था नहीं।
मरते वक्त किसी ने कूलरिज से पूछा कि तुम इतना कम क्यों बोलते हो? तो उसने कहा कि बोला तब, तभी मैं फंसा। और फिर मैंने देखा कि नहीं बोलने से कोई मुसीबत कभी नहीं आती।
एक बहुत बड़े जलसे में निमंत्रित था। नगर की सर्वाधिक, राजधानी की सर्वाधिक सुंदरी और धनी महिला उसके बगल में, पड़ोस में थी। उस महिला ने कहा कि प्रेसिडेंट कूलरिज, मैंने एक शर्त लगाई है कि आज घंटेभर आप यहां रहेंगे तो मैं कम से कम तीन शब्द आपसे बुलवाकर रहूंगी। कूलरिज ने कहा, यू लूज। दो ही शब्द बोले उसने। उसने कहा, तुम हारी। फिर नहीं बोला घंटेभर। फिर बोला ही नहीं। फिर वह सिर्फ हाथ हिलाता रहा।
ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में स्थिर हो जाए।
पहले वह कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में स्थिर हो जाए। कभी आपने सोचा,
आप बहुत सी बातें कहते हैं, जो आप कहना ही नहीं चाहते थे। यह बड़ी अजीब बात है। जो आपने कभी नहीं कहनी चाही थीं, वे भी आप कहते हैं, आप खुद ही कहते हैं। और पीछे यह भी कहते सुने जाते हैं कि मैं इन्हें कहना नहीं चाहता था, इनस्पाइट आफ मी, मेरे बावजूद ऐसा हो गया। यह वाणी आपकी है! आप बोलते हैं वाणी से कि कुछ और चलता है!

सौ में निन्यानबे मौकों पर दूसरे लोग आपसे बुलवा लेते हैं, आप बोलते नहीं। पत्नी भलीभांति जानती है कि वह आज घर पति से कौन सा प्रश्न पूछे तो कौन सा उत्तर निकलेगा। पति भी भलीभांति जानता है कि वह क्या कहे कि पत्नी क्या बोलेगी। सब आटोमेटा, यंत्रवत चलते हैं।
हमारे मन--मन का अर्थ है, हमारे मनन की, चिंतन की क्षमता--का भी हमारी वाणी से कोई संबंध नहीं है, वाणी हमारी यांत्रिक हो गई है। हम बोले चले जाते हैं, जैसे यंत्र बोल रहा हो। एक शब्द भी शायद ही आपने बोला हो जो मन से एक हो। कई बार तो ऐसा ही होता है कि मन में ठीक विपरीत चलता होता है और वाणी में ठीक विपरीत होता है। किसी से आप कह रहे होते हैं कि मुझे बहुत प्रेम है आपसे, और भीतर उसी आदमी की जेब काटने का विचार कर रहे हैं या गर्दन काटने का। जेब काटना मैंने कहा कि बहुत अतिशयोक्ति न हो जाए। मन में घृणा चल रही होती है, क्रोध चल रहा होता है और आप प्रेम की बात भी चलाते रहते हैं। आप मित्रता की बातें भी चलाते रहते हैं और भीतर शत्रुता चलती रहती है। तो ऐसा आदमी अपने को कभी न जान पाएगा। ऐसा आदमी दूसरों को धोखा नहीं दे रहा है, अंततः अपने को धोखा दे रहा है।
मुल्ला नसरुद्दीन एक रास्ते से गुजर रहा था। बहुत सर्द थी रात, बर्फ पड़ती थी। कपड़े कम थे, वह गिर पड़ा सर्दी के कारण। उठ न सका, बर्फ में ठंडा होने लगा। तो उसने सोचा कि लगता है, मैं मर जाऊंगा। एक बार उसने अपनी पत्नी से पूछा था कि मरते वक्त क्या होता है? तो उसने कहा था कि सब हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, और क्या होता है। देखा हाथ-पैर ठंडे हो रहे हैं, तो उसने सोचा कि मैं मर रहा हूं। चार लोग पीछे से आए, तब तक वह सोच चुका था कि मैं मर चुका हूं, क्योंकि हाथ-पैर उसने देखे बिल्कुल ठंडे हो चुके थे।
उन चार आदमियों ने उसे कंधे पर उठाया, सोचा कि पास के किसी मरघट में पहुंचा दें। लेकिन अजनबी थे, और उन्हें गांव का रास्ता पता न था, तो चौराहे पर आकर खड़े हो गए। रात गहरी होने लगी, बर्फ ज्यादा पड़ने लगी। सोचने लगे कि चौराहे पर से किस तरफ चलें, जहां गांव हो तो इसको कहीं गांव में पहुंचा दें। दफना दिया जाए।
जब बड़ी देर हो गई। मुल्ला मन में सोचता रहा। उसे रास्ता मालूम था। पर उसने सोचा कि मरे हुए आदमियों का बोलना पता नहीं नियम युक्त है या नहीं, क्योंकि पत्नी से पूछा नहीं कि मरा हुआ आदमी बोलता है कि नहीं बोलता है। जब बहुत देर हो गई, उसने सोचा, अब नियम युक्त हो या न हो, कहीं ऐसा न हो कि ये भी ठंडे होकर मर जाएं। तो उसने कहा, भाइयो, इफ यू डोंट माइंड, अगर आप नाराज न हों और एक मरे हुए आदमी की बात सुनने में कोई नियम का उल्लंघन न समझें, तो मैं आपको रास्ता बता सकता हूं कि जब मैं जिंदा था तो यह बाएं तरफ का रास्ता मेरे गांव को जाता था।
उन आदमियों ने कहा, तू कैसा आदमी है! तू पूरी तरह जिंदा है, बोल रहा है,
तो भी आंख बंद करके हाथ-पैर अकड़ाकर क्यों पड़ा था? उसने कहा, यह तो मुझे भी मालूम हो रहा था कि व्याख्या तो यही की थी मेरी पत्नी ने कि हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, जब आदमी मर जाता है। हाथ-पैर जरूर ठंडे हो गए, लेकिन मुझे पता भी चल रहा है, तो किसी न किसी तरह मुझे होना चाहिए। तो उन्होंने कहा कि जब तुझे यह पता चल रहा था तो तूने अपने से क्यों न कहा कि मैं जिंदा हूं और उठकर खड़ा हो जाता।
मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, उसका कारण है। आई एम सच ए लायर, मैं ऐसा झूठ बोलने वाला हूं कि मैं खुद ही विश्वास नहीं कर सकता अपनी बात पर। अगर मैं अपने से कहूं कि मैं जिंदा हूं तो मुझे दो गवाह चाहिए। आई एम सच ए लायर, ऐसा झूठ बोलने वाला आदमी हूं मैं कि मुझे कभी पक्का नहीं आता कि जो मैं बोल रहा हूं वह सच है या झूठ।
जो हम चारों तरफ बोलते रहते हैं, वह धीरे-धीरे हमारा व्यक्तित्व बन जाता है। आपको भी बिना गवाह के पक्का नहीं हो सकता कि आप जो बोल रहे हैं वह सही है या झूठ।
ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में स्थिर हो जाए, मेरी वाणी मेरे मन
के अनुकूल हो जाए, मेरे मन से अन्यथा मेरी वाणी में कुछ न बचे। जो मेरे मन में हो, वही मेरी वाणी में हो। मेरी वाणी मेरी अभिव्यक्ति बन जाए। मैं जैसा हूं, भला और बुरा। मैं जो भी हूं, वही मेरी वाणी से प्रकट हो। मेरी

तस्वीर मेरी ही तस्वीर हो, किसी और की नहीं। मेरा चेहरा मेरा ही चेहरा हो, किसी और का नहीं। मैं आथेंटिक, प्रामाणिक हो जाऊं। मेरे शब्द मेरे मन के प्रतीक बन जाएं।
बहुत कठिन बात है। अपने को छिपाना हमारी जीवनभर कोशिश है, प्रकट करना नहीं। और जब हम बोलते हैं तो जरूरी नहीं कि कुछ बताने को बोलते हों। बहुत बार तो हम कुछ छिपाने को बोलते हैं, क्योंकि चुप रहने में कई बातें प्रकट हो जाती हैं। अगर आप किसी के पास बैठे हैं और आपको उस पर क्रोध आ रहा है, अगर आप चुप बैठे रहें तो प्रकट हो जाएगा। अगर आप पूछने लगें, मौसम कैसा है? तो वह आदमी आपकी बातचीत में लग जाएगा और आप भीतर सरक जाएंगे। अगर आप चुपचाप बैठे हैं, तो आपकी असली शकल ज्यादा देर छिपी नहीं रह सकती।
अगर आप बातचीत कर रहे हैं, तो आप धोखा दे सकते हैं। बातचीत एक बड़ा पर्दा बन जाती है। और जब हम बातचीत में कुशल हो जाते हैं, जब हम दूसरे को धोखा देने में कुशल हो जाते हैं, तो अंततः हम अपने को धोखा देने में सफल हो जाते हैं।
ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में ठहर जाए।
मैं जो हूं, वही मेरी वाणी में हो, अन्यथा नहीं। कठिन होगी साधना।
इसीलिए तो प्रार्थना करता है; क्योंकि वह भी जानता है, यह साधना कठिन है।
परमात्मा साथ दे तो शायद हो जाए। अस्तित्व साथ दे तो शायद हो जाए। समस्त शक्तियां अगर साथ दें तो शायद हो जाए। अन्यथा कठिन है।
फिर दूसरी बात कहता है कि... मेरी वाणी मेरे मन में ठहर जाए; दूसरी बात कहता है, मेरा मन मेरी वाणी में ठहर जाए।
यह और भी कठिन है। मन का वाणी में ठहरने का अर्थ यह है कि जब मैं बोलूं, तभी मेरे भीतर मन हो! और जब मैं न बोलूं तो मन भी न रह जाए। ठीक भी यही है। जब आप चलते हैं तभी आपके पास पैर होते हैं। आप कहेंगे, नहीं, जब नहीं चलते हैं तब भी पैर होते हैं। लेकिन उनको पैर कहना सिर्फ कामचलाऊ है। पैर तो वही है जो चलता है। आंख तो वही है जो देखती है। कान तो वही है जो सुनता है। तो जब हम कहते हैं अंधी आंख, तो हम बड़ा गलत शब्द कहते हैं, क्योंकि अंधी आंख का कोई मतलब ही नहीं होता। अंधे का मतलब होता है, आंख नहीं। आंख का मतलब होता है आंख, अंधे का मतलब होता है आंख नहीं। लेकिन जब आप आंख बंद किए होते हैं तब भी--आप आंख का उपयोग अगर न कर रहे हों तो--आप बिल्कुल अंधे होते हैं। आंख का जब उपयोग होता है तभी आंख आंख है। फंक्शनल हैं, सब नाम फंक्शनल हैं, उनकी क्रियाओं से जुड़े हुए हैं।
एक पंखा रखा हुआ है, तब भी हम उसे पंखा कहते हैं। कहना नहीं चाहिए। पंखा हमें उसे तभी कहना चाहिए जब वह हवा करता हो। नहीं तो पंखा नहीं कहना चाहिए। तब वह सिर्फ बीज रूप से पंखा है। उसका मतलब यह है पंखा कहने का कि हम चाहें तो उससे हवा कर सकते हैं। बस इतना ही। लेकिन अगर आप एक पुट्ठे की दस्ती उठाकर हवा करने लगें तो दस्ती पंखा हो जाती है। अगर आप एक किताब से हवा करने लगें तो किताब पंखा हो जाती है। और अगर मैं किताब फेंककर आपके सिर में मार दूं तो किताब पत्थर हो जाती है। सब चीजों का नाम फंक्शनल है। लेकिन अगर हम इस तरह नाम चलाएं तो बहुत मुश्किल हो जाए। इसलिए हम फिक्स्ड, स्थिर नाम रख लेते हैं।
जब वाणी के लिए जरूरत हो बोलने की, तभी मन को होना चाहिए, बाकी समय नहीं होना चाहिए। पर हम तो ऐसे हैं कि कुर्सी पर बैठे रहते हैं तो टांगें हिलाते रहते हैं। कोई पूछे कि क्या कर रहे हैं आप, तो रुक जाते हैं। क्या करते थे आप? बैठे-बैठे चलने की कोशिश कर रहे थे या टांगें आपकी पागल हो गई हैं? ठीक ऐसे ही हम बोलते रहते हैं। ठीक ऐसे ही, बाहर कोई जरूरत नहीं रहती है वाणी की तो वाणी भीतर चलती रहती है। बाहर नहीं बोलते तो भीतर बोलते हैं। दूसरे से नहीं बोलते, तो अपने से बोलते रहते हैं।
ऋषि कहता है, मेरा मन भी वाणी में स्थिर हो जाए।
यह पहली बात से ज्यादा कठिन बात है। इसका अर्थ है, जब मैं बोलूं तभी मन हो, जब मैं न बोलूं तो मन भी न हो जाए, मन भी न हो। जैसे, जब बैठूं तो पैर न चलें, जब सोऊं तब शरीर खड़ा न हो, ऐसे ही जब चुप हो जाऊं तो मन भी शांत और शून्य हो जाए।

पहले से शुरू करना पड़ेगा। जिसने पहला नहीं किया, वह दूसरा न कर पाएगा। पहले तो वाणी को मन में ठहराना पड़े। उतना ही रह जाने दें वाणी को जितना मन के, स्वभाव के अनुकूल है, बाकी हट जाने दें। बाकी सब झूठ गिर जाने दें। बहुत कम बचेगी वाणी। अगर आप मन में वाणी को थिर करें तो नब्बे प्रतिशत वाणी विलीन हो जाएगी, विदा हो जाएगी। नब्बे प्रतिशत तो व्यर्थ है। और उस व्यर्थ से कितना उपद्रव पैदा होता है और जीवन कैसा उलझता चला जाता है, उसका हिसाब लगाना कठिन है। दस प्रतिशत बचेगी, टेलीग्रैफिक बच जाएगी। आदमी चिट्ठी लिखता है तो लंबी लिखता चला जाता है। वही आदमी टेलीग्राम करने जाता है तो दस शब्दों में लिख देता है, अब आठ में ही लिखने लगा वह। और आठ में उतना कह देता है जितना पूरे पत्र में नहीं कह पाता। इसलिए टेलीग्राम का प्रभाव होता है, वह पत्र का नहीं होता। असल में लंबा पत्र वही लिखता है जिसे पत्र लिखना नहीं आता। असल में लंबी बात वही कहता है जिसे कहना नहीं आता।
लिंकन से कोई पूछ रहा था कि जब आप घंटाभर व्याख्यान देते हैं तो आपको कितना सोचना पड़ता है? तो लिंकन ने कहा, बिल्कुल नहीं। जब घंटाभर ही बोलना है तो सोचने की जरूरत क्या! उसने पूछा, जब आपको दस मिनट बोलना पड़ता है? तो लिंकन ने कहा, काफी मेहनत उठानी पड़ती है, सोचना पड़ता है। और जब दो ही मिनट बोलना होता है, तब तो मैं रातभर सो नहीं पाता। क्योंकि उस कचरे को हटाना पड़ता है, हीरे को छांटना पड़ता है।
जब वाणी मन में ठहरती है तो टेलीग्रैफिक हो जाती है, तो वह संक्षिप्त
हो जाती है। ये उपनिषद ऐसे ही लोगों ने लिखे हैं। इसलिए बड़े छोटे में हो जाते हैं। संक्षिप्त हो जाता है सब। सारभूत रह जाता है--निचोड़। जो भी अनावश्यक है, वह हट जाता है। यह पहले करना जरूरी है, अगर दूसरी बात करनी हो। पहले वाणी काटनी पड़ेगी व्यर्थ। जब सार्थक वाणी रह जाएगी तो व्यर्थ मन के रहने की कोई जरूरत नहीं। जब जरूरत होगी, तब आप बोल देंगे।
फिर आप सोचते क्यों हैं? इतना सोचते क्यों हैं? सोचते इसीलिए हैं कि आपको भरोसा नहीं है कि आपकी वाणी और आपके मन के बीच में कोई मेल है। इसलिए पहले से तैयारी करते हैं कि क्या बोलूं, क्या न बोलूं। सब सोचते हैं। छोटी-छोटी बात आदमी सोचकर जाता है। अगर वह दफ्तर में जा रहा है और उसे अपने अधिकारी से छुट्टी लेनी है, तो भी वह दस दफे रिहर्सल कर लेता है मन में कि क्या कहूंगा। फिर वह क्या कहेगा, फिर मैं क्या जवाब दूंगा। वह सब सोचकर जाता है। अपने पर इतना भी भरोसा नहीं है कि वह क्या कहेगा तो उसका मैं जवाब दे सकूंगा। और जब वही जवाब न दे सकेंगे तो आप ही तो रिहर्सल कर रहे हैं। बड़े मजे की बात यह है। आप ही रिहर्सल कर रहे हैं। और खतरा यह है... ।
सुना है मैंने कि एक नाटक का रिहर्सल चल रहा है। वह जो नाटक का आयोजन करने वाला है, वह बड़ा परेशान है। रिहर्सल में कभी एक मौजूद नहीं रहता अभिनेता, तो कभी अभिनेत्री नहीं आती, कभी संगीतज्ञ नहीं आता। कभी यह नहीं आता, कभी वह नहीं आता। वह रिहर्सल... सिर्फ एक व्यक्ति पर्दा उठाने वाला, नियमित आया, बाकी कोई भी नियमित नहीं आया। आखिरी ग्रैंड रिहर्सल। तो उसने कहा, आज मुझसे कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस पर्दा उठाने वाले का मैं धन्यवाद करूं। क्योंकि आप सब में से कोई भी ऐसा नहीं है जो चूका न हो, सिर्फ यह एक आदमी है।
तो उसने कहा, क्षमा करें धन्यवाद देने के पहले। मुझे आना मजबूरी थी, क्योंकि आज जब नाटक होगा तो मैं न आ पाऊंगा। इसलिए मैंने कहा, कम से कम जितना मैं कर सकता हूं, उतना तो करूं। आज मैं न आ पाऊंगा, जब नाटक आज होने वाला है। तो मैंने कहा कि आज तो मैं आ ही नहीं पाऊंगा, वह तो पक्का ही है, तो कम से कम रिहर्सल में तो मौजूद मैं रह ही जाऊं, ताकि कहने को बात न रहे।
तो वह जो रिहर्सल आप कर रहे हैं न जिस आदमी पर भरोसा करके, ध्यान रखना
कि ठीक नाटक के वक्त वह गड़बड़ हो जाएंगे। वहां वह न पाए जाएंगे। क्योंकि अगर वह वहां पाए जा सकते तो रिहर्सल की कोई जरूरत न थी। और जब मुझे ही कुछ कहना है तो तैयारी का क्या सवाल है। जब मैं ही तैयारी करने वाला, मैं ही कहने वाला, तो ठीक है, मैं ही कह लूंगा। लेकिन तैयारी इसलिए कर रहा हूं कि भरोसा नहीं है।

मन और वाणी में कोई संयोग नहीं है। पता नहीं कि सोचूं कुछ, कहूं कुछ, निकल जाए कुछ। कुछ भी पक्का पता नहीं है। इसलिए ठीक सब तैयार कर लेना है और वाणी पर व्यवस्था बिठा लेनी है। क्योंकि कहीं शुद्ध मन, सही मन, बीच में प्रकट हो जाए वाणी के, तो सब अस्तव्यस्त हो जाएगा।
ऋषि कहता है, वाणी छंट जाए, उतनी ही रह जाए जितनी मेरे मन के साथ ताल-मेल है। सच-सच, आथेंटिक, प्रामाणिक। और फिर प्रभु, मेरा मन भी मेरी वाणी में थिर हो जाए। मैं तभी मन का उपयोग करूं, जब वाणी की जरूरत हो। मैं तूलिका तभी उठाऊं, जब चित्र बनाना हो। और मैं वीणा का तार तभी छेडूं, जब गीत गाना हो। मैं मन का काम तभी करूं, जब कुछ प्रकट करना हो।
मन अभिव्यक्ति का माध्यम है, जस्ट ए मीडियम आफ एक्सप्रेशन। तो जब आप बोल नहीं रहे, प्रकट नहीं कर रहे, तब मन की कोई भी जरूरत नहीं है। लेकिन हमारी आदत! बैठे हैं, सोए हैं, मन चल रहा है। पागल मन है हमारे भीतर। महात्मा गांधी को जापान से किसी ने तीन बंदर की मूर्तियां भेजी थीं। गांधी जी उनका अर्थ जिंदगीभर नहीं समझ पाए। या जो समझे वह गलत था। और जिन्होंने भेजी थीं, उनसे भी पुछवाया उन्होंने अर्थ, उनको भी पता नहीं था।
आपने भी वह तीन बंदर की मूर्तियां देखीं चित्र में, मूर्तियां भी देखी होंगी। एक बंदर आंख पर हाथ लगाए बैठा है, एक कान पर हाथ लगाए बैठा है, एक मुंह पर हाथ लगाए बैठा है।
गांधी जी ने जो व्याख्या की, वह वही थी, जो गांधी जी कर सकते थे। उन्होंने व्याख्या की कि बुरी बात मत सुनो, तो यह बंदर जो कान पर हाथ लगाए बैठा है, यह बुरी बात मत सुनो। मुंह पर लगाए बैठा है, बुरी बात मत बोलो। आंख पर लगाए बैठा है, बुरी बात मत देखो।
लेकिन इससे गलत कोई व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि जो आदमी बुरी बात
मत देखो, ऐसा सोचकर आंख पर हाथ रखेगा, उसे पहले तो बुरी बात देखनी पड़ेगी। नहीं तो पता नहीं चलेगा कि यह बुरी बात हो रही है, मत देखो। तो देख ही ली तब तक आपने। और बुरी बात की एक खराबी है कि आंख अगर थोड़ी देख ले और फिर आंख बंद की तो भीतर दिखाई पड़ती है। वह बंदर बहुत मुश्किल में पड़ जाएगा। बुरी बात मत सुनो, सुन लोगे तभी पता चलेगा कि बुरी है। फिर कान बंद कर लेना, तो वह बाहर भी न जा सकेगी अब। अब वह भीतर घूमेगी।
नहीं, यह मतलब नहीं है। मतलब यह है, देखो ही मत, जब तक भीतर देखने की कोई जरूरत न आ जाए। सुनो ही मत, जब तक भीतर सुनना अनिवार्य न हो जाए। बोलो ही मत, जब तक भीतर बोलना अनिवार्य न हो। यह बाहर से संबंधित नहीं है। लेकिन गांधी जी जैसे लोग सारी चीजें बाहर से ही समझते हैं। यह भीतर से संबंधित है।
बुरी बात को अगर मुझे सुनने के लिए रुकना पड़े, यह तो बाहर वाले पर निर्भर है, वह कब बोल देगा। हो सकता है संगीत बजाना शुरू करे, फिर गाली दे दे। क्या करिएगा? और अक्सर गाली देना हो तो संगीत से शुरू करना सुविधापूर्ण होता है। बंद करते-करते तो बात पहुंच जाएगी। और यह तो बड़ी कमजोरी है कि बुरी बात सुनने से इतनी घबड़ाहट हो। अगर बुरी बात सुनने से आप बुरे हो जाते हैं, तो बिना सुने आप पक्के बुरे हैं। इस तरह बचाव न होगा। लेकिन यह मत सोचना कि यह बात बंदरों के लिए है। असल में वह जापान में परंपरागत बंदरों की मूर्ति बनाई जाती है, क्योंकि जापान में कहा जाता रहा है कि आदमी का मन बंदर है। और जो भी थोड़ा सा मन को समझते हैं, वे समझते हैं कि मन बंदर है। डार्विन तो बहुत बाद में समझा कि आदमी बंदर से ही पैदा हुआ है। लेकिन मन को समझने वाले सदा से ही जानते रहे हैं कि मन आदमी का बिल्कुल बंदर है।
आपने बंदर को उछलते-कूदते, बेचैन हालत में देखा है? आपका मन उससे ज्यादा बेचैन हालत में, उससे ज्यादा उछलता-कूदता है पूरे वक्त। अगर आपके मन का कोई इंतजाम हो सके और आपकी खोपड़ी में कुछ खिड़कियां बनाई जा सकें, और बाहर से लोग देखें तो बहुत हैरान हो जाएंगे कि यह भीतर आदमी क्या कर रहा है! हम तो देखते थे कि पद्मासन लगाए शांत बैठा है, भीतर तो यह बड़ी यात्राएं कर रहा है, बड़ी छलांगें मार रहा है--इस झाड़ से उस झाड़ पर। और यह भीतर चल रहा है। यह भीतर आदमी का मन बंदर है।

उन मूर्तियों का अर्थ आपके लिए उपयोगी होगा इस सात दिन के लिए। वह मत देखो जिसे देखने की कोई अनिवार्यता नहीं है। और कैसा हम अजीब काम कर रहे हैं। रास्ते पर चले जा रहे हैं, तो दंतमंजन का विज्ञापन है वह भी पढ़ रहे हैं, सिगरेट का विज्ञापन है वह भी पढ़ रहे हैं, साबुन का विज्ञापन है वह भी पढ़ रहे हैं। जैसे पढ़ाई-लिखाई आपकी इसीलिए हुई थी।
अमरीका का एक बहुत विचारशील व्यक्ति एक रास्ते से गुजर रहा है, चौराहे से। वह आदमी सोच-विचार की गहराइयों में जा सके... । चौराहे पर देखा उसने इतना प्रकाश और इतने प्रकाश से जले हुए विज्ञापन कि उसने कहा, हे परमात्मा, अगर मैं गैर पढ़ा-लिखा होता तो रंगों का मजा ले सकता। अगर गैर पढ़ा-लिखा होता तो रंगों का मजा ले सकता, इतना रंग-बिरंगापन, लेकिन पढ़ क्या गया, खोपड़ी पकी जा रही है। जलते हुए विज्ञापन और लक्स टायलेट सोप और पनामा सिगरेट सरस सिगरेट छे, सब पढ़े जा रहे हैं वह, खोपड़ी में कुछ भी कचरा डाला जा रहा है।
आप अपने मालिक नहीं इतने भी, अपनी आंख के भी कि कचरे को भीतर न जाने दें। अनिवार्य हो उसे देखें, तो आपकी आंख का जादू बढ़ जाएगा। देखने की दृष्टि बदल जाएगी। क्षमता और शक्ति आ जाएगी। अनिवार्य हो उसे सुनें, तो आप सुन पाएंगे।
सुना है मैंने फ्रायड के संबंध में। क्योंकि फ्रायड का जो मनोविश्लेषण है, उसमें तो मरीज घंटों बोलता है और मनोवैज्ञानिक को उसके पीछे बैठकर सुनना पड़ता है। फ्रायड बूढ़ा हो गया और एक जवान मनोवैज्ञानिक उसके पास शिक्षा पा रहा है। वह तीन घंटे में एक मरीज उसको हलाकान कर देता है--जवान मनोचिकित्सक को। और फ्रायड सुबह से लेकर रात, आधी रात तक सुनता रहता है दस-दस घंटे, लेकिन ताजा का ताजा बाहर निकलता है।
एक दिन दोनों रास्ते पर सीढ़ियों पर मिल गए, तो जवान शिष्य ने कहा कि मैं हैरान हूं। एक मरीज मुझे पस्त कर देता है। तीन घंटे पगलों को सुनना, खोपड़ी पक जाती है। और आप हैं कि सुबह से रात तक सुन लेते हैं और इस उम्र में, और जब देखो तब ताजे बाहर निकलते हैं। तो फ्रायड ने कहा, हू लिसेन्स? सुनता कौन है? वे बोलते हैं, हम अपना कान... सुनता कौन है! नहीं तो थक ही जाओगे। तो उसने कहा, आप कह क्या रहे हैं! अगर सुनते नहीं तो उससे बकवास करवाते क्यों हैं? उसको बकवास करने से राहत मिल जाएगी। निकाल लेगा कचरा दिमाग का।
क्योंकि अब तो आपको प्रोफेशनल सुनने वाले खोजने पड़ेंगे। ट्रेडीशनल सुनने वाले गए। न पत्नी सुनने को राजी है, न बेटा सुनने को राजी है, न पति सुनने को राजी है, न बाप सुनने को। कोई बकवास सुनने को राजी नहीं है। प्रोफेशनल! इसलिए सारे पश्चिम में, यूरोप में, अमरीका में प्रोफेशनल्स... यह मनोवैज्ञानिक जो है बेचारा, उसका कुल धंधा इतना है कि आपकी बकवास सुनता है, उसके पैसे लेता है। बकवास सुनाकर आपको राहत मिलती है। आप घर आ जाते हैं। आप समझते हैं चिकित्सा हो रही है। दो-तीन साल बकवास करके आप थक जाते हैं, शांत हो जाते हैं। बस, और कोई शांति नहीं मिलती। लेकिन तीन साल अगर कचरा निकालने का मौका मिले, और कोई आदमी सहानुभूति से सुने, इसकी बड़ी इच्छा रहती है। इसलिए तो हम एक-दूसरे को पकड़ते रहते हैं। मिला कोई कि हमने शुरू किया, अपने दुख रोने। जैसे दूसरे के दुख कुछ कम हैं।
अभी एक बुढ़िया ने मुझसे आकर कहा--वह राजस्थान की बुढ़िया है--उसने मुझे आकर कहा, आखा इंडिया में, बूढ़ी है सत्तर साल की, शब्द उसके, उसने कहा, आखा इंडिया में मुझसे ज्यादा दुखी कोई नहीं है। फिर उसने मेरी तरफ देखा। आखा इंडिया सुनकर मैं भी थोड़ा चौंका। तो उसने कहा कि अगर आप न मानें, तो कम से कम आखा राजस्थान में मुझसे अधिक दुखी कोई भी नहीं है।
हर आदमी यही सोच रहा है कि उससे अधिक दुखी कोई भी नहीं है। तो जो मिल जाए, उसे सुना देने की उत्सुकता है, तत्परता है। यह सुनना, यह बोलना, यह देखना--यह सब का सब शक्ति का अपव्यय है।
तो ऋषि कहता है, मेरी वाणी में मेरा मन थिर हो जाए। और हे स्वयं प्रकाश आत्मा, मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ।
हे स्वयं प्रकाश आत्मा मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। लेकिन तभी, जब मेरी वाणी शांत हो जाए, मेरा मन मौन हो जाए। क्योंकि उससे पहले अगर

परमात्मा आपके सामने प्रकट हो, तो आप पहचान न पाएंगे। और ध्यान रहे, परमात्मा चौबीस घंटे आपके सामने प्रकट है, लेकिन आप पहचान नहीं पाते हैं। वह तो पहचान आप तभी पाएंगे जब शांत, निर्मल दर्पण की तरह आप हो जाएंगे। जब मन मौन होगा और वाणी शून्य होगी, तब आप अचानक पाएंगे कि परमात्मा तो सदा से मौजूद था, मैं ही मौजूद नहीं था कि उसे देख पाऊं, पहचान पाऊं; देख पाऊं, अनुभव कर पाऊं। वह सब तरफ मौजूद था।
इसलिए ऋषि कहता है, जब ऐसा हो जाए तभी तुम प्रकट होना, क्योंकि तुम अगर अभी प्रकट भी हो जाओ तो मैं अभी नहीं हूं। उस प्रकट होने का कोई अर्थ न होगा। हम सब उलटे लोग हैं। इस ऋषि से जरा अपने को तौल लेना।
कल स्टेशन पर जब मुझे बंबई से मित्र विदा दे रहे थे। एक मित्र ने मेरे हाथ पकड़कर बहुत भाव से कहा कि हम तो बुरे हैं, हम तो बेचैन हैं, हम तो परेशान हैं, लेकिन परमात्मा खुद क्यों प्रकट नहीं हो जाता। उसको क्या तकलीफ हो रही है! माना कि हम बुरे हैं और हमसे कुछ नहीं हो सकता, लेकिन उसका क्या बिगड़ जाएगा, वह प्रकट हो जाए। हम जैसे हैं उसीके सामने प्रकट हो जाए। उन मित्र को समझाना मुश्किल पड़ेगा कि वह प्रकट है। यह सवाल नहीं है कि
वह प्रकट हो जाए। वह प्रकट है। लेकिन आप ऐसी बात कह रहे हैं कि एक अंधा आदमी या एक आदमी जो आंख बंद किए खड़ा है, वह कहता है कि मैं तो आंख बंद किए हुए हूं, वह तो ठीक है, लेकिन प्रकाश को क्या अड़चन हो रही है। प्रकाश तो प्रकट हो जाए। हम आंख बंद किए हैं, किए रहें। हमारी आंख बंद करने से प्रकाश को क्या लेना-देना है! यह प्रकाश जिद क्यों करता है कि तुम जब आंख खोलोगे तब मैं प्रकट होऊंगा!
प्रकाश की कोई जिद नहीं है, प्रकाश प्रकट है। जिद आपकी है कि आप आंख बंद किए हुए हैं। और प्रकाश आपको इतना स्वतंत्र किए हुए है कि आपकी आंख को जबरदस्ती नहीं खोलेगा। प्रकाश अनंत प्रतीक्षा कर सकता है।
परमात्मा तो प्रकट है, हम सब तरफ से बंद हैं। इसलिए ऋषि ने एकदम से नहीं कहा कि हे प्रभु, तू प्रकट हो जा। उसने पहले प्रार्थना की, मेरी वाणी, मेरा मन! और तब भी वह कह रहा है, हे स्वयं प्रकाशवान--वह परमात्मा तो प्रकाशवान है ही, वह तो स्वयं प्रकाश है ही--मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। उस क्षण में, उसी क्षण में प्रकट होने का कोई अर्थ है। लेकिन वह प्रकट होना भी हमारी तरफ से है, उसकी तरफ से नहीं। हमें तब भी जब कोई आंख खोलेगा तो उसे ऐसा ही लगेगा कि प्रकाश प्रकट हुआ। उसके लिए तो हुआ ही। प्रकाश था। सिर्फ आंख बंद थी।
ऋषि आगे कहता है, हे वाणी और मन!
थोड़ा सोचने जैसा है, बहुत प्रायोगिक है। परमात्मा से प्रार्थना की है, सत्ता से प्रार्थना की है कि मेरी वाणी को क्षीण कर दो, न्यून कर दो, कम कर दो और मन में थिर कर दो, और मेरे मन को मेरी वाणी में थिर कर दो। लेकिन वाणी और मन को भी कोई चोट न पहुंच जाए।
तो ऋषि कहता है, हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे ज्ञान का नाश न करो। मैं इस ज्ञान के अभ्यास में ही दिन-रात व्यतीत करता हूं।
मन और वाणी के प्रति भी वैमनस्य नहीं है, शत्रुता नहीं है, ऐसा भाव नहीं है कि वे दुश्मन हैं।
इस जगत में जिन्होंने सच में ही गहरी यात्राएं की हैं, उन्होंने उस सब
को भी, जो मार्ग में बाधा बनता है, अपनी सीढ़ी बना लिया है। यह हम पर निर्भर है। रास्ते से मैं गुजर रहा हूं, एक पत्थर पड़ा है। मैं छाती पीटकर चिल्लाता हूं, रोता हूं कि यह अवरोध है, हिंड्रेंस है। लेकिन जो जानता है, वह उस पत्थर पर पैर रखकर पार हो जाता है। और जब पत्थर पर पैर रखता है, तो जो उसे पत्थर के नीचे से कभी भी दिखाई नहीं पड़ा था, वह पत्थर के ऊपर चढ़कर दिखाई पड़ जाता है। तल बदलता है।
तो मन को गाली देने वाले साधु-संत बहुत ज्यादा मिलेंगे। लेकिन हे वाणी और मन! ऐसे आदर से वाणी और मन को भी संबोधन करने वाले ऋषि को खोजना थोड़ा कठिन पड़ेगा। गांव-गांव मिल जाएंगे वे लोग जो कहेंगे कि मन, यही शैतान, यही शत्रु!
लेकिन ऋषि कहता है, हे वाणी और मन!

संत फ्रांसिस जिस दिन मरा, तो लोग हैरान हुए कि उसने परमात्मा से प्रार्थना न की मरते वक्त। आंखें खोलीं आखिरी क्षण में। शिष्य सोचते थे, वह प्रभु की प्रार्थना करेगा। जिसने जीवनभर प्रार्थना में बिताया, उसने अंतिम क्षण में अपने शरीर से कहा, हे मेरे प्यारे शरीर, तूने मुझे पूरा साथ दिया। मैंने तेरी अनेक बार उपेक्षा भी की और अनेक बार तुझसे लड़ा भी, फिर भी तूने मेरा साथ न छोड़ा। नहीं जानता था, तब समझता था कि तू मेरा दुश्मन है, जब जाना तो पाया कि तू मेरा साथी है। तू मुझे शराबघर भी पहुंचा सकता है, मंदिर भी। और सदा निर्णय मैं लेता हूं कि कहां जाना है, तू सदा साथ हो जाता है। ऋषि कहता है, हे मेरी वाणी!
इस जगत में सभी कुछ परमात्मा का है। और जो ठीक उपयोग करना जानते हैं, राइट यूज, वे प्रत्येक चीज को साधन बना लेते हैं। तो मन और वाणी भी साधन बन सकते हैं।
तो ऋषि कहता है, हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो।
इधर एक बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है। मूल-सूत्र में शब्द उपयोग हुआ है वेद। हिंदी में भी अनुवाद किया है, तुम मेरे वेद-ज्ञान के आधार हो। लेकिन मैं दो में से एक ही कोई शब्द उपयोग कर सकता हूं। क्योंकि वेद का भी अर्थ ज्ञान होता है और ज्ञान का अर्थ भी वेद होता है। तो वेद-ज्ञान जैसा कोई अर्थ नहीं होता। वेद-ज्ञान पुनरुक्ति है, रिपिटीशन है। वेद-ज्ञान पुनरुक्ति है। वेद का अर्थ ज्ञान ही होता है और ज्ञान का अर्थ तो वेद है। वेद उसी से बनता है जिससे हमारा विद्वान बनता है, विद्। विद का अर्थ होता है जानना।
लेकिन शास्त्रों को जो लिखते हैं और अनुवाद करते हैं, उन्हें उस ज्ञान का बहुत कम पता होता है। उनका अर्थ वेद से होता है--वेद-संहिता, वह किताब, वह संगृहीत स्क्रिप्चर, शास्त्र। वेद का अर्थ शास्त्र से नहीं है। सब शास्त्र वेद से ही निकलते हैं, ज्ञान से ही निकलते हैं। हिंदुओं के वेद की बात नहीं कर रहा हूं। क्योंकि वेद किसका हो सकता है! ज्ञान किसका हो सकता है! सब ज्ञान वेद से निकलता है। लेकिन कोई शास्त्र वेद को सीमित नहीं कर पाते, ज्ञान को सीमित नहीं कर पाते।
तो मैं न कहूंगा, वेद-ज्ञान। ज्ञान काफी है। और वेद इसलिए नहीं कहता
कि वेद से तत्काल हमें ख्याल आता है उस संहिता का, उस संग्रह का, जिसे हम वेद कहते रहे हैं।
ऋषि कह रहा है, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो।
साधारण साधु-संन्यासी तो लोगों को समझाते हैं कि मन अज्ञान का आधार है। यह वेद का आधार, ज्ञान का आधार मन! निश्चित ही। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मन से जो ज्ञान मिलता है, उस पर जो रुक जाए, वह ज्ञानी है। मन सिर्फ एक जंपिंग बोर्ड, एक आधार है, जहां से छलांग लगानी पड़ती है अ-मन में। उसकी हम आगे बात करेंगे। नो-माइंड में। लेकिन जिसे अ-मन में जाना है, उसे भी मन को ही आधार बनाकर जाना पड़ता है।
यहां बड़ी भूलें होती हैं। भूलें ऐसी हो जाती हैं कि एक आदमी सीढ़ी चढ़ता
हो मकान की, तो हम उससे कहें कि तू सीढ़ी क्यों चढ़ रहा है, क्योंकि चढ़ जाने के बाद सीढ़ी छोड़नी पड़ेगी। और अगर आदमी तर्कवादी हो, बुद्धिवादी हो, अपने को इंटलेक्चुअल समझने की भूल में पड़ा हो, जैसा कि अधिक लोग पड़े होते हैं, तो वह राजी भी हो सकता है। वह कहेगा, ठीक है, जो सीढ़ी छोड़ ही देनी है उसे पकड़नी ही क्यों; उसे यहीं छोड़ दें। छोड़ दें, लेकिन आप नीचे ही रह जाएंगे। लेकिन तर्कवादी दूसरा रुख भी ले सकता है। तर्क हमेशा डबल एजड है, दोहरी धार है। तर्क दूसरा रूप भी ले सकता है। वह यह भी कह सकता है कि अच्छा, तो हम सीढ़ियां छोड़ेंगे ही नहीं। चढ़ेंगे जरूर, छोड़ेंगे नहीं। चढ़ जाए, छत आ जाए और वह कहे कि जिन सीढ़ियों पर इतनी मुश्किल से चढ़े हैं, अब उनको छोड़ देना उचित है क्या? और जिन सीढ़ियों ने इतना साथ दिया, उनको छोड़ देना उचित है क्या? अब हम न छोड़ेंगे, अब तो इन पर ही खड़े रह जाएंगे।
नहीं, जो जानता है वह सीढ़ियों पर चढ़ता भी है और सीढ़ियों को छोड़ता भी है। इस जगत में सभी साधन पकड़ने पड़ते हैं और छोड़ने पड़ते हैं। साधन का अर्थ ही है, जिसे किसी स्थिति में पकड़ना पड़ता है और फिर किसी स्थिति में छोड़ देना पड़ता है। ध्यान भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। प्रार्थना भी पकड़ेंगे और

छोड़ेंगे। परमात्मा भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। अंततः उस जगह पहुंच जाएंगे जहां कुछ छोड़ने को भी नहीं बचता और पकड़ने को भी नहीं बचता। वही निर्वाण है।
तो ऋषि कहता है, हे मन और वाणी! तुम मेरे ज्ञान के आधार हो।
जो अभी मैं जानता हूं, तुम्हारे द्वारा ही जानता हूं। अगर मैं यह भी जानता हूं कि अभी मैं नहीं जान पाया हूं, तो भी तुम्हारे ही द्वारा जानता हूं। अगर मुझे यह भी पता चल रहा है कि तुम्हारे द्वारा मैं सब कुछ न जान पाऊंगा, तो यह भी तुम्हारे द्वारा ही जानता हूं।
यहां बड़ी भूलें होती हैं, जैसे कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, वह इसी सूत्र
से संबंधित है। इसके विपरीत जो भूल हो जाती है, वही है। अगर कृष्णमूर्ति से पूछें कि ध्यान करें? तो वे कहेंगे, ध्यान! ध्यान किसलिए? तो आप कहेंगे, ताकि मन के पार चला जाऊं। कृष्णमूर्ति पूछेंगे, ध्यान करोगे किससे, मन से? मन से करोगे तो मन के पार कैसे जाओगे? तो मन और मजबूत हो जाएगा। तो ध्यान मत करना। अगर मन के पार जाना है तो ध्यान मत करना। और न मालूम कितने नासमझ यह सोचकर ध्यान नहीं करते कि मन के पार जाना है, ध्यान कैसे करें। और कभी भी यह नहीं सोचते कि न करने से मन के पार चले गए? न करने से पार गए नहीं, करेंगे तो पार जा न सकेंगे, तब बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाती है।
तो चालीस-चालीस साल से कृष्णमूर्ति को सुनने वाले लोग हैं। पता नहीं
अब वे क्या सुनते हैं, अब भी क्या सुनते हैं उनसे! वह वही कह रहे हैं चालीस साल से। इधर पचास सालों में एक ही बात को चालीस साल तक अगर कोई आदमी कह रहा है तो वे कृष्णमूर्ति हैं--एक ही बात को सतत। चालीस साल से लोग बैठकर उनको सुन रहे हैं और वे बूढ़े हो गए हैं बैठे-बैठे। ऐसे लोग हैं, जिनकी जगह बंधी हुई है उनकी सभा में कि वह वहीं खंभे के पास, तो खंभे के पास चालीस साल से बैठ रहा है वह आदमी।
मेरे एक मित्र ने कहा कि वह एक आदमी को देखते हैं, जो हरी टोपी लगाकर आता है। अस्सी साल का बूढ़ा है। दस साल से तो वही देख रहे हैं कि उसी जगह पर वह आकर बैठ जाता है। फिर वही सुनकर चला जाता है।
अगर मन के पार जाना है, तो कृष्णमूर्ति कहते हैं, मन से कैसे जाओगे? ध्यान किससे करोगे? मन से ही करोगे, तो मन के पार कैसे जाओगे? इसलिए ध्यान नहीं करना। मन के पार चले जाओ।
लेकिन वह सुनने वाला कभी नहीं पूछता कि कृष्णमूर्ति को किससे सुन रहा है, मन से? तो अगर मन से ही सुनना है, तो मन के पार कैसे जाओगे? सुनते रहो चालीस साल, वही बने रहोगे। सुनोगे तो मन से ही। सुनने का तो और कोई उपाय ही नहीं है। यह मन से ही सुनना पड़ेगा। फिर बड़ी हैरानी होती है कि अगर मन से सुनकर कोई पार जा सकता है, तो मन से गुनकर क्यों नहीं पार जा सकता! और अगर मन से शब्दों को लेकर पार जा सकता है, तो मन से फिर प्रयोगों को लेकर पार क्यों नहीं जा सकता!
कृष्णमूर्ति कहते हैं कि अगर ध्यान किया, तो मन की कंडीशनिंग हो जाएगी। लेकिन चालीस साल से एक आदमी बैठकर तुम्हारी ये बातें सुन रहा है, तो उसका मन कंडीशंड नहीं हो गया? यही बातें वह दोहराने लगा है।
सच यह है कि जब तक हम मन में खड़े हैं, तब तक मन के पार जाने के लिए भी मन
का ही उपयोग करना पड़ेगा। अगर मैं एक कमरे में हूं, माना कि जब कमरे में आया था तो चलकर कमरे में आया था, अब मैं सोच सकता हूं कि अगर मुझे कमरे के बाहर जाना है तो कमरे में कभी नहीं चलना चाहिए, क्योंकि चलकर मैं कमरे के भीतर आया था। लेकिन अगर कमरे के बाहर जाना हो तो थोड़ा तो कमरे में फिर से चलना पड़ेगा। उतना चलना पड़ेगा, जितना आप चलकर भीतर आए थे। कमरे में ही चलना पड़ेगा उतना। फर्क एक ही होगा कि चेहरा दूसरी तरफ होगा। जब आए थे तो दरवाजे की तरफ पीठ कर ली थी, दीवार की तरफ चेहरा था। अब जाते वक्त दरवाजे की तरफ चेहरा होगा, दीवार की तरफ पीठ होगी। चलना उतना ही पड़ेगा जितना चलकर भीतर आए थे।
मन के बाहर जाने के लिए भी मन का उतना ही उपयोग करना पड़ता है जितना मन
के भीतर आने के लिए किया था। जो मन के भीतर आने के लिए करता है उसके लिए मन अज्ञान का आधार बन जाता है, और जो मन के बाहर जाने के लिए उपयोग करता है उसके लिए मन ज्ञान का आधार बन जाता है।

इसलिए ऋषि कहता है, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो। इसलिए मेरे ज्ञान का नाश न करो।
यद्यपि जब भीतर आने का अभ्यास मजबूत होता है, तो मन कहता है, बाहर जाने
की क्या जरूरत? इसमें मन का कोई कसूर नहीं है। हमने ही उसका अभ्यास करवाया है--हमने ही। तो मन तो सिर्फ यांत्रिक हो जाता है।
हम ही रोज अपने मुंह में सिगरेट रखकर पीते रहे हैं। और बड़ी मुश्किल से अभ्यास करवाया, पहले दिन पीना शुरू किया था तो खांसी आ गई थी, तकलीफ हुई थी। तिक्त कड़वाहट फैल गई थी मुंह में, सिगरेट जहर मालूम पड़ी थी। मन को अभ्यास करवाते चले गए। फिर सिगरेट का अभ्यास मजबूत हो गया। अब हम कहते हैं, छोड़ना है, तो मन कहता है, नहीं। अब तो मजा आने लगा। और यह मजा हमने ही लाया है। यह मजा हमने ही लाया है। मन ने तो पहले ही दिन कहा था कि क्या कर रहे हो? यह क्या कर रहे हो? हमने सुना नहीं, पीए चले गए। अब मन फिर कहेगा कि यह क्या कर रहे हो? छोड़ रहे हो? अब तो रस आने लगा, अब मत छोड़ो।
तो मन बाधा डालेगा बाहर जाने में। इसलिए ऋषि उससे भी प्रार्थना करता
है कि मेरे ज्ञान का नाश न करो। यह भी प्रार्थना है मन से। यह बड़ी अदभुत है। कभी आपने की न होगी, पर करेंगे तो अदभुत अनुभव होंगे।
जब आपके ओंठ सिगरेट मांगने लगें तो प्रयोग करके देखना। अपने ओंठ से प्रार्थना करना कि मेरे ओंठ, प्रार्थना करता हूं कि सिगरेट मत मांगो। और अगर यह प्रार्थना हार्दिक है तो ओंठ तत्काल शिथिल हो जाएंगे और मांग बंद कर देंगे। कामवासना उठे तो अपनी कामवासना के केंद्र से कहना कि मेरे कामवासना के केंद्र, कामवासना मत मांगो। मुझे सहायता दो। और आप तत्काल हैरान होंगे कि आपकी प्रार्थना के साथ ही काम-केंद्र शिथिल हो जाएगा।
पर हमने प्रार्थना तो की नहीं। और अपने ही शरीर से प्रार्थना करेंगे
तो अहंकार को बड़ी पीड़ा होगी, कि मैं, और अपने ही शरीर से प्रार्थना करूं! संकोच लगेगा। लेकिन शरीर की गुलामी करने में कभी संकोच नहीं लगता! और शरीर के पीछे-पीछे चलने में कभी संकोच नहीं लगता! और शरीर की मानकर सब तरह की मूढ़ताएं करने में कभी संकोच नहीं लगता! लेकिन जिस शरीर को आपने मालिक बना लिया है, अब आप उसको प्रार्थना से ही परसुएड कर सकते हैं।
मन तो बन गया है मालिक। तो ऋषि उसे परसुएड करता है, फुसलाता है कि मेरे मन, बाधा मत डाल। मेरे ज्ञान को नाश मत कर। मैं रात-दिन इसी ज्ञान में ही तो अभ्यास कर रहा हूं, व्यतीत कर रहा हूं, तू मुझे साथ देना। इसका इतना ही अर्थ है कि जिस व्यक्ति को परम सत्य की खोज में जाना हो, उसको अपनी सारी इंद्रियां, अपना मन, अपना शरीर, सबके साथ प्रार्थना करके सहयोग निर्मित कर लेना चाहिए। वह सहयोग निर्मित हो जाए तो वे सब साथी, सहयोगी, संगी हो जाते हैं। अन्यथा, अकारण ही उनसे विरोध आएगा और बाधा पड़ेगी।
इतना इस सूत्र के संबंध में। एक दो-तीन बातें सुबह के ध्यान के संबंध में, क्योंकि कल सुबह से हम यात्रा पर करने की निकलेंगे। तो तीन बातें आपको कह देनी हैं।
एक, जो मैंने इस सूत्र के संबंध में कहा, उसे याद रखेंगे तो ये तीनों बातें एकदम समझ में आ जाएंगी। एक, इंद्रिय-निग्रह। जितना कम देख सकें, उतना ध्यान में गहराई आ जाएगी। जितना कम सुनें, जितना कम बोलें, जितना कम छुएं, जितना कम खाएं--इसका ख्याल करें सात दिन। जिन मित्रों में समझ हो, वे पूर्ण मौन ले लें सात दिन के लिए। जिनमें नासमझी की मात्रा काफी हो, वे भी इतनी समझदारी करें कि अल्पतम, मिनिमम बोलने का संकल्प कर लें। एकदम जरूरी होगा, कि मुझे प्यास लगी, इतना न कहकर, प्यास, इतना ही कह दूंगा। कागज पर लिखकर बता दें। गूंगे बन जाएं, बहरे बन जाएं, अंधे बन जाएं--सात दिन के लिए। आंख के लिए पट्टियां सुबह आपको मिल जाएंगी, वह आप आंख पर पट्टियां बांध लें। उनको जितना बन सके उतना ज्यादा से ज्यादा उपयोग करें। राह पर चलते वक्त थोड़ी सी सरका लें, चार फीट से ज्यादा दिखाई न पड़े। बस, उतने से चलने का काम पूरा हो जाएगा। बस्ती में भी जाएं, तो वैसे ही जाएं। लोग हंसेंगे, उससे बहुत फायदा होगा।
हम सबको दूसरों पर हंसने की आदत होती है। हम सब कोशिश में रहते हैं कि किसी पर हम हंसें। कभी इससे उलटा करना चाहिए। दूसरों को भी मौका देना चाहिए। और ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि दूसरे आप पर हंसें।

और ध्यान रहे, जब आप दूसरे पर हंसते हैं, तो बिल्कुल मूर्च्छित होते हैं। और जब दूसरे आप पर हंसते हैं और आप चुपचाप बीच में खड़े होते हैं, तो बड़ा जागरण और चैतन्य पैदा होता है।
आंख पर पट्टी बांध लेनी है। रूई के फोहे कल आपको मिल जाएंगे, वे कान में लगा लेने हैं। जब यहां मैं बोलूंगा, तब आपको आंख पर पट्टी और फोहे नहीं रखने। ध्यान में सुबह आपको आंख पर पट्टी और कान में फोहे रखने हैं।
दोपहर में चार से पांच बजे तक जो दोपहर की बैठक होगी, उसमें आधा घंटा कीर्तन होगा। सबको सम्मिलित होना है। आधा घंटा कीर्तन चलेगा, उस कीर्तन में बिल्कुल दीवाने और पागल होकर नाच और गा लेना है। फिर आधा घंटा मौन होगा। कीर्तन के बाद आधा घंटा मौन हो जाएगा। कीर्तन के बाद आंख पर पट्टी बांध लेनी है, कान अपना बंद कर लेना है और मौन बैठ जाना है।
उस आधा घंटा मौन में फिर कोई अभिव्यक्ति, कोई मैनिफेस्टेशन नहीं। कुछ
भी नहीं। न आवाज करनी है, न रोना है, न चिल्लाना है, न हंसना है। बिल्कुल चुप, मुर्दे की तरह पड़े रह जाना है। वह हंसना, चिल्लाना, गाना, रोना--आधा घंटा कीर्तन में पूरा निकाल लेना है। जो पूरा निकाल लेगा, वही आधा घंटा मौन हो पाएगा। अगर आपने बचाया, तो वह आधा घंटे में निकलेगा, फिर वह आपकी जिम्मेवारी है।
आधा घंटा कीर्तन में पूरी तरह नाच-कूदकर कैथार्सिस कर लेनी है, सब फेंक देना है बाहर। फिर आधा घंटा बिल्कुल मुर्दे की तरह पड़ जाना है, बैठ जाना है। जैसा आपका मन हो, बैठना हो बैठें... । उस आधा घंटे में कोई अभिव्यक्ति नहीं। कोई आवाज नहीं, कोई हिलना-डुलना नहीं, शरीर का कंपन नहीं। सब शांत कर देना है--शरीर भी, मन भी, वाणी भी--सब शांत कर देना है।

निर्वाण उपनिषद
दूसरा प्रवचन

निर्वाण उपनिषद--अव्याख्य की व्याख्या का एक दुस्साहस

ऋतम वदिष्यामि। सत्यम वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु।
अवतुमाम्। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।
ओम शांतिः शांतिः शांतिः।।

अथ निर्वाणोपनिषदम व्याख्यास्यामः
परमहंसः सोऽहम्।
परिव्राजकाः पश्चिम लिंगाः।
मन्मथक्षेत्रपालाः।

मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा। मेरी रक्षा करो। वक्ता की रक्षा करो। मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। वक्ता की रक्षा करो।
ओम शांति, शांति, शांति।

अब निर्वाण उपनिषद का व्याख्यान करते हैं।
मैं परमहंस हूं।
संन्यासी अंतिम स्थिति रूप चिह्न वाले होते हैं।
कामदेव को रोकने में पहरेदार जैसे होते हैं।

साधक की यात्रा जिन दो पैरों से होती है, उन दो पैरों की सूचना शांति पाठ के इस आखिरी हिस्से में है। साधक का एक पैर तो है संकल्प और साधक का दूसरा पैर है समर्पण।
मेरे संकल्प के बिना तो कोई यात्रा प्रारंभ नहीं हो सकती। परमात्मा
भी मुझे इंचभर नहीं हिला सकता। मैं जहां हूं, वहीं खड़ा रहूंगा। मेरी स्वेच्छा पर, मेरी स्वतंत्रता पर परमात्मा कोई हमला नहीं करता है। इसलिए मैं नर्क भी जाना चाहूं, तो भी परमात्मा की तरफ से कोई बाधा नहीं पड़ेगी। मेरा संकल्प प्राथमिक है। मैं कहां जाना चाहता हूं, क्या होना चाहता हूं, उसके लिए मेरे प्राणों की तत्परता जरूरी है। लेकिन वह भी काफी नहीं है, नाट इनफ। मेरा सारा संकल्प भी हो तो भी काफी नहीं है। मेरे बिना संकल्प के एक इंच यात्रा नहीं होगी, लेकिन मेरे संकल्प से ही यात्रा नहीं हो सकती, मात्र संकल्प से ही यात्रा नहीं हो सकती। मुझे उस परम शक्ति का सहारा भी खोजना होगा। व्यक्ति की शक्ति इतनी कम है--न के बराबर--कि अगर परम शक्ति का सहारा न मिले, तो भी यात्रा नहीं हो सकती।
इसलिए इस हिस्से में ऋषि ने कहा है, मैं ऋत भाषण करूंगा। मैं सत्य भाषण करूंगा।
यह संकल्प है।
यह ऋषि कहता है, मैं ऋत भाषण करूंगा।
ऋत बहुत अदभुत शब्द है। ऋत का अर्थ होता हैः स्वाभाविक, प्राकृतिक, जैसा है वैसा। मैं वही कहूंगा, जैसा है वैसा। लेकिन फिर भी कहने वाला तो मैं ही रहूंगा। और जैसा मुझे दिखाई पड़ता है, वह मुझे ही दिखाई पड़ेगा, उसमें भूल हो सकती है। मैं सत्य भाषण करूंगा, लेकिन मैं ही करूंगा--मैं जैसा हूं। जिस बात को सत्य समझूंगा, बोल दूंगा, लेकिन वह असत्य भी हो सकता है। मुझे जो सत्य दिखाई पड़ता है, जरूरी नहीं है कि सत्य हो ही। मुझे जो असत्य मालूम पड़ता है, जरूरी नहीं है कि असत्य हो ही। मुझसे भूल हो सकती है। मेरी आंखें बाधा डालेंगी, मेरी दृष्टि भी तो विकार पैदा करेगी।
अगर आपने चश्मा लगा रखा है और आपको चारों तरफ नीला रंग दिखाई पड़ रहा है, तो आप बिल्कुल ही सत्य कह रहे हैं कि चारों तरफ सभी चीजें नीली हैं, फिर भी असत्य कह रहे हैं। और हम सबकी दृष्टि पर चश्मे हैं बहुत तरह के। हम सबके अपने विचार हैं। जब हम सत्य भी बोलते हैं तो हम ही तो निर्णय करते हैं कि सत्य क्या है। और हम इतने गलत हैं कि हमारा निर्णय क्या सही हो पाएगा?

फिर भी ऋषि संकल्प करता है कि मैं ऋत भाषण ही करूंगा। जैसा है, वैसा ही कहूंगा, अन्यथा नहीं कहूंगा। सत्य ही बोलूंगा। जो मुझे सत्य मालूम होगा, वही मैं बोलूंगा। फिर भी मेरी रक्षा करो। वह प्रभु से कह रहा है, फिर भी मेरी रक्षा करो।
यह बड़ी कीमती बात है। असत्य बोलने वाला परमात्मा से प्रार्थना करे कि मेरी रक्षा करो, समझ में आता है। सत्य बोलने वाला परमात्मा से प्रार्थना करे कि मेरी रक्षा करो, तो समझ में नहीं आता। सत्य काफी है, सत्य स्वयं ही रक्षा कर लेगा।
लेकिन ऋषि भलीभांति जानता है कि आदमी का सत्य जरूरी नहीं कि परमात्मा
का सत्य हो। आदमी इतना कमजोर और इतना विकार से भरा, इतना अंधेरे में पड़ा है कि वह जो देखेगा, वह हो सकता है, उसे सत्य मालूम पड़े और बिल्कुल असत्य हो। इसलिए सत्य मैं बोलूंगा, फिर भी मेरी रक्षा करो। वह जो स्वाभाविक है, उसके अनुसार मैं चलूंगा, लेकिन फिर भी मेरी रक्षा करो। क्योंकि जिसे मैं स्वाभाविक समझूंगा, वह है स्वाभाविक, नहीं है स्वाभाविक, यह निर्णय मैं कैसे करूंगा। सत्य बोलकर भी रक्षा की आकांक्षा समर्पण है। ऋत के अनुसार चलकर भी रक्षा की आकांक्षा समर्पण है।
ये ऋषि यह कह रहा है कि मैं सब कुछ भी करूं, तो भी गलत हो सकता है। तुम्हारी रक्षा की जरूरत पड़ती ही रहेगी। इसमें दोहरी बातें हैं। घोषणा है अपनी तरफ से कि मैं सत्य बोलूंगा और यह भी घोषणा है अपनी तरफ से कि मेरे सत्य के सत्य होने का भरोसा क्या है।
सुना है मैंने कि एक नगर में एक ईसाई पादरी और एक यहूदी पुरोहित पड़ोसी थे। कभी-कभी उनकी बातचीत हो जाती थी। तो एक दिन ईसाई पादरी ने यहूदी पुरोहित को कहा कि हम दोनों ही तो ईश्वर का काम करते हैं। फिर झगड़ा कैसा! फिर विरोध कैसा! मैं भी तो सत्य का ही काम करता हूं, तुम भी सत्य का काम करते हो, फिर विवाद क्या है? यहूदी ने कहा कि बात तो ठीक है, हम दोनों ही सत्य का काम करते हैं। लेकिन तुम उस सत्य का काम करते हो, जैसा तुम्हें दिखाई पड़ता है; और मैं उस सत्य का काम करता हूं, जैसा परमात्मा को दिखाई पड़ता है। इसलिए विवाद है।
कौन तय करेगा कि कौन सा सत्य परमात्मा का सत्य है। अगर हम तय करेंगे
तो वह भी हमारा ही तय करना है।
इसलिए महावीर जैसे व्यक्ति ने, जिसने कि सत्य को पहला धर्म और सत्य पर
ही सारे जीवन को आधारित करने की चेष्टा की, किसी को भी असत्य कहना बंद कर दिया था। अगर कोई बिल्कुल सरासर झूठ बोल रहा हो, सरासर झूठ--जैसे कि सूरज निकला हो और कोई कहता हो कि आधी रात है--तो भी महावीर कहते थे कि तुम्हारी बात में कुछ सत्य तो है। तो भी। क्योंकि महावीर कहते थे कि माना अभी आधी रात नहीं है, लेकिन यही सूरज आधी रात को थोड़ी देर में ले आएगा। इसी में छिपी है, इस भरी दोपहरी में आधी रात छिपी है। तुम्हारी बात में भी थोड़ा सत्य है।
अगर कोई जीवित व्यक्ति को भी कह देता है कि यह मरा हुआ है, तो महावीर कहते, तुम्हारी बात में थोड़ा सत्य है, क्योंकि जिसे हम जीवित कह रहे हैं, यह थोड़ी देर में मर ही तो जाएगा। और जो मर ही जाएगा, उस पर क्या विवाद करना कि वह अभी मरा है कि नहीं मरा है। मर ही जाएगा तो मरा ही है। तुम्हारी बात में भी सत्य है।
महावीर का विचार बहुत प्रभावी नहीं हो सका, क्योंकि किसी भी विचार के प्रभावी होने के लिए आग्रहशील लोग चाहिए--डागमेटिक, जो कहें, यही सत्य है। अब ऐसे आदमी की बात कौन सुनेगा जो कहेगा कि तुम भी सत्य हो, वह भी सत्य है, सभी सत्य हैं। ऐसे आदमी की बात में आग्रह न होने के कारण पंथ का निर्माण बहुत मुश्किल है। अति कठिन है।
उपनिषदों का कोई पंथ निर्मित नहीं हुआ। उपनिषद बिल्कुल ही गैर पांथिक हैं, नान सेक्टेरियन हैं। और उसका कारण है कि ऋषियों की पूरी चेष्टा यह है कि सत्य कहें, फिर भी इस बोध के साथ कि हमारा सत्य हमारा ही सत्य होगा, आदमी का सत्य आदमी का सत्य होगा। और आदमी क्या उस विराट सत्य को छू पाएगा, आदमी रहते हुए!

इसलिए ऋषि कहता है, प्रभु, मेरी रक्षा करना। सत्य मैं बोलूंगा, जितनी मेरी सामर्थ्य है; सत्य मैं खोजूंगा, जितनी मेरी सामर्थ्य है। लेकिन मेरी सामर्थ्य मुझे पता है। तू रक्षा करना।
वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।
वक्ता को क्यों बीच में ले आया, मेरी रक्षा पर्याप्त थी! मेरी रक्षा में वक्ता की रक्षा भी आ जाती थी। लेकिन विशेष रूप से ऋषि कहता है दो-दो बार, वक्ता की रक्षा करो।
यह बहुत मजे की बात है। सत्य का अनुभव जब होता है किसी को, तब सत्य जितना बड़ा होता है और जब वही व्यक्ति सत्य को बोलने जाता है तो उतना ही बड़ा नहीं रह जाता, और भी सिकुड़ जाता है।
एक तो सत्य है बहुत विराट और आदमी बहुत छोटा। जब आदमी सत्य को देखता
है तो वह ऐसे ही जैसे एक छोटे से पानी के डबरे में चांद का प्रतिबिंब बनता है। बहुत छोटा आदमी जब सत्य को देखता है, तो सत्य उसके ही अनुपात में छोटा हो जाता है। लेकिन दूसरी दुर्घटना घटती है तब, जब वह सत्य को बोलने जाता है। वह और बड़ी दुर्घटना है। फिर तो उतना भी नहीं बचता, जितना उसने देखा था। परमात्मा का सत्य तो कितना है, पता नहीं। आदमी को जितना सत्य मालूम पड़ता है, उतना भी वाणी नहीं कह पाती। और सिकुड़ जाता है।
इसलिए ऋषि कहता है कि मेरी रक्षा करो कि मैं जब सत्य को जानूं तो ऐसा न समझ लूं कि यहीं पूरा हो गया। जानता रहूं कि शेष है, जानता रहूं कि शेष है, यात्रा बाकी है। जानता रहूं कि सागर को मैंने छू लिया, लेकिन सागर को पा नहीं लिया है। और सागर में मैं खड़ा हो गया, फिर भी सागर की सीमाएं मेरी हाथ की मुट्ठी में नहीं आ गई हैं। यह मैं जानता रहूं और जब मैं कहने जाऊं, जब मैं बोलने जाऊं, तब मेरी और भी रक्षा करना। क्योंकि शब्द सत्य को जिस बुरी तरह विकृत करते हैं, कुछ और विकृत नहीं करता। उसका कारण है।
सब शब्द कामचलाऊ हैं। सत्य को जब हम कामचलाऊ शब्दों में प्रकट करते हैं--और कोई शब्द हैं भी नहीं--तो वह जो कामचलाऊ दुनिया की दुर्गंध है, धूल है, वह सब सत्य के साथ जुड़ जाती है। वे कामचलाऊ शब्द हमारे ओंठों पर चल-चलकर वैसे ही घिस गए हैं जैसे सिक्के चल-चलकर घिस जाते हैं। उन्हीं शब्दों में सत्य को कहना पड़ता है, वह भी घिस जाता है।
फिर अनुभूति तो सदा ही गहन होती है, शब्द सदा छिछले होते हैं। बड़ी अनुभूतियां तो छोड़ दें, छोटी अनुभूतियां, आपके पैर में कांटा गड़ गया है और पीड़ा हो रही है। लेकिन जब आप किसी को बताते हैं कि मेरे पैर में पीड़ा हो रही है, तो क्या आप पीड़ा को बता पाते हैं? और जब आप यह कहते हैं कि मेरे पैर में पीड़ा हो रही है, तो क्या वह आदमी समझ पाता है कि कैसी पीड़ा हो रही है! हां, अगर उसके पैर में भी कांटा गड़ा हो, तब तो बात और है। अगर उसके पैर में कांटा न गड़ा हो, तब कुछ भी समझ में नहीं आता। जिस आदमी ने जीवन में किसी को प्रेम न किया हो, उसे प्रेम की बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। जिस आदमी ने जीवन के संगीत को कभी अनुभव न किया हो और जिसके जीवन में कभी वह जो चारों ओर छाया हुआ काव्य है अस्तित्व का, वह प्रवेश न कर गया हो, उसे कुछ भी समझ में नहीं आता।
रामकृष्ण के जीवन में उल्लेख है कि उन्हें जो पहली समाधि मिली वह छह वर्ष की उम्र में मिली। ऐसे ही किसी पहाड़ के निकट से गुजरते थे, खेत की मेड़ पर। हरे-भरे खेत फैले थे। सुबह का सूरज निकला था, पीछे काले बादलों की एक कतार आकाश में थी। और खेत की मेड़ से गुजरते ही एक खेत में बैठे हुए बगुलों की एक भीड़ रामकृष्ण के पैर की आहट सुनकर उड़ गई। एक पंक्तिबद्ध बगुले उड़े। पीछे थे काले बादल, सुबह का सूरज, नीचे थी हरियाली, और सफेद बगुलों की पंक्ति का खिंच जाना उन काले बादलों की पृष्ठभूमि में--रामकृष्ण वहीं आंख बंद करके समाधिस्थ हो गए। और जब रामकृष्ण से बाद में लोग पूछते थे, तो रामकृष्ण कहते थे कि बहुत प्रार्थना-पूजा करके भी उस गहराई को पाना मुश्किल मालूम पड़ता है, जो उस दिन बगुलों की वह उड़ी हुई कतार दे गई थी।
आप कहेंगे कि क्या बगुलों की कतार से समाधि मिल सकती है? हमने भी बगुले देखे हैं, काले बादल देखे हैं, हमने भी पहाड़ देखे हैं। लेकिन जिसे जीवन के काव्य का कोई अनुभव नहीं हुआ है, वह रामकृष्ण के इस अनुभव को न समझ पाएगा।

हमें जो अनुभव है, वह हम समझ पाते हैं। शब्द उसकी सूचना दे पाते हैं। इसलिए जितना गहरा अनुभव होने लगता है, उतनी ही कठिनाई शब्दों में होने लगती है। और सत्य का अनुभव तो अंतिम है, अल्टीमेट है, आत्यंतिक है, आखिरी है। ऋत का अनुभव तो चरम है। उस अनुभव को शब्द में कहने जब मैं जाऊं, तब तुम मेरी रक्षा करना, ऋषि कहता है प्रभु से।
लेकिन कौन कहता है कि कहने जाना। मत जाना! लेकिन एक कठिनाई है। जितना गहरा अनुभव हो उतनी ही तीव्रता से प्रकट होना चाहता है। उसके कारण हैं। सत्य का जब अनुभव होता है, तो प्राण हृदय से प्रफुल्लित हो जाते हैं, आनंद से प्रफुल्लित हो जाते हैं। और आनंद का गुण है, बंटने की इच्छा। आनंद बंटना चाहता है। जब आप दुख में होते हैं तो सिकुड़ जाते हैं, बंद। चाहते हैं कोई मिले न, कमरे में छिप जाएं, मर जाएं। जब आप आनंद में होते हैं, तो दौड़ते हैं कि कोई मिल जाए उससे बांट लें।
महावीर और बुद्ध जब दुख में थे तो जंगल चले गए। जब आनंद से भरे तो गांव में वापस लौट आए।
यह बहुत मजे की बात है कि जब भी कोई दुखी था तो जंगल में गया और जब आनंद
से भरा तो बांटने के लिए नगरों में वापस आ गया। आना ही पड़ेगा। आनंद बंटना चाहता है। शेयर, किसी के साथ साझा, कोई बांट ले, कोई थोड़ा ले ले। क्यों? क्योंकि आनंद जितना बंटता है उतना बढ़ता है। अगर आप अपने पूरे हृदय के आनंद को उलीच दें, तो आप तत्काल पाएंगे उससे अनंतगुना आपके हृदय में फिर भर गया।
कबीर ने कहा है, दोनों हाथ उलीचिए। उलीचो। क्योंकि अनंत स्रोत के करीब आ गए हो। अब कितना ही उलीचो, समाप्त नहीं होगा। आनंद तो आनंद है ही, उसका बांटना परम आनंद है।
इसलिए ऋषि कहता है, मेरी रक्षा करना। क्योंकि सत्य का जब मुझे अनुभव होगा, ऋत में मैं जब जीऊंगा तो मैं कहना चाहूंगा, जो मैंने जाना है, वह बताना चाहूंगा। और शब्द नष्ट कर देते हैं। तुम मेरी रक्षा करना।
यह रक्षा की आकांक्षा, यह परमात्मा एक छाया की तरह चारों तरफ आपको घेर
ले और आपके साथ चलने लगे! और जब आप सत्य बोलें तब भी जानकर बोलें कि वह आपका सत्य है, और जब तक परमात्मा का उसको सहयोग न हो तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है। और जब आप बोलने जाएं तब जानें कि जो आप बोल रहे हैं वह सीमित है, और जब तक असीम पीछे न खड़ा हो, तब तक उसका कोई भी मूल्य नहीं है। तो ऋषि प्रार्थना करता है इस शांति-पाठ में कि मेरी रक्षा करना।
ओम शांति, शांति, शांति।
यह शांति-पाठ पूरा हुआ। निर्वाण उपनिषद कहने के पहले परमात्मा से यह प्रार्थना कि मैं जो बोलूं उसमें मेरी रक्षा करना, बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि अब ऋषि बोलेगा। अब वह कहेगा। शब्दों में ही कहा जा सकता है। ऐसा नहीं कि निःशब्द में नहीं कहा जा सकता, लेकिन निःशब्द में सुनने वाला खोजना बहुत मुश्किल है। इसलिए मजबूरी में शब्द में कहना पड़ता है। और अगर लोगों को निःशब्द के लिए तैयार भी करना हो, तो भी शब्द के ही सहारे उनको निःशब्द में ले जाना पड़ता है। कठिन है, विपरीत मालूम होता है, लेकिन संभव है।
वीणा का एक तार छेड़ दूं। वीणा के तार से ध्वनि होगी पैदा, उसे सुनते रहें, सुनते रहें, सुनते रहें। धीरे-धीरे ध्वनि खोती जाएगी, निर्ध्वनि प्रकट होने लगेगी। सुनते रहें। ध्वनि क्षीण होने लगेगी। लेकिन जब ध्वनि क्षीण हो रही है, तब जानना कि अनुपात में साथ ही निर्ध्वनि प्रखर हो रही है। जब ध्वनि मिट रही है, तब निर्ध्वनि जन्म रही है। जब ध्वनि खो रही है, तब निर्ध्वनि का आगमन हो रहा है। फिर थोड़ी देर में ध्वनि खो जाएगी, तब क्या शेष रह जाएगा?
अगर कभी ध्वनि का पीछा किया है, तो आपको पता चल जाएगा कि ध्वनि निर्ध्वनि में ले जाती है। शब्द निःशब्द में ले जाते हैं। संसार मोक्ष में ले जाता है। अशांति भी शांति में ले जाने के लिए सेतु बन जाती है। बीमारी भी सीढ़ी बन जाती है स्वास्थ्य के मंदिर तक पहुंचने के लिए। विपरीत का उपयोग करना है। पर उपनिषद की घोषणा करने के पहले, क्योंकि महत घोषणा ऋषि करेगा।

जीवन ने जो भी गहराइयां छुई हैं और ऊंचाइयों के दर्शन किए हैं, जीवन
ने जो भी स्वर्णकलश देखे हैं सत्य के, ऋषि इस आने वाले शब्दों में उनकी घोषणा करेगा।
वह परमात्मा से कहता है, मेरी रक्षा करना।
भूल-चूक हो सकती है। शब्द वह कह सकते हैं जो मैं नहीं कहना चाहता था। सुनने वाले वह सुन सकते हैं जो मैंने कहा नहीं था। समझने वाले वह समझ ले सकते हैं जो प्रयोजित ही नहीं था। मेरी रक्षा करना।
क्योंकि कहीं सत्य कहने जाऊं और असत्य को कहने वाला न बन जाऊं। कहीं सत्य को प्रकट करूं और असत्य को देने वाला न बन जाऊं। चाहूं कि लोगों को आनंद बांट दूं, और कहीं ऐसा न हो कि उनकी झोलियों में दुख पहुंच जाए। मेरी रक्षा करना।
पहला सूत्र निर्वाण उपनिषद काः
अब निर्वाण उपनिषद का व्याख्यान करते हैं।
ऋषि कहता है, अब उसकी चर्चा करते हैं, जिसकी चर्चा कठिन है। अब उसकी व्याख्या में लगते हैं, जो अव्याख्य है। जो नहीं कहा जा सकता, उसे अब कहने चलते हैं। जो सिर्फ जाना ही जा सकता है और जीया ही जा सकता है, उसे भी अब शब्द देते हैं।
बुद्ध के पास कोई जाता था तो बुद्ध बहुत से प्रश्नों के उत्तर में कह देते थे--अव्याख्य, और चुप हो जाते थे। वे कह देते थे, नहीं, इसकी व्याख्या नहीं होगी। ऐसे उन्होंने कुछ प्रश्न तय कर रखे थे जिन्हें पूछते ही वे इतना ही कह देते थे अव्याख्य, इसकी व्याख्या नहीं होगी। लोग उनसे पूछते थे कि क्यों नहीं होगी? क्योंकि लोग सोचते हैं कि जो प्रश्न पूछा जा सकता है, उसका उत्तर होना ही चाहिए। लोग सोचते हैं कि चूंकि हमने प्रश्न बना लिया, इसलिए उत्तर होना ही चाहिए।
आपके प्रश्न बना लेने से यह जरूरी नहीं है कि उत्तर हो। सच तो यह है कि जिस प्रश्न का उत्तर न हो, जानना कि उस प्रश्न के बनाने में कहीं कोई बुनियादी भूल हुई है। लेकिन भाषा ऐसी भ्रांति पैदा कर सकती है कि प्रश्न बिल्कुल रिलेवेंट है, संगत है।
अब कोई आदमी पूछ सकता है कि सूरज की किरण का स्वाद कैसा है? प्रश्न में क्या गलती है? प्रश्न बिल्कुल ठीक है। कोई आदमी पूछ सकता है कि प्रेम की ध्वनि कैसी है? प्रश्न बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है। लेकिन प्रेम में कोई ध्वनि नहीं होती। असंगत है। प्रेम का ध्वनि-निर्ध्वनि से कोई संबंध नहीं है। सूर्य की किरण में स्वाद नहीं होता, न बेस्वाद होती है। असंगत है, स्वाद का कोई संबंध ही नहीं है।
मेटाफिजिक्स, दर्शनशास्त्र बहुत से फिजूल प्रश्न पूछता है। इसीलिए
तो दर्शनशास्त्र किसी प्रश्न का हल नहीं निकाल पाता। मगर प्रश्न भाषा में मालूम पड़ता है, बिल्कुल ठीक है। एक आदमी पूछ लेता है कि इस जगत को किसने बनाया? बिल्कुल ठीक सवाल है, बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है। सवाल में क्या गलती है? लेकिन एकदम गलत है।
गलत क्यों है? गलत इसलिए है कि बनाने का सवाल उठाना ही एक ऐसा सवाल उठाना है जिसको कोई भी जवाब हल न कर पाएगा। क्योंकि अगर हम कहें, परमात्मा ने बनाया तो सवाल परमात्मा के पीछे खड़ा हो जाएगा कि परमात्मा को किसने बनाया? अगर हम और कोई नंबर दो का परमात्मा खोजें तो सवाल उसके पीछे खड़ा हो जाएगा कि इस नंबर दो के परमात्मा को किसने बनाया? यह सवाल किसी भी जवाब के पीछे खड़ा हो जाएगा। ऐसा कोई जवाब नहीं हो सकता जिसके लिए यह सवाल न खड़ा किया जा सके। फिर जवाब का कोई मतलब नहीं रह जाता।
इसलिए अगर बुद्ध से आप पूछेंगे, इस जगत को किसने बनाया? तो वे कहेंगे, अव्याख्य। इसकी व्याख्या नहीं होती। इसलिए नहीं कि बुद्ध को व्याख्या का पता नहीं है। बल्कि इसलिए कि आप एक गलत सवाल पूछ रहे हैं। और गलत सवाल का जवाब जब भी दिया जाएगा, वह सवाल का जवाब उतना ही गलत होगा, जितना सवाल था। और हम बहुत गलत सवाल पूछते हैं और हमारे बीच पूछने वालों से भी ज्यादा गलत जवाब देने वाले लोग मौजूद हैं। वे तैयार ही हैं कि आप पूछो और वे दें। और जमीन गलत जवाबों से बहुत परेशान है, बहुत पीड़ित है।

ऋषि कहता है कि अब हम निर्वाण उपनिषद के व्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं।
यह बड़ा असंभव कार्य अपने हाथ में लेना है। इंच-इंच फूंककर पैर रखना पड़ेगा। शब्द-शब्द तौलकर बोलना पड़ेगा। इसलिए निर्वाण उपनिषद बहुत अदभुत उपनिषद है। इसमें एक-एक शब्द तुला हुआ है, कटा हुआ है, निखारा हुआ है। बहुत छोटा उपनिषद है। एक-एक शब्द में बात कहने की कोशिश की गई है। क्योंकि जितने कम शब्द हों, उतने कम भूल की संभावना है।
सूफियों के पास एक किताब है। उस किताब का नाम है, द बुक आफ द बुक्स, किताबों की किताब। और उसमें लिखा कुछ भी नहीं है। खाली है। उसमें कुछ भी लिखा हुआ नहीं है। उसको छापने को कोई प्रकाशक राजी नहीं था। छापकर भी क्या करिएगा! और कौन पागलपन में पड़े उसको छापने के? और छापकर उसको खरीदेगा कौन? जो भी उसको भीतर देखेगा, उसमें कुछ है ही नहीं।
अभी एक प्रकाशक ने हिम्मत की है। पर उसने भी इसलिए हिम्मत की कि वह जो शून्य है किताब, मोहम्मद का एक वंशज उस पर छोटी सी एक टिप्पणी लिखने को राजी हो गया। इदरिस शाह ने एक छोटी सी भूमिका लिखी, इंट्रोडक्शन। वह जो खाली किताब है, जिसमें कुछ भी नहीं है, उसके लिए एक भूमिका लिखी दस-बीस पन्नों की। तो बीस पन्नों में भूमिका है और दो सौ पन्ने खाली हैं। अभी वह किताब छपी है।
अनेक लोग उसको भूल में खरीद लेते हैं, क्योंकि वे पहले भूमिका देखते हैं। कौन पूरी किताब देखता है! जब वे भूमिका के बाद किताब पर पहुंचते हैं तो वहां तो बिल्कुल खाली है। भूमिका में उसने यह समझाने की कोशिश की है कि किताब खाली क्यों है। लेकिन मैं मानता हूं कि इदरिस शाह ने अन्याय किया। पांच सौ, सात सौ साल से हिम्मतवर लोग उसे खाली रखे थे, उसको थोड़ा भरा। और जब किताब लिखने वालों ने ही खाली रखी थी तो उसके लिए किसी भूमिका की जरूरत नहीं है। वह खाली ही होनी चाहिए। लेकिन छापने को कोई राजी नहीं था। पढ़ने को भी कोई राजी नहीं होता, इसलिए बेचारे इदरिस शाह को गलत काम करना पड़ा। एक अर्थ में तो ऋषि गलत काम करने जा रहा है, इसीलिए परमात्मा से रक्षा मांगता है। गलत, गलत यह है कि जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता, उसको वह शब्द में कहेगा। ऋषि का वश चले तो किताब को खाली छोड़ दे। लेकिन तब वह आपके काम की न होगी। क्योंकि खाली किताब को पढ़ना बड़ी कठिन बात है। और जो खाली किताब को पढ़ने में समर्थ हो जाता है, फिर उसे और कोई किताब पढ़ने की इस दुनिया में जरूरत नहीं रह जाती।
ऋषि कहता है, व्याख्यान शुरू करते हैं, व्याख्या शुरू करते हैं निर्वाण उपनिषद की।
इसमें एक और बात छिपी है। इसमें यह बात छिपी है कि ऋषि निर्वाण उपनिषद नहीं लिख रहा है, सिर्फ निर्वाण उपनिषद का व्याख्यान कर रहा है। यह बहुत और अदभुत मामला है। इसका मतलब यह हुआ कि निर्वाण उपनिषद तो शाश्वत है, वह तो सदा से चल रहा है, ऋषि सिर्फ व्याख्या करते हैं। जब निर्वाण उपनिषद नहीं था, क्योंकि जिसे हम आज निर्वाण उपनिषद कहते हैं, वह तो इसी ऋषि ने कहा है। पर वह कहता है, हम सिर्फ व्याख्या कर रहे हैं उसकी, जो सदा से है। हम तो सिर्फ उसका व्याख्यान कर रहे हैं, जो सदा से है। इसलिए किसी ऋषि ने उपनिषद का अपने आप को लेखक नहीं माना, सिर्फ व्याख्यान करने वाला माना। वह सदा से है, सत्य सदा से है, हम उसकी व्याख्या करते हैं। हमारी व्याख्या गलत भी हो सकती है, उससे सत्य गलत नहीं होता। हमारी व्याख्या भूल-चूक भरी हो सकती है, उससे सत्य भूल-चूक भरा नहीं होता। इसलिए परमात्मा से प्रार्थना कर ली है कि हम एक उपद्रव के काम में उतरते हैं, तू हमारी रक्षा करना।
इतना विनम्र जो व्यक्ति है, इतनी ह्यूमिलिटी है जहां, वह एक पहले ही सूत्र में जो घोषणा करता है, वह बहुत अदभुत है।
वह कहता है, मैं परमहंस हूं। परमहंसः सोऽहम्।
जो इतना विनम्र है कि सत्य बोलने में भी कहता है, परमात्मा मेरी रक्षा करना, जो इतना विनम्र है कि इस उपनिषद को रचता है और कहता है कि हम सिर्फ व्याख्यान कर रहे हैं उस उपनिषद पर जो सदा से है, वह पहली ही घोषणा में कहता है, मैं परमहंस हूं।

बड़ा विपरीत मालूम पड़ेगा। लेकिन ध्यान रहे, जो इतने विनम्र हैं, वे ही इतनी स्पष्ट घोषणा कर सकते हैं। विनम्रता ही कह सकती है अपनी गहराइयों में कि मैं परमात्मा हूं, नहीं तो नहीं। अहंकार कभी हिम्मत नहीं जुटा सकता कहने की कि मैं परमात्मा हूं। यह बहुत मजे की बात है।
अहंकार कभी हिम्मत नहीं जुटा सकता कहने की कि मैं परमात्मा हूं। अहंकार बहुत निर्बल है। बहुत कमजोर है। यह उसका साहस नहीं है। वह छोटे- मोटे दावे कर सकता है कि मैं चीफ मिनिस्टर हूं, कि प्राइम मिनिस्टर हूं, कि राष्ट्रपति हूं, ये दावे कर सकता है। लेकिन अहंकार यह दावा कभी नहीं कर सकता है कि मैं परमात्मा हूं। नहीं करने का कारण है। क्योंकि राष्ट्रपति कोई हो जाए तो अहंकार बड़ा होता है, लेकिन परमात्मा कोई हो जाए तो अहंकार शून्य हो जाता है। मैं परमात्मा हूं, यह कहने का अर्थ है कि मैं नहीं हूं। मैं परमात्मा हूं, यह कहने का अर्थ है, मैं की हत्या हो गई।
इस पृथ्वी पर सर्वाधिक अहंकारपूर्ण दिखने वाली घोषणाएं--दिखने वाली, जस्ट इन एपियरेंस--उन लोगों ने की हैं जो बिल्कुल विनम्र थे, जिनके जीवन में अस्मिता थी ही नहीं। कृष्ण कह सकते हैं अर्जुन से, सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। सब छोड़, मेरे चरणों में आ। यह कोई अहंकारी नहीं कह सकता। अहंकारी कोशिश यही करता है कि सब छोड़ और मेरे चरणों में आ। लेकिन यह कह नहीं सकता। अहंकार होशियार है। वह जानता है कि अगर अपने अहंकार को प्रगाढ़ करना हो तो छिपाओ, बचाओ। अगर अपने अहंकार को बड़ा करना हो तो दूसरे के अहंकार को चोट मत पहुंचाओ, परसुएड करो, दूसरे के अहंकार को राजी करो। कृष्ण जैसा निरहंकारी ही कह सकता है कि सब छोड़कर मेरे चरणों में आ जा।
यह उपनिषद का ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूं। यह पहली घोषणा है निर्वाण उपनिषद की।
क्या अर्थ है परमहंस होने का? यह पारिभाषिक शब्द है। हंस के साथ एक माइथोलाजी, एक मिथ, एक पुराण-कथा चलती है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग करने में समर्थ है। है या नहीं, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। यह शाब्दिक है। यह शब्द हंस अर्थ रखता है कि जो दूध और पानी को अलग करने में समर्थ है। और परमहंस उसे कहते रहे हैं, जो सार और असार को अलग करने में समर्थ है, जो सत्य और असत्य को अलग करने में समर्थ है।
तो ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूं। मैं वही हूं, जो सार और असार को अलग करने में समर्थ है। यह घोषणा पहले ही सूत्र में! यह घोषणा उचित है, क्योंकि पीछे सार और असार को अलग करने की ही चेष्टा है। ऋषि बड़ी विनम्रता से कहता है कि मैं सार और असार को अलग करने में समर्थ हूं। एक अर्थ।
दूसरा अर्थः ऋषि जब कहता है, मैं परमहंस हूं, तो सिर्फ अपने लिए ही नहीं कह रहा है। जो भी अपने को मैं कह सकते हैं, वे परमहंस हो सकते हैं। जहां-जहां मैं है, वहां-वहां परमहंस छिपा है। उसका उपयोग करें, न करें, वह आपकी मर्जी। सार-असार को अलग करें, न करें, वह आपकी मर्जी है।
लेकिन क्या आपने कभी ख्याल किया है कि जब आप असत्य बोलते हैं, तब आपके भीतर कोई जानता है कि असत्य है? जब आप सत्य बोलते हैं, तब कोई आपके भीतर जागा हुआ जानता है कि सत्य है? कभी आपने ख्याल किया है कि भीतर किसी बिंदु पर आप चीजों के बीच फासले को सदा जानते हैं? बात और कि अपने को धोखा दे लेते हैं, बात और कि अपने को समझा लेते हैं, बात और कि आदत बना लेते हैं भ्रांति की। लेकिन कितनी ही गहरी आदत हो, एक भीतर कोई दीया जलता ही रहता है सदा, जो बताता रहता है, कहां प्रकाश है और कहां अंधकार है।
उस दीए का नाम परमहंस है। वह सबके भीतर है। वह बुरे से बुरे आदमी के भीतर उतना ही है, जितना भले से भले आदमी के भीतर है। उसके अनुपात में कोई भेद नहीं है। वह पापी से पापी के भीतर उतना ही है, जितना पुण्यात्मा के भीतर है। जो फर्क है, वह उस भीतर की ज्योति का नहीं है, उस परमहंस का नहीं है। जो फर्क है, वह उस परमहंस को झुठलाने का, उस परमहंस को इंकार करने का। हम चाहें तो अपने को प्रवंचना में डालते रह सकते हैं। जिस दिन हम चाहें, प्रवंचना को तोड़ सकते हैं। क्योंकि हम कितनी ही प्रवंचनाएं करें, हम उस परमहंस के स्वभाव को विकृत नहीं कर पाते हैं।

इसलिए ठीक अर्थों में कोई आदमी कभी पापी नहीं हो पाता। कभी पापी नहीं
हो पाता। कितना ही पाप करे, फिर भी उसके भीतर एक निष्पाप तल सदा ही बना रहता है। और इसलिए अक्सर यह घटना घटती है कि बड़े पापी क्षण में निष्पाप में प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि जिन्हें पाप का बहुत अनुभव होता है। उसके साथ ही उन्हें भीतर के निष्पाप बिंदु का भी अनुभव होता है। कंट्रास्ट! जैसे कि सफेद दीवार पर काली रेखा कोई खींच दे, या काली दीवार पर कोई सफेद रेखा खींच दे। पापी को अपने भीतर के निष्पाप बिंदु का बड़ा गहरा अनुभव होता है। साफ दिखाई पड़ता है।
और इसलिए जिनको हम मीडियाकर कहें--जो न पापी होते हैं, न पुण्यात्मा होते हैं, जो बड़े समन्वयी होते हैं, जो थोड़ा पाप कर लेते हैं, थोड़ा पुण्य करके बैलेंस करते रहते हैं--ऐसे लोगों की जिंदगी में क्रांति मुश्किल से घटित होती है, क्योंकि कंट्रास्ट नहीं होता। न पाप होता है, न निष्पाप का बोध होता है। दोनों फीके हो जाते हैं। दोनों फीके हो जाते हैं।
इसलिए अगर कभी गहरे पापी की आंखों में झांकें, तो उसमें बच्चे की आंखें दिखाई पड़ जाएंगी। लेकिन एक साधारण आदमी के, जो पाप करना भी चाहता है, समझा भी लेता है, नहीं भी करता है; पाप भी कर लेता है, सम्हालने के लिए पुण्य भी कर लेता है, हिसाब-किताब बराबर रखता है, ऐसे आदमी की आंखों में सदा कनिंगनेस, चालाकी दिखाई पड़ेगी, बच्चे की सरलता दिखाई नहीं पड़ेगी।
वह जो भीतर परमहंस है, वह तो सबके भीतर है। वह नष्ट नहीं होता। किसी भी क्षण में उसे पाया जा सकता है और छलांग लगाई जा सकती है। उस छलांग के लिए ऋषि पहले यह घोषणा करता है कि मैं परमहंस हूं। यह घोषणा सबकी तरफ से है। यह सिर्फ ऋषि के मैं की घोषणा नहीं है। यह जो भी अपने को मैं कह सकते हैं, उन सबकी तरफ से है। इस परमहंस को अगर विकसित करना हो, सजग करना हो, ज्योतिर्मय करना हो, तो इसका उपयोग करना चाहिए।
हम जिस चीज का उपयोग करते हैं, वही प्रगाढ़ हो जाती है, प्रखर हो जाती है, तेजस्वी हो जाती है। अगर हम बैठे रहें तो पैर चलने की क्षमता खो देते हैं, अगर हम आंखें बंद करे रहें तो कुछ ही दिनों में आंखें देखना बंद कर देती हैं। उपयोग करना पड़े।
सुना है मैंने, कोई दो सौ साल आगे की कहानी सुनी है। बाइसवीं सदी में जैसे और सब चीजें बिकती हैं, ऐसे ही लोगों के मस्तिष्क भी बिकने लगे हैं, स्पेयर। आपको अपना दिमाग अगर ठीक नहीं मालूम पड़ता है, तो आप जा सकते हैं और अपनी खोपड़ी के भीतर जो है, उसे बदलवा सकते हैं।
एक आदमी एक दुकान में गया है, जहां मस्तिष्क बिकते हैं। अनेक तरह के मस्तिष्क हैं। दुकानदार ने उसे मस्तिष्क दिखाए और उसने कहा कि यह एक वैज्ञानिक का मस्तिष्क है, पांच हजार रुपए इसके दाम होंगे। उसने कहा, यह तो बहुत ज्यादा हो जाएगा। लेकिन इससे भी अच्छे मस्तिष्क हैं क्या? तो उसने बताया है कि यह एक धार्मिक आदमी का मस्तिष्क है, इसके दाम दस हजार रुपए होंगे। उसने कहा, बहुत महंगा है। लेकिन क्या इससे भी कोई अच्छा है? उसने कहा, सबसे अच्छा यह मस्तिष्क है, इसके दाम पच्चीस हजार रुपए होंगे। उसने कहा, यह किसका मस्तिष्क है? क्योंकि वह चकित हुआ। वैज्ञानिक का पांच हजार दाम है, धार्मिक का दस हजार दाम, यह किसका मस्तिष्क है! उसने कहा, यह राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क है। तो उस आदमी ने कहा, राजनीतिज्ञ के मस्तिष्क का इतना दाम! तो उस दुकानदार ने कहा, बिकाज इट हैज बीन नेवर यूज्ड, इसका कभी उपयोग नहीं किया गया है। राजनीतिज्ञ को दिमाग का उपयोग करने की जरूरत भी क्या है? तो यह बिल्कुल फ्रेश है, क्योंकि कभी भी इसका उपयोग नहीं हुआ। एक मील भी नहीं चला। बिल्कुल ताजा है। इसलिए इसके दाम ज्यादा हैं।
किसी दिन अगर मस्तिष्क बिकें तो राजनीतिज्ञों के मस्तिष्कों के दाम ज्यादा होंगे। जिस चीज का उपयोग न किया जाए, बंद पड़ जाती है। अगर एक घड़ी की गारंटी दस साल चलने की हो और आप चलाएं ही न, तो सौ साल चल सकती है। चल सकती है मतलब चलाएं ही न! जिस चीज का हम उपयोग नहीं करते उसके चारों तरफ अनुपयोग की एक आवरण, व्यवस्था निर्मित हो जाती है।
हम अपने जीवन में इस परमहंस-पन का जरा भी उपयोग नहीं करते। हम कभी सार
और असार में फर्क नहीं करते। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे हम भूल ही जाते हैं कि हमारे भीतर वह बैठा है जो जहर और अमृत को अलग कर सकता है।

ध्यान रहे, हम जहर को चुन ही इसीलिए पाते हैं, क्योंकि वह जो अलग करने वाला है, करीब-करीब निष्क्रिय पड़ा है। नहीं तो जहर को कोई चुन न पाए। अगर आपको दिखाई पड़ जाए कि सार क्या है और असार क्या है, तो क्या असार को चुन सकिएगा? सार को छोड़ सकिएगा? दिख गया तो बात समाप्त हो गई।
इसलिए सुकरात कहता थाः ज्ञान ही क्रांति है, ज्ञान ही आचरण है। अगर दिखने लगा कि यह पत्थर है, हीरा नहीं, तो उसको कैसे ढोइएगा! अगर समझ में आ गया कि यह नकली सिक्का है, असली नहीं, तो इसको तिजोरी में सम्हालकर कैसे रखिएगा! तिजोरी में तभी तक सम्हालकर रख सकते हैं जब तक वह असली मालूम पड़ता रहे।
जिंदगी की सारी बुराई, जिंदगी की सारी भूल--हमारे भीतर के वह जो परमहंस का सोया होना है, वही है। एक बार उसका आविर्भाव हो जाए तो गलत को छोड़ना नहीं पड़ता। गलत को जान लेना कि वह गलत है, गलत का छूट जाना हो जाता है। सही को पकड़ना नहीं पड़ता। सही का सही दिखाई पड़ जाना, सही का पकड़ना हो जाता है। गलत को कोई पकड़ ही नहीं सकता। वह असंभव है। अगर गलत को भी पकड़ना हो तो उसमें सही की भ्रांति पैदा करनी पड़ती है। और सही की भ्रांति पैदा करनी हो तो परमहंस का सोया होना जरूरी है।
तो ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूं।
इससे घोषणा से काम शुरू करता है। निश्चित ही यह पहला सूत्र होना चाहिए। यह पहला सूत्र होना चाहिए आध्यात्मिक ज्यामिति का कि मैं परमहंस हूं। क्योंकि फिर सार और असार में फर्क किया जा सकेगा, भेद किया जा सकेगा। दूसरे सूत्र में ऋषि कहता है, संन्यासी अंतिम स्थिति रूप चिह्न वाले होते हैं।
मैं परमहंस हूं। संन्यासी कौन है? संन्यासी वह है जो परमहंस के अंतिम चिह्नों वाला होता है। परमहंस के अंतिम चिह्न क्या हैं? परमहंस का पहला चिह्न क्या है? परमहंस का पहला चिह्न है, सार और असार में भेद। परमहंस का अंतिम चिह्न है, भेद भी नहीं, जीना। परमहंस का पहला चिह्न है, सार और असार के भेद का अभ्यास। परमहंस का अंतिम चिह्न है, अभ्यास भी नहीं।
साधारण साधक जब यात्रा शुरू करता है तो उस बात को करने की कोशिश करता है, जो ठीक है। उसको छोड़ने की कोशिश करता है, जो ठीक नहीं है। लेकिन साधक जब सिद्ध हो जाता है, तब हम ऐसा नहीं कह सकते कि सिद्ध, जो गलत है, उसको नहीं करता और जो सही है, उसको करता है। सिद्ध का अर्थ होता है कि वह जो करता है, वही सही है और जो नहीं करता, वही गलत है। अंतिम लक्षण। प्राथमिक लक्षण, जो सही है वह हम करेंगे, जो गलत है वह न करेंगे। अंतिम लक्षण, हम जो करेंगे, वही सही है, हम जो नहीं करेंगे, वही गलत है।
संन्यासी परमहंस के अंतिम लक्षण वाले होते हैं। वे वही करते, वे वही
कर पाते, वही उनका स्वभाव हो जाता, जो सही है।
रिंझाई एक फकीर हुआ जापान में। अपने गुरु से उसने पूछा कि सही क्या है, गलत क्या है? तो उसके गुरु ने कहा, मैं जो करता हूं उसका ठीक से निरीक्षण कर। जो मैं करता हूं, वह सही है, जो मैं नहीं करता, वह गलत है। रिंझाई ने अपने गुरु को कहा कि क्या आपसे कभी गलती नहीं होती? गुरु ने कहा, अगर मैं होता तो गलती हो सकती थी। वह आदमी अब न रहा जिससे गलती हो सकती थी। मैं बचा नहीं, जिससे गलती हो सकती थी। कौन करेगा गलती? मैं हूं नहीं। और अगर तुम सोचते हो कि परमात्मा गलती कर सकता है, तो फिर गलती ही सही है। हिम्मतवर लोग। इतना विनम्र आदमी था यह रिंझाई का गुरु। इतना विनम्र आदमी था कि जापान का सम्राट उत्सुक था किसी को गुरु बनाने के लिए। तो उसने न मालूम कितने साधु-संन्यासियों को बुलाया, लेकिन कोई उसे जंचा नहीं। फिर उसने बड़ी खोज की तो किसी ने उसे कहा कि एक ही आदमी है--रिंझाई का गुरु। ध्यान रहे, रिंझाई के गुरु का कोई नाम नहीं था, इसलिए मैं बार-बार कह रहा हूं, रिंझाई का गुरु। नाम नहीं था इस आदमी का। और वह आदमी कहता है कि मैं जो करता हूं, वही सही है, और मैं जो नहीं करता, वही गलत।
तो कहा कि एक आदमी है, लेकिन उसका नाम नहीं है। इसलिए उसको बुलाइएगा कैसे! और वह दरबार में आने को राजी होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। कभी तो वह झोपड़े में जाने को भी राजी हो जाता है, कभी वह राजमहल में भी जाने को राजी नहीं होता है। वह हवा-पानी की तरह है। उसका कोई भरोसा नहीं कि वह किस तरफ

बहने लगे। आपको ही जाना पड़ेगा। पर सम्राट ने कहा कि जिसका नाम नहीं है मैं पूछूंगा कैसे कि किसको खोज रहा हूं! तो सलाह देने वालों ने कहा कि यह है कठिनाई। लेकिन आप यही पूछते हुए खोजना कि मैं उसको खोज रहा हूं, जिसको खोजना बहुत मुश्किल है। शायद कोई बता दे। शायद कहीं वह मिल जाए।
सम्राट गया। गांव के बाहर पत्थर पर, एक चट्टान पर बैठा हुआ एक फकीर था। सम्राट ने उससे पूछा कि मैं उसको खोज रहा हूं जिसको खोजा नहीं जा सकता। कुछ पता बता सकते हो? उसने कहा, बहुत लंबी यात्रा है। वर्षों लग जाएंगे। मिल तो जाएगा वह आदमी, लेकिन वर्षों लग जाएंगे, खोजो। कब मिलेगा? तो उस फकीर ने कहा कि जब खोजने वाला भी मिट जाएगा। सम्राट ने कहा कि पागलों के चक्कर में पड़ गए। उसे खोजना है जो खोजा नहीं जा सकता, और तब खोज पाएंगे जब खुद ही मिट जाएंगे। लेकिन उस फकीर की आंखों ने मोह लिया और सम्राट उसकी बात मानकर खोज पर निकल गया। कहते हैं, तीस साल उसने खोज की। पूरे जापान का कोना-कोना खोज डाला। जहां फकीर, जहां संन्यासी, जहां साधु, भिखमंगों में, जहां-जहां उसे... ।
और तीस साल बाद अपने गांव वापस लौटा और उसी चट्टान पर वही फकीर बैठा था। सम्राट ने उसे देखा और पहचान लिया कि वह वही आदमी है जिसकी मैं खोज कर रहा हूं। उसने उसके पैर पकड़े और कहा कि तुम आदमी कैसे हो! अगर तुम ही थे वह, जो पहले दिन मुझे मिले थे, तो तीस साल मुझे भटकाया क्यों?
तो उस फकीर ने कहा, लेकिन तब मुझे तुम पहचान न सकते थे, क्योंकि तुम थे। परमात्मा के पास से भी आदमी को बहुत बार निकल जाना पड़ता है, क्योंकि सवाल तो पहचानने का है। यह तीस साल भटकना जरूरी था, ताकि तुम वहां पहुंच सको जो बिल्कुल निकट था, तुम्हारे गांव के बाहर ही था।
जिनका नाम नहीं, वे ऐसी घोषणा कर सकते हैं। जो इतने विनम्र हैं कि मिट
गए हैं, वे ऐसी घोषणा कर सकते हैं। ऋषि कहता है, परमहंस का अंतिम लक्षण क्या है? अंतिम चिह्न। अंतिम चिह्न यही है कि वे जो करते हैं, वही सही है; और वे जो नहीं करते हैं, वही गलत है।
यह बहुत खतरनाक वक्तव्य है, टू डेंजरस। और इसलिए जब उपनिषदों का अनुवाद पश्चिम में पहली बार हुआ, तो पश्चिम के विचारकों ने कहा कि इनको पश्चिम में लाना खतरनाक है, डेंजरस है। इनमें बहुत एक्सप्लोसिव, इनमें बहुत बारूद छिपी है। वह बारूद आपको आगे ख्याल में आएगी।
तीसरे सूत्र में ऋषि कहता है, कामदेव को रोकने में वे पहरेदार जैसे होते हैं।
वासना को रोकने में, काम को रोकने में वे पहरेदार जैसे होते हैं। क्या मतलब है इसका?
बुद्ध कहते थे कि अगर घर का मालिक जगा हो, तो चोर उसके घर में आने की हिम्मत नहीं जुटाते। घर में अगर दीया जला हो और प्रकाश हो, तो चोर उस घर से बचकर चलते हैं। घर के द्वार पर अगर पहरेदार बैठा हो, तो चोर फिर उस घर में प्रवेश पाने की अनुमति तो मांगने नहीं आते। चोर तो वहां प्रवेश करते हैं जहां पहरेदार नहीं हैं, जहां घर का मालिक सोया है और अंधेरा है।
ऋषि कहता है, ऐसे जो परमहंस की शक्ति को जगा लेते हैं, उनके भीतर सतत पहरा, कांस्टैंट विजिलेंस, सतत पहरा हो जाता है। उनके भीतर वासना प्रवेश नहीं करती। उनके भीतर कामना प्रवेश नहीं करती। उनके भीतर तृष्णा को रास्ता नहीं रह जाता।
ऐसा समझें तो आसान होगा, सोए हुए मन में ही वासना का प्रवेश हो सकता है, अंधेरे से भरे मन में ही वासना का प्रवेश हो सकता है। जहां विवेक अजागरूक है, वहीं वासना का प्रवेश हो सकता है। वासना प्रवेश ही वहां कर सकती है, जहां विवेक नहीं है। जैसे अंधेरा वहीं प्रवेश कर सकता है, जहां प्रकाश नहीं है।
तो इस परमहंस को जिसने भीतर जगा लिया है, वही संन्यासी है। उस संन्यासी के भीतर कामवासना प्रवेश नहीं करती।
ध्यान रहे, ऋषि यह नहीं कहता है कि संन्यासी वह है जो कामवासना पर नियंत्रण पा लेता है। ध्यान रहे, ऋषि यह नहीं कहता कि जिसने नियंत्रण पा लिया। जिसने नियंत्रण पा लिया उसके भीतर तो प्रवेश भलीभांति है। नियंत्रण पाने के लिए भी मकान के भीतर ही होना चाहिए। अगर कामवासना पर

नियंत्रण पाना है, तो भी उसे भीतर होना चाहिए आपके, तभी तो आप उस पर नियंत्रण पा सकेंगे। नहीं, ऋषि यह भी नहीं कहता कि संन्यासी संयमी होता है। क्योंकि संयम का क्या प्रयोजन है? संयम का तो वहीं प्रयोजन है, जहां असंयमित होने की आकांक्षा मौजूद हो।
ऋषि इतना ही कहता है कि जैसे पहरेदार बैठा हो और चोर भीतर प्रवेश नहीं करते, ऐसे ही उस व्यक्ति में वासनाएं प्रवेश नहीं करतीं। नहीं, ऐसा नहीं कि वह वासनाओं को हटाता है और निकालता है। बस वे प्रवेश नहीं करतीं। पर परमहंस जागे भीतर। सार और असार दिखाई पड़ने लगे, सार्थक और निरर्थक दिखाई पड़ने लगे, तो अपने आप उस प्रकाश के वर्तुल के भीतर कोई प्रवेश उस सबका नहीं होता, जिससे हम पीड़ित हैं।
दो उपाय हैं। एक उपाय है नैतिक व्यक्ति का। वह कहता है, गलत को हटाओ, सही को लाओ। एक उपाय है धार्मिक व्यक्ति का। वह कहता है, सिर्फ जागो, प्रकाशित हो जाओ। वह जो अंत में छिपा हुआ तुम्हारे भीतर प्रकाश-बीज है, उसे तोड़ दो। वह जो दीया है आवृत, उसे अनावृत कर दो। फिर बुरा नहीं आता, और जो आता है वह भला ही होता है। ये दो मार्ग हैं--एक मॉरलिस्ट का, नैतिकवादी का; एक धार्मिक का।
ध्यान रहे, धर्म और नीति के रास्ते बड़े अलग हैं। नीति के रास्ते से अनीति कभी समाप्त नहीं होती। धर्म के रास्ते से अनीति का कोई पता ही नहीं चलता। लेकिन नैतिक आदमी धर्म से भी डरता है। क्योंकि उसे डर लगता है कि अगर अनीति पर कोई नियंत्रण न रहे, तो फिर क्या होगा? उसे पता ही नहीं है कि चेतना की ऐसी दशा भी है जहां नियंत्रण की कोई जरूरत ही नहीं होती। चेतना की इतनी प्रबुद्ध स्थिति भी है, जहां विकार सामने आने की हिम्मत ही नहीं करते। इतना जागरूक व्यक्तित्व भी होता है, जहां अंधेरा निकट आने का साहस नहीं जुटा पाता। कोई नियंत्रण नहीं है।
संन्यास धर्म की परम आकांक्षा है। संन्यासी वह नहीं है जो नियंत्रित है, कंट्रोल्ड। संन्यासी वह नहीं है जिसने कि अपने ऊपर संयम थोप लिया। संन्यासी वह है जो इतना जागा कि संयम व्यर्थ हो गया, नियंत्रण की कोई जरूरत न रही।
यह ठीक से समझ लें, क्योंकि आगे के सूत्र बहुत ही क्रांतिकारी हैं और इसको समझेंगे तो ही ख्याल में आ सकेंगे। इसको ठीक से समझ लें, अन्यथा आगे के सूत्र कठिन हो जाएंगे। इसलिए उपनिषदों ने नीति की कोई बात नहीं की। ईसाइयों के पास टेन कमांडमेंट्स हैं और ईसाई बड़े गौरव से कह सकते हैं कि तुम्हारे उपनिषदों के पास एक भी कमांडमेंट नहीं, एक भी आदेश नहीं है। दस उनके पास सूत्र हैं--चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, झूठ मत बोलो--ऐसे दस सूत्र हैं।
एक मजाक मैंने सुनी है। सुना है कि परमात्मा उतरा और अनेक लोगों के पास गया। वह गया एक, सबसे पहले, एक राजनीतिज्ञ के पास। सोचा कि यह मान जाए तो बहुत लोग मान जाएंगे। परमात्मा ने उससे कहा कि मैं तुम्हें एक आदेश देने आया हूं, क्या तुम लेना चाहोगे? राजनीतिज्ञ ने पूछा कि पहले मैं जांच लूं कि आदेश है क्या? तो परमात्मा ने कहा, झूठ मत बोलो। तो राजनीतिज्ञ ने कहा, मर गए। अगर झूठ न बोलें तो हम मर गए। राजनीति का सारा धंधा झूठ पर खड़ा है। क्षमा करें, आप कोई और आदमी खोजें। यह आदेश हम न मान सकेंगे। परमात्मा पुरोहित के पास गया, क्योंकि राजनीतिज्ञ के बाद पुरोहित का प्रभाव है। परमात्मा ने उससे भी कहा कि आदेश मैं तुम्हें कुछ देने आया हूं। उसने कहा, कौन सा आदेश? परमात्मा ने कहा, पहला आदेश, झूठ मत बोलो। पुरोहित ने कहा कि अगर हम झूठ न बोलें, तो ये सारे मंदिर, मस्जिद, ये गिरजे, गुरुद्वारे--ये सब गिर जाएं। हमें खुद ही पता नहीं है कि तुम हो, फिर भी हम कहते रहते हैं कि तुम हो। हमें खुद ही पता नहीं है कि कोई मोक्ष है, फिर भी हम समझाते रहते हैं कि मोक्ष है, और लोगो जाओ! हमें खुद ही पता नहीं है कि पाप का कोई दुष्फल मिलता है, लेकिन हम लोगों को समझाते रहते हैं कि पाप का दुष्फल मिलता है, और पीछे के दरवाजे से हम पाप किए चले जाते हैं। नहीं, यह न हो सकेगा, यह तो हमारा पुरोहित का सारा धंधा ही गिर जाएगा। यह तो पुरोहित का धंधा ही झूठ पर खड़ा है। और जो पुरोहित जितनी हिम्मत से झूठ बोल सकता है उतना धंधा ठीक चलता है। हमारे धंधे में, पुरोहित ने कहा कि झूठ और सच में

एक ही फर्क है--हिम्मत से बोलने का। क्षमा करें, हम आपकी पूजा-प्रार्थना करते रह सकते हैं, लेकिन यह काम अगर हमने किया तो बड़ी गड़बड़ हो जाएगी।
ऐसे ईश्वर बहुत लोगों के पास भटका। वह व्यापारी के पास गया। वह वकील
के पास गया। उसने बहुत धंधों के लोगों से सलाह ली, कोई राजी न हुआ। कहते हैं, फिर वह मोजिज के पास गया, यहूदियों का जो प्रोफेट है मोजिज, मूसा के पास गया। यहूदियों के संबंध में आपको एक बात ख्याल दे दूं तो समझ में आ जाएगा।
यहूदी खरीदने-बेचने की भाषा में सोचते हैं, व्यापारी हैं, पक्के व्यापारी हैं। जिनके भी पास ईश्वर गया, उन्होंने पूछा, कौन सा आदेश? जब मूसा के पास गया, यहूदी मूसा के पास गया ईश्वर और उसने कहा कि मैं कुछ आदेश तुम्हें देना चाहता हूं, तो मूसा ने पूछा, कितने दाम होंगे? हाऊ मच इट विल कॉस्ट? यहूदी यही पूछेगा। जैनों के पास आता तो जैनी भी यही पूछता, हाउ मच इट विल कॉस्ट? ईश्वर ने कहा कि नहीं, कुछ भी कीमत नहीं, मुफ्त में दूंगा। तो मूसा ने कहा, देन आई विल टेक टेन। तब मैं दस ले लूंगा, क्या हर्जा है! अगर मुफ्त ही दे रहे हो तो दस दे दो। फिर एक की क्या बात है। इसलिए दस आदेश ईश्वर ने दिए--टेन कमांडमेंट्स।
लेकिन उपनिषदों के पास ऐसा कोई आदेश नहीं है--चोरी मत करो, बेईमानी मत करो, व्यभिचार मत करो--कोई आदेश नहीं है। एम्मॉरल, बिल्कुल नीतिशून्य है। कारण है। कारण यह है कि उपनिषद धर्मग्रंथ हैं, नीतिग्रंथ नहीं हैं। उपनिषद कहते हैं कि चोरी मत करो, यह तो चोरों से कहने की बात है। झूठ
मत बोलो, यह तो झूठों से बोलने की बात है। हम तो उस परम सत्य के अन्वेषण करने वाले हैं, जहां झूठ प्रवेश नहीं करता, जहां चोरी की कोई खबर नहीं मिलती। वहां इस सबकी चर्चा? इस सबकी कोई चर्चा का कारण नहीं है। हम तो उस परम ज्योति की तलाश कर रहे हैं, जहां नीति-अनीति का कोई सवाल नहीं उठता, जहां आदमी द्वंद्व के पार चला जाता है।
इसलिए, मैं परमहंस हूं, उपनिषद का ऋषि कहता है। और संन्यास परमहंस अवस्था में पूरी तरह थिर हो जाना है। यह कोई नैतिक धारणा नहीं, एक धार्मिक यात्रा है।

आज इतना ही।
कल हम और सूत्र लेंगे।

अब हम ध्यान के लिए तैयार होंगे। तो कुछ बातें समझ लें जो कल रात मैं आपसे नहीं पूरी कह पाया। दो-तीन सूत्र आपसे कह देने हैं, फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे।
रात मैं आपसे कहा कि सात दिनों के लिए--इंद्रिय-निग्रह। इंद्रियों का जितना कम उपयोग कर सकें, उतना हितकर है। बिल्कुल न करें, परम हितकर है। आंखें बंद रखें अधिकतम समय, ओंठ बंद रखें अधिकतम समय, कान बंद रखें अधिकतम समय। ये सात दिन बिल्कुल ही ध्यान के लिए दे दें। इसमें कोई और दूसरे विकल्प न रखें। घूमने भी मत जाएं, देखने भी मत जाएं। यह भी नहीं कि मंदिर देखने जाना है, और वह स्थान देखना है, और वह स्पॉट देखना है। उस पागलपन के लिए फिर कभी आएं। अभी यह पागलपन काफी है।
कोई दूसरी बात बीच में न खड़ी करें। हमारा मन बहुत कुशल है धोखा देने में। वह कहेगा कि कम से कम मंदिर के तो दर्शन कर ही आने चाहिए। नहीं, बिल्कुल नहीं, मंदिर भी नहीं। स्वभावतः, सिनेमागृह जाने की तो बात ही नहीं है, मंदिर भी नहीं। कहीं न जाएं, इस सात दिन तो अपने भीतर ही जाएं और सब यात्राएं बंद कर दें।
अगर मेरी मान पाएं तो आपको कहने का कारण नहीं रहेगा कि यह ध्यान हमें
कब होगा! अगर मेरी न मानें तो जिम्मा आपका है। मेरे पास आकर मत कहें कभी भी कि मुझे ध्यान नहीं होता। ध्यान तो होगा ही, यह तो वैज्ञानिक नियम की बात है। दो और दो आप जोड़ेंगे तो चार हो ही जाएंगे। लेकिन दो और दो ही न जोड़ें और फिर चिल्लाते फिरें कि चार नहीं होते हैं, तो इसमें फिर किसी का कसूर नहीं है।

इंद्रिय-निग्रह का पूरा ख्याल रखें। एक इंचभर भी व्यर्थ अपव्यय न हो शक्ति का, तो सात दिन में इतनी शक्ति इकट्ठी हो जाएगी कि हम उसका उपयोग कर लेंगे। उस शक्ति पर ही आपको बिठाकर अंतर्यात्रा पर निकाल देंगे।
भोजन भी कम से कम लें। क्योंकि भोजन के पचाने में हमारी ऊर्जा अधिकतम व्यय होती है। कम से कम लें। इतना लें कि आपको पता ही न चले कि आपने भोजन लिया है। बस, इतना ख्याल रखें। भोजन के बाद ऐसा न लगे कि भोजन ले लिया है, इतना भोजन लें। बस, इसको ही सूत्र मानें।
तो भोजन पचाने में ज्यादा आपकी शक्ति न लगे। ध्यान रहे कि जब भी भोजन पचता है तो मस्तिष्क की सारी ऊर्जा पेट पर चली जाती है। इसीलिए तो भोजन के बाद नींद आती है, क्योंकि मस्तिष्क की ऊर्जा नीचे उतर जाती है। और यहां तो हमें ध्यान का प्रयोग करना है, तो सारी ऊर्जा को मस्तिष्क की तरफ ले जाना है। वहीं से द्वार खुलना है। इसलिए कम से कम भोजन। ध्यान रखें उसका। तीसरी बात, जितनी शक्ति आपके भीतर हो उसमें इंचभर भी कृपणता न करें लगाने में। अगर उसमें कृपणता करेंगे, तो कई दफा ऐसा होता है कि आपने बिल्कुल लगा दी और जरा सी बचा ली, वह जो जितनी लगाई वह बेकार हो जाएगी, वह जो जरा सी बचाई उसकी वजह से। सवाल यह नहीं है कि आप कितना लगाते हैं, सवाल यह है कि आप पूरा लगाते हैं या नहीं।
समझ लें ऐसा कि एक आदमी के पास केवल दस मात्रा की शक्ति है और एक आदमी
के पास सौ मात्रा की शक्ति है। अगर सौ मात्रा की शक्ति वाले ने निन्यानबे मात्रा लगाई और दस वाले ने पूरी दस लगा दी, तो दस वाला प्रवेश कर जाएगा और निन्यानबे वाला पीछे छूट जाएगा। आप यह नहीं कह सकते कि मैंने निन्यानबे लगाई और इसने दस लगाई। सवाल यह नहीं है। टोटल, जितनी है आपके पास उतनी लगा दें। कितनी है, इसकी मैं पूछता नहीं। जितनी हो उतनी लगा दें। एक बात ध्यान रखें भीतर कि जब ध्यान में लगा रहे हों वह ताकत, तो ख्याल रखें कुछ भी बचाया नहीं है--कुछ भी!
निश्चित ही, बिल्कुल पागल हो जाना पड़ेगा। पागल हुए बिना कोई रास्ता नहीं है। लेकिन एक मजा है कि जब कोई आदमी स्वेच्छा से पागल होता है, तो कम से कम पागल की हालत होती है। और जब कोई आदमी मजबूरी में पागल होता है, पागल हो जाता है, तब ज्यादा से ज्यादा पागल की हालत होती है। जब आप अपनी ही मौज से पागल होते हैं तो आप कम से कम पागल होते हैं, क्योंकि भीतर का विवेक पूरा जागा रहता है। और अगर आप अपनी मर्जी से पागल होने को राजी नहीं तो किसी दिन आप पागल हो सकते हैं, लेकिन तब गैर-मर्जी से होंगे। उस वक्त आपके हाथ के बाहर होगी बात।
ध्यान में जो गुजरेगा पूरे पागलपन से उसकी जिंदगी में पागलपन कभी नहीं आ सकता। और जो ध्यान के पागलपन से गुजरने की हिम्मत नहीं जुटाता वह कभी भी पागल हो सकता है। पागल है, कमोबेश, मात्रा का फर्क होगा।
तो तीसरी बात, पूरी शक्ति लगा देनी है। यहां सुबह जो ध्यान होगा, उसके तीन चरण हैं प्रयोग के और चौथा चरण विश्राम का, चार चरण हैं।
पहले दस मिनट में आप आंख पर पट्टी बांध लेंगे, कान में रुई डाल देंगे,
दस मिनट में श्वास लेनी है। इतने जोर से श्वास लेनी है कि पूरे शरीर की ऊर्जा, एनर्जी श्वास की चोट से जग जाए। श्वास का हथौड़ी की तरह उपयोग करना है और भीतर चोट पहुंचानी है, भस्त्रिका जैसा। कोई नियमबद्ध नहीं। तेज श्वास लेनी, छोड़नी; लेनी, छोड़नी। दस मिनट बिल्कुल श्वास के साथ दा.ैडना-- भीतर, बाहर; भीतर, बाहर। दस मिनट में श्वास चोट करके शरीर के रोएं-रोएं में सोई हुई इलेक्ट्रिसिटी को जगा देगी।
और जब विद्युत जगेगी तो दूसरे चरण में शरीर में गति होनी शुरू होगी। कोई नाचने लगेगा, कोई कूदने लगेगा, कोई चिल्लाएगा, कोई रोएगा, कोई हंसेगा। उसे जोर से करना है दस मिनट। नाचें, गाएं, रोएं, चिल्लाएं, सारे जगत को भूल जाएं। अगर आपने दस मिनट पूरी गति से नाचना, चिल्लाना, रोना, हंसना, कूदना किया, तो आप दस मिनट में पाएंगे कि शरीर अलग और आप अलग हैं। वह जो भीतर परमहंस बैठा है वह देखने लगेगा कि शरीर नाच रहा है, हंस रहा है, कूद रहा है, आप अलग हो जाएंगे।
तीसरे चरण में--पिछले प्रयोग में हम यहां "मैं कौन हूं" का प्रयोग कर रहे थे--इस बार सिर्फ "हू" का प्रयोग करना है। हू की चोट, हुंकार, हू--हू--हू,

तेज चोट करनी है। क्योंकि मैं कौन हूं में मस्तिष्क थोड़ा सोचने लगता है, इसलिए उसे छोड़ दें। हू में सोचने का कोई उपाय नहीं है। यह कोई शब्द नहीं है सिर्फ आवाज है, जैसे ओम, ऐसा हू। और इस हू की चोट आपकी नाभि के नीचे तक जाएगी। ठीक चोट करेंगे तो ठीक नाभि के नीचे तक हू की चोट प्रवेश कर जाएगी। और वहां से धारा शक्ति की उठेगी और मस्तिष्क की तरफ दौड़ने लगेगी। तीसरे चरण में दस मिनट तक हू। तीनों चरणों में आपको बिल्कुल पागल हो जाना है। चौथे चरण में जैसे ही मैं कहूं कि शांत हो जाएं, फिर एकदम शांत हो जाना है। फिर एक क्षण भी नहीं रुकना। फिर मन कह भी रहा हो, आनंद भी आ रहा हो, तो भी रुक जाना है। फिर एकदम रुक जाना और दस मिनट के लिए मुर्दे की तरह पड़ जाना है जमीन पर। पड़ गए मुर्दे की तरह, मर गए दस मिनट के लिए। अगर दस मिनट में एक क्षण को भी मौत आपके भीतर आ गई, तो उसी द्वार से परमात्मा प्रवेश कर जाएगा।
यह अभी का प्रयोग। दोपहर को तीस मिनट कीर्तन करेंगे हम यहीं आकर। और तीस मिनट फिर बिल्कुल मौन में चले जाएंगे। फिर रात्रि की सूचना मैं आपको रात्रि दे दूंगा।
तो अपनी-अपनी जगह ले लें। हट जाएं थोड़े दूर-दूर। खड़े होकर प्रयोग होगा। दूर-दूर हट जाएं, ताकि सभी को कूदने-नाचने की पूरी सुविधा हो सके। यह तो बड़ा मैदान है, आप दूर-दूर हट जाएं और आनंद से नाच सकें इतनी फिकर कर लें। ... हां, दूर-दूर फैल जाएं, नहीं तो बाधा पड़ेगी। कोई आपको धक्का दे देगा। और कपड़े भी किसी को छोड़ने का मन आ जाए तो बिल्कुल छोड़ देना, उसकी फिकर न करें। पहले से किसी को छोड़ देना हो, वह पहले से उतारकर अलग रख दे। बीच में किसी को ख्याल आ जाए, फौरन कपड़े अलग कर दे, उसकी जरा चिंता न करे।
और कम तो कर ही दें, ताकि कपड़े की कोई बाधा न रह जाए।
... हां, आंख पर पट्टियां बांध लें, कान पर रुई ले आए हों तो रुई लगा लें, अन्यथा आज दोपहर को प्राप्त कर लें और कल सुबह से रुई कान में डाल लें।
ठीक है, आप तैयार हो जाएं। और अगर आपको कोई का धक्का लगे तो परेशान न हों, आप अपना काम जारी रखें, धक्के लग सकते हैं। लोग नाचेंगे, कूदेंगे, दौड़ेंगे, आप परेशान न हों उससे। आप अपना काम करें, दूसरों को अपना काम करने दें, दूसरों को भूल जाएं।
ठीक। अब मैं मान लेता हूं कि आपने आंख बांध लीं। अगर जो पट्टियां नहीं हैं जिनके पास वे भी आंख बंद रखें। आंख बिल्कुल नहीं खोलनी है चालीस मिनट तक।
शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
तीसरा प्रवचन

यात्रा--अमृत की, अक्षय की--निःसंशयता निर्वाण और केवल-ज्ञान की

गगन सिद्धान्तः अमृत कल्लोलनदी।
अक्षयं निरंजनम्।
निःसंशय ऋषिः।
निर्वाणो देवता।
निष्कुल प्रवृत्तिः।
निष्केवलज्ञानम्।
ऊर्ध्वाम्नायः।

उनका सिद्धांत आकाश के समान निर्लेप होता है,
अमृत की तरंगों से युक्त (आत्मारूप) उनकी नदी होती है।
अक्षय और निर्लेप उनका स्वरूप होता है।
जो संशय शून्य है वह ऋषि है।
निर्वाण ही उनका इष्ट है।
वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं।
वहां मात्र ज्ञान ही शेष है।
ऊर्ध्वगमन ही जिनका पथ है।

परमहंस के स्वरूप का इंगित और इशारा करते हैं।
ऋषि कहता है, उनका सिद्धांत आकाश की भांति निर्लेप है।
इस अस्तित्व में आकाश के अतिरिक्त और कुछ भी निर्लेप नहीं है। यहां सभी चीजें लिप्त हो जाती हैं, सिर्फ आकाश ही अलिप्त बना रहता है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है, तो फिर परमहंस, सिद्ध की जो चेतना की अवस्था है, वह कैसी निर्लेप होती है, वह ख्याल में आ सके।
आकाश में सभी चीजें हैं, बनती हैं, खोती हैं, रहती हैं, मिट जाती हैं, आकाश को उनका पता भी नहीं चलता। आकाश में सारे रंग प्रगट होते हैं, लेकिन आकाश बिना रंग के अन-रंगा रह जाता है। अंधेरा आता है, सुबह होती है, प्रकाश आता है, लेकिन आकाश न अंधेरे से बंधता और न प्रकाश से। आकाश अस्पर्शित रह जाता है, जो भी घटित होता है उससे। उसकी कोई रेखा आकाश पर नहीं छूटती। इसलिए आकाश के अतिरिक्त और निर्लेपता का कोई उदाहरण नहीं है।
आकाश का अर्थ है, स्पेस, खाली जगह। आप बैठे हैं, आपके चारों तरफ आकाश है। आपके भीतर भी आकाश है। एक बीज फूट रहा है, आकाश में जन्म ले रहा है। वृक्ष बनेगा आकाश में। कल मुर्झाएगा, वृद्ध होगा, जीर्ण-जर्जर होगा, आकाश में; गिरेगा, खो जाएगा, आकाश में। लेकिन आकाश पर कोई रूप-रेखा न छूट जाएगी। आकाश को पता भी नहीं चलेगा। पानी पर हम हाथ से रेखा खींचें तो बनती है, बनते ही मिट जाती है। पत्थर पर रेखा खींचें तो बनी रह जाती है। आकाश में रेखा खींचें तो खिंचती ही नहीं। आकाश पर कुछ भी अंकित नहीं होता।
इसलिए ऋषि कह रहा है, वे जो परमहंस हैं, उनका सिद्धांत आकाश की भांति निर्लेप है।
सिद्धांत! अगर सिद्धांत आकाश की भांति निर्लेप है, तो सिद्धांत मत नहीं हो सकता, ओपीनियन नहीं हो सकता। क्योंकि जहां मत है, वहां तो रेखा खिंच जाती है। जैसे आकाश में बादल घिर जाएं, ऐसे ही जब चेतना पर विचार घिर जाते हैं और चेतना उन विचारों को पकड़ लेती है, तो मत का, ओपीनियन का जन्म होता है। आकाश से बादल हट जाएं, खाली कोरा आकाश छूट जाए, जिसमें कुछ भी नहीं है--रिक्त, शून्य, ऐसे ही जब भीतर चेतना छूट जाती है, जिसमें कोई विचार के बादल नहीं होते, कोई बदलियां नहीं तैरतीं, जिसमें कोई मत नहीं होता, तब जो शून्य चेतना है, वहां जो होता है, उसे ऋषि ने कहा है, वही परमहंस का सिद्धांत है।

सिद्धांत का हम जैसा उपयोग करते हैं, वैसा उपयोग यह नहीं है। सिद्धांत से हमारा अर्थ होता है, प्रिंसिपल, मत, विचार। एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धांत जैन है; एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धांत बौद्ध है; एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धांत हिंदू है। लेकिन सिद्धांत हिंदू, बौद्ध और जैन नहीं हो सकता। तब तो आकाश बंट गया, तब तो आकाश लिप्त हो गया, तब तो आकाश के विशेषण हो गए।
सिद्धांत का तो अर्थ यह होता है कि अंत में जो सिद्ध होता है, अंततः जो सिद्ध होता है। जीवन जब अपने परम शिखर पर पहुंचता है, वहां जाकर जो सिद्ध होता है, वहां जिसका दर्शन होता है, उस सिद्धांत को आकाश की तरह निर्लेप कहा है।
इसलिए ऋषि किसी धर्म का नहीं होता। सभी धर्म ऋषियों से पैदा होते हैं, लेकिन ऋषि किसी धर्म का नहीं होता। न तो जीसस ईसाई हैं और न मोहम्मद मुसलमान हैं और न कृष्ण हिंदू हैं और न महावीर जैन हैं। मजे की बात लेकिन यह है कि महावीर से जैन विचार चलता है, मोहम्मद से इस्लाम का विचार चलता है। लेकिन मोहम्मद मुसलमान नहीं हैं, हो भी नहीं सकते।
फिर यह दुर्घटना क्यों घटती है कि ऋषि तो निर्लिप्त होता है आकाश की तरह, आग्रह शून्य होता है, विचार और मतांधता उसमें नहीं होती, सिर्फ दर्शन होता है उसके पास। उसे दिखाई पड़ता है, जो है। लेकिन जब ऋषि भी कहने जाता है, तो जो दिखाई पड़ता है, शब्दों में बंधता है और संकीर्ण हो जाता है। और जब हम सुनते हैं, जिन्हें कुछ भी पता नहीं है सत्य का, तो जो हम समझते हैं वह कुछ और ही होता है। जो ऋषि जानता है वह कुछ और है, जब ऋषि उसे कहता है तब वह कुछ और है, और जब हम उसे सुनते हैं तब वह कुछ और हो जाता है। और फिर हजारों साल की यात्रा करके वह सत्य से इतने दूर हो जाता है जितना कि असत्य ही होता है दूर, और कुछ भी नहीं।
महावीर से जैन-सिद्धांत उतने ही दूर हो जाता है, जितना सत्य से असत्य दूर हो जाता है, और मोहम्मद से इस्लाम उतने ही दूर हो जाता है, और जीसस से ईसाइयत उतनी ही दूर हो जाती है। हो ही जाएगी।
जो प्रक्रिया है, ऋषि तो देखता है। हो गया होता है सत्य के साथ एक। कोई बीच में पर्दा और दीवार नहीं रह जाती। लेकिन जब कहता है, तो शब्दों के पर्दे और दीवारें उठनी शुरू हो जाती हैं। इसलिए बहुत से ऋषि चुप रह गए और उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। लेकिन उससे कुछ हल नहीं होता, क्योंकि नहीं कहने से भी तो कहा नहीं जाता है। कहने से भी कहा नहीं जाता है, नहीं कहने से भी नहीं कहा जाता है। कहने से भूल का डर है, नहीं कहने से भूल का कोई डर नहीं है। लेकिन कहने में एक आशा भी है कि शायद कोई सुनने वाला भूल न करे। न कहने में वह आशा भी नहीं है। हजार लोगों से कहा जाए सत्य, हो सकता है एक समझ ले। वह एक की आशा में ही कहा गया है सत्य। नौ सौ निन्यानबे न समझ पाएं, गलत समझ जाएं, लेकिन न कहा जाए, तब तो हजार ही नहीं समझ पाएंगे, वह एक भी वंचित रह जाता है।
बुद्ध को ज्ञान हुआ तो बुद्ध को लगा कि जो जाना है उसे कहूंगा कैसे! इसलिए बुद्ध चुप रह गए। सात दिन तक वे चुप थे। बहुत मीठी कथा है कि देवताओं ने बुद्ध के चरणों में सिर रखे और बुद्ध से कहा कि जो तुमने जाना है वह कहो, क्योंकि बुद्ध जैसा पुरुष हजारों वर्षों में एक बार पृथ्वी पर आता है। हजारों वर्षों में कभी यह अवसर मिलता है कि अंधे भी प्रकाश की बात सुन सकें और बहरे भी संगीत से भर जाएं, लंगड़े भी चल सकें उस तरफ, मुर्दे भी जीवन की आशा से हरे हो जाएं। तुम बोलो।
पर बुद्ध ने कहाः जो मैंने जाना है, वह बोला नहीं जा सकता। और फिर मैं सोचता हूं कि मैं बोलूं भी, तो जो मुझे समझ पाएंगे, वे मेरे बिना बोले भी समझ जाएंगे। जो इस योग्य होंगे कि मुझे समझ पाएं, वे मेरे बिना बोले भी समझ जाएंगे। और जो मुझे बोलकर नहीं समझ पा रहे हैं, वे वे ही होंगे, जो मेरे बिना बोले भी नहीं समझ पाते। इसलिए मेरे चुप रह जाने में हर्ज क्या है? देवता बहुत व्यथित हुए, बहुत चिंतित हुए। उन्होंने आपस में बहुत मंथन-मनन किया। फिर बुद्ध से निवेदन किया कि लेकिन कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो बिल्कुल किनारे पर खड़े हैं, जस्ट ऑन द बाउंड्री। अगर आप न बोलें तो वे इसी पार रह जाएं, अगर आप बोलें तो वे एक कदम उठा लें और उस पार हो जाएं। आप ठीक

कहते हैं, देवताओं ने बुद्ध से कहा कि कुछ जो मुझे सुनकर समझ पाएंगे, वे मुझे बिना सुने भी समझ लेंगे। उनकी योग्यता इतनी है। कुछ जो मुझे बिना बोले नहीं समझ सकते, वे मुझे सुनकर भी गलत समझ लेंगे। उनकी अयोग्यता इतनी है।
लेकिन, देवताओं ने कहा, इन दोनों के बीच में भी कुछ लोग हैं, जो आप नहीं बोलेंगे तो शायद इसी पार रह जाएंगे और आप बोलेंगे तो शायद उस पार हो जाएंगे। बिल्कुल किनारे पर हैं। जैसे पानी निन्यानबे डिग्री पर उबलता हो, आपके हाथ की गर्मी भी उसे सौ डिग्री कर देगी। वह भाप बन सकता है। माना कि जो बर्फ है, वह आपके हाथ को ही ठंडा करेगा। और यह भी माना कि जो सौ डिग्री पर पहुंच ही गया है, उसको आपके हाथ की गर्मी की भी कोई जरूरत नहीं, वह भाप बन ही जाएगा। लेकिन इन दोनों के बीच में भी कुछ हैं, उन पर कृपा करें।
और बुद्ध को कुछ सूझा नहीं और बुद्ध को राजी होना पड़ा--उनके लिए बोलने को, जो शायद दोनों के बीच में हों। ऋषियों ने सदा उनके लिए ही बोला है, जो दोनों के बीच में हैं।
पर ऋषियों ने सिद्धांत कहे हैं--मत नहीं, वाद नहीं, इज्म नहीं। केवल वही कहा है जो जीवन का परम रहस्य है। वह ऋषियों का विचार नहीं है, वह ऋषियों का अनुभव है। अनुभव और विचार में थोड़ा फर्क होता है, उसे समझ लें। विचार होता है उस चीज के संबंध में जिसका हमें कोई पता नहीं। अगर आपसे कोई पूछे कि ईश्वर के संबंध में आपका क्या विचार है? तो आप जरूर कोई विचार देंगे। आप कहेंगे, मैं मानता हूं ईश्वर को; या आप कहेंगे कि मैं नहीं मानता हूं ईश्वर को। लेकिन ये दोनों आपके विचार हैं। न तो जो मानता है, उसे पता है; और न उसे पता है, जो नहीं मानता है। वे एक ही गड्ढे में खड़े हैं। उन्होंने अपने गड्ढे का नाम अलग-अलग रख छोड़ा है। वे एक ही से अंधेरे में खड़े हैं। लेकिन जो जानता है, वह यह नहीं कहेगा कि मैं मानता हूं या नहीं मानता हूं। वह कहेगा, मैं जानता हूं।
एक बहुत बड़े वैज्ञानिक, लापलेस, ने पांच ग्रंथों में नेपोलियन के समय में विश्व की पूरी व्यवस्था के बाबत एक किताब लिखी। वह किताब अनूठी है-- पूरे ब्रह्मांड के बाबत! बड़ी किताब है। नेपोलियन ने किताब को उलटा-पलटा, देखा। वह चकित हुआ कि पांच खंडों में हजारों पृष्ठों की किताब है विश्व के संबंध में, लेकिन ईश्वर का एक जगह भी नाम भी नहीं आया। लापलेस को उसने बुलाया राजमहल अपने दरबार में और कहा कि किताब अदभुत है और तुमने श्रम किया है, जीवनभर लगाया है, लेकिन मैं सोचता था कि विश्व के संबंध में जो इतनी गहन किताब है, उसमें कहीं तो ईश्वर का उल्लेख होगा। तो ईश्वर शब्द का भी उल्लेख नहीं है एक बार। खंडन के लिए भी नहीं। यह भी लापलेस ने नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है।
लापलेस ने कहा कि ईश्वर की जो हाइपोथीसिस है, परिकल्पना है, ईश्वर का
जो विचार है, उसकी मुझे जगत को समझाने के लिए कोई जरूरत नहीं। द हाइपोथीसिस ऑफ गॉड इ.ज नाट रिक्वायर्ड टु एक्सप्लेन द यूनिवर्स। नेपोलियन का प्रधानमंत्री पास में बैठा हुआ था। वह भी गणितज्ञ और विचारक था। उसने कहा कि भला ईश्वर की परिकल्पना, हाइपोथीसिस--हाइपोथीसिस पीछे मैं समझाऊंगा कि क्या अर्थ होता है--भला ईश्वर की परिकल्पना तुम्हारे लिए विश्व को समझाने के लिए जरूरी न हो, बट द हाइपोथीसिस इ.ज ब्यूटीफुल, एंड एक्सप्लेन्स मेनी थिंग्स। खूबसूरत है, सुंदर है वह परिकल्पना, और बहुत सी चीजों को समझाने के लिए उपयोगी है। मैं तो ईश्वर में मानता हूं, उसने कहा। लापलेस ने कहा कि मैं तो ईश्वर में नहीं मानता हूं।
नेपोलियन ने पूछा कि तुम दोनों में मुझे कोई फर्क नहीं मालूम पड़ता! तुम दोनों ही कहते हो, द हाइपोथीसिस ऑफ गॉड। तुम दोनों ही कहते हो, ईश्वर की परिकल्पना। तुम दोनों ही कहते हो, ईश्वर का विचार। एक कहता है, मैं नहीं मानता हूं, कोई जरूरत नहीं है। दूसरा कहता है, मैं मानता हूं, जरूरत है। लेकिन तुम दोनों में से कोई भी यह नहीं कहता कि मैं जानता हूं, ईश्वर है। जरूरत है। कुछ चीजें समझाने में आसानी पड़ती है। अगर कल हमें कोई दूसरी परिकल्पना मिल जाए, जो और अच्छे ढंग से समझा सके, तो हम ईश्वर को उठाकर बाहर कर दे सकते हैं। परिकल्पना का अर्थ होता है, सर्वाधिक अब तक

उपलब्ध विचारों में उपयोगी। कल ज्यादा उपयोगी मिल जाए, तो उसे हम हटा देंगे। इसलिए विज्ञान अपनी परिकल्पना रोज बदल लेता है। कल तक एक काम करती थी परिकल्पना... ।
फिर परिकल्पना का अर्थ है सिर्फ हाइपोथेटिकल, सिर्फ हमने कल्पना की
है कि यह सत्य है, हमें पता नहीं है। लेकिन कल्पना करने से, इसको सत्य मान लेने से, कुछ उलझी बातों को सुलझाने में आसानी होती है। कल अच्छी कल्पना मिल जाएगी, तो हम इसे हटाकर रिप्लेस कर देंगे, उसे इसकी जगह रख देंगे। नेपोलियन ने ठीक कहा कि मेरे मित्रो, जहां तक मैं समझता हूं, तुममें कोई विवाद नहीं है--यू बोथ ऐग्री इन वन थिंग, दैट गॉड इ.ज ए हाइपोथीसिस। तुम एक बात में दोनों राजी हो कि ईश्वर एक परिकल्पना है। एक कहता है, उपयोगी नहीं है; एक कहता है, उपयोगी है। लेकिन विवाद गहरा नहीं है। ईश्वर है, ऐसा तुम दोनों नहीं कहते हो।
ऋषि यह नहीं कहता कि ईश्वर की परिकल्पना उपयोगी है। ऋषि यह भी नहीं कहता कि ईश्वर है। ऋषि कहता है, जो है, उसका नाम ईश्वर है। ऋषि ऐसा भी नहीं कहता कि ईश्वर है, क्योंकि जिसे भी हम कहें, है, वह नहीं है भी हो सकता है। हम कहते हैं, वृक्ष है, कल नहीं हो जाएगा। हम कहते हैं, नदी है, कल सूख जाएगी। हम कहते हैं, जवानी है, कल बुढ़ापा आ जाएगा। हम कहते हैं, सौंदर्य है, कल कुरूप हो जाएगा। जो भी है, वह नहीं होने की संभावनाओं को भीतर लिए है। इसलिए ऋषि यह भी नहीं कहते कि ईश्वर है। वे नहीं कहते कि गॉड एक्झिस्ट्स। वे कहते हैं, जो है, उसका नाम ईश्वर है। दैट व्हिच एक्झिस्ट्स इ.ज गॉड। जो है, उसका नाम ईश्वर है।
यह बड़ी और बात है। इसका अर्थ हुआ कि ईश्वर अर्थात अस्तित्व। ईश्वर अर्थात होना। जो भी है, वह ईश्वर है। ईश्वर और सब चीजों की तरह एक चीज नहीं है, और सब वस्तुओं की तरह एक वस्तु नहीं है। ईश्वर होने का गुण है। इसलिए ऋषि तो कहेंगे, ईश्वर है, ऐसा कहना पुनरुक्ति है, रिपिटीशन है। क्योंकि ईश्वर का मतलब होता है है, इ.जनेस, और है का भी मतलब होता है, ईश्वर।
ऐसे परम सिद्धांत को कहना बड़ा कठिन है। ईश्वर, अस्तित्व, परम सत्य-- उसे जानना तो उतना कठिन नहीं है, बहुत कठिन है, उतना कठिन नहीं जितना उसे कहना कठिन है। क्योंकि कहते ही उन शब्दों का सहारा लेना पड़ता है, जो पूर्ण को कहने के लिए नहीं बने हैं, जो अपूर्ण को कहने के लिए बने हैं।
पर ऋषियों का जो सिद्धांत है, वह मत नहीं, विवाद नहीं, वाद नहीं, हाइपोथीसिस नहीं, वह उनकी अनुभूति है। यह अनुभूति आकाश जैसी निर्लेप है। इसमें विचार का कोई भी आवरण नहीं है। यह खुले मुक्त आकाश जैसा है।
आप जब आकाश की तरफ देखते हैं, तो आकाश नीला दिखाई पड़ता है। तो आप सोचते होंगे कि आकाश का रंग नीला है, तो आपने गलती कर दी। आकाश का कोई रंग नहीं है। नीला आपको दिखाई पड़ता है। दिखाई पड़ता है आपको नीला, आकाश का कोई रंग नहीं है। आपको नीला दिखाई पड़ने का कारण हवाएं हैं। बीच में हवाओं की पर्तें हैं दो सौ मील तक। सूर्य की किरणें इन दो सौ मील तक हवाओं में प्रवेश करके भ्रांति पैदा करती हैं नीलिमा की। इसलिए जैसे ही इन दो सौ मील के पार उठ जाता है अंतरिक्ष में यात्री, आकाश रंगहीन हो जाता है, कलरलेस हो जाता है।
आकाश में कोई रंग नहीं है, लेकिन हमारी आंख आकाश में रंग डाल देती है। उसे भी नीला कर देती है। अस्तित्व में भी कोई रंग नहीं है। लेकिन हमारे विचार और हमारी देखने की दृष्टि उसमें भी रंग डाल देती है। हम वही देख लेते हैं जो हम देख सकते हैं; वह नहीं, जो है।
लेकिन ऋषि तो वही देखते हैं, जो है। अगर वही देखना है, जो है, तो अपनी आंखों से छुटकारा चाहिए। अगर वही सुनना है, जो है, तो कानों से छुटकारा चाहिए। यह बात बड़ी उलटी लगेगी कि बिना आंखों के देखेंगे कैसे, बिना कानों के सुनेंगे कैसे! और मैं कह रहा हूं कि वही देखना है, जो है, तो आंख बीच में नहीं चाहिए, नहीं तो आंख बीच में उपद्रव पैदा करती है।
कभी आप प्रयोग करें, तो समझ में आ जाएगा।
जब पहली दफा गैलेलियो ने दूरबीन बनाई, खुर्दबीन बनाई, जिनसे दूर की चीजें देखी जा सकती हैं और पास की चीजें अनंत गुनी बड़ी हो जाती हैं, तो गैलेलियो की खबर उड़ गई; लोगों ने कहा कि यह आदमी कुछ चकमा दे रहा है। ऐसा

कहीं हो सकता है! चीजें जितनी बड़ी हैं, उतनी बड़ी हैं। अगर एक पत्थर तीन इंच का है, तो तीन इंच का है; वह हजार इंच का कैसे दिखाई पड़ सकता है! और अगर दिखाई पड़ सकता है, तो कोई धोखा है। और खुली आंख से जो तारे हैं, वे दिखाई पड़ते हैं। अगर दूरबीन से ऐसे भी तारे दिखाई पड़ते हैं जो खुली आंख से दिखाई नहीं पड़ते, तो कहीं जरूर कोई धोखा है।
बड़े-बड़े पंडित और यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर गैलेलियो की दूरबीन से देखने को राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा, तुम्हारी दूरबीन हमें धोखा दे सकती है। जो राजी हुए, वे देखकर हट गए। उन्होंने कहा, इसमें कुछ चालबाजी है। क्योंकि जिस चेहरे को हम कहते थे, सुंदर और प्रीतिकर है, वह तुम्हारी खुर्दबीन से ऐसा दिखाई पड़ता है, जैसे ऊबड़-खाबड़ जमीन है। अगर चेहरे को बड़ा कर दिया जाए, तो आपके चेहरे के छोटे-छोटे छेद बड़े गड्ढे हो जाते हैं। सुंदर से सुंदर स्त्री ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे पहाड़ी स्थान पर यात्रा कर रहे हैं। बहुत घबड़ाने वाला मालूम होता है।
लेकिन अब तो दूरबीन और खुर्दबीन स्वीकृत हो गईं। अब बड़ी मुश्किल है। आंख जो कहती है, वह सच है? या दूरबीन जो कहती है, खुर्दबीन जो कहती है, वह सच है? सच में आंख जिस चेहरे को कहती है सुंदर, वह सुंदर है? या खुर्दबीन तो और गहरा देखती है, आंख से ज्यादा देखती है, वह आंख के ही देखने की क्षमता को बड़ा कर देती है, तो वह जो चेहरा दिखाई पड़ता है, वह सही है?
फिर अब एल.एसड़ी. का आविष्कार हुआ है। अगर एल.एसड़ी. ले लें तो जो स्त्री बिल्कुल ही बदशक्ल मालूम पड़ती है, वह भी खूबसूरत मालूम पड़ सकती है। हक्सले ने जब पहली दफे एल.एसड़ी. लिया--एक रासायनिक द्रव्य जो आदमी को गहरी, गहरी सम्मोहन तंद्रा में ले जाता है--तो उसके सामने रखी हुई साधारण कुर्सी उसे इतनी खूबसूरत मालूम होने लगी जितनी मजनू को लैला कभी भी मालूम नहीं हुई होगी। वह बहुत घबड़ाया। क्योंकि कुर्सी से ऐसे रंग निकलते मालूम पड़ने लगे और कुर्सी ऐसी प्रीतिकर लगने लगी कि उसने कहा कि अगर कोई भी महानतम काव्य लिखा जा सकता है, अगर कालीदास और शेक्सपीयर को फिर से पैदा होना हो, तो इस कुर्सी के सामने बैठकर लिखना चाहिए। यह बड़ी प्रेरक है। एल.एसड़ी. का नशा उतर गया, कुर्सी वही की वही हो गई। सही क्या था? वह जो एल.एसड़ी. के प्रभाव में दिखाई पड़ा था वह? या जो खाली आंख से दिखाई पड़ा वह?
नहीं, ऋषि कहते हैं, चाहे खुर्दबीन से देखो और चाहे आंख से देखो, जब तक किसी माध्यम से देखोगे, तब तक जो भी दिखाई पड़ेगा, वह माध्यम से ही निर्धारित होता है। मीडियमलेस! अगर उसे देखना है, जो है, तो फिर बीच में कोई माध्यम नहीं चाहिए।
याद आता है मुझे कि मुल्ला नसरुद्दीन अपने जीवन के अंतिम दिनों में
एक सम्राट का प्रधानमंत्री हो गया था। महीने दो महीने में विश्राम के लिए वह पास के एक हिल स्टेशन पर, एक पहाड़ी जगह पर चला जाता था, जहां उसने एक बंगला बना रखा था। सम्राट थोड़े दिनों में चकित हुआ। क्योंकि नसरुद्दीन कभी कहकर जाता कि मैं बीस दिन में लौटूंगा, तो पांच दिन में लौट आता। कभी कहकर जाता कि पांच दिन में लौटूंगा, तो बीस दिन लगा देता। तो सम्राट ने पूछा कि बात क्या है? तुम कहकर जाते हो, उस समय से वापस नहीं लौटते! तुम्हारे लौटने का ढंग क्या है? किस हिसाब से लौटते हो?
नसरुद्दीन ने कहा कि अगर आप पूछते ही हैं, तो किसी को बताना मत तो मैं अपना हिसाब बता दूं। सम्राट ने कहा, ऐसा कुछ गुप्त है? नसरुद्दीन ने कहा कि बहुत गुप्त है। मैंने एक नौकरानी रख छोड़ी है उस बंगले पर, पहाड़ पर। वह कोई सत्तर साल की बूढ़ी है। दांत उसके एक बचे नहीं। एक आंख पत्थर की है। एक टांग लकड़ी की है। शरीर ऐसा है, जो कभी का मर जाना चाहिए था। जब वह औरत मुझे सुंदर मालूम पड़ने लगती है, तब मैं भाग खड़ा होता हूं। पांच दिन लगें, सात दिन लगें, दस दिन लगें, जैसे ही मुझे वह औरत सुंदर मालूम पड़ने लगती हैं, मैं समझता हूं, अब यहां से भाग जाना चाहिए।
हो सकता है। हो सकता है नहीं, होता है। तो नसरुद्दीन ने कहा कि अब यह कोई पक्का तय करना पहले से मुश्किल है। कभी वह मुझे पांच दिन में सुंदर मालूम पड़ने लगती है, तो मैं अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर वहां से भाग खड़ा होता हूं। कभी दस दिन भी लग जाते हैं, कभी बीस दिन भी लग जाते हैं। लेकिन

मापदंड मेरा यही है। तब मैं समझता हूं कि अब होश अपने हाथ से गया। अब यहां से हट जाना चाहिए।
एल.एसड़ी. भीतर से पैदा हो जाता है। बाहर से ही लेने की जरूरत नहीं है, भीतर भी पैदा होता है। सारा का सारा, जिसको हम सेक्सुअल अट्रैक्शन कहते हैं, कामुक आकर्षण कहते हैं, वह कुछ भी नहीं है, आपके ग्लैंड्स में बहने वाले रस हैं, केमिकल्स हैं, और कुछ भी नहीं है। अगर आपके शरीर से थोड़ी सी ग्रंथियां और रसों को पैदा करने वाले सूत्र अलग कर लिए जाएं, आपको स्त्री सुंदर दिखाई पड़नी बंद हो जाएगी। कोई भी स्त्री सुंदर दिखाई पड़नी बंद हो जाएगी। कोई भी पुरुष सुंदर दिखाई पड़ना बंद हो जाएगा। आपको नहीं दिखाई पड़ता। आपके और जो दिखाई पड़ता है उसके बीच में रस की एक धार आ जाती है। वह रस की धारा--वह चाहे एल.एसड़ी. बाहर से लिया जाए, चाहे भीतर से पैदा हो जाए। भीतर भी, आदमी के भीतर भी हिप्नोटिक ड्रग्स पैदा होते हैं। जवानी में उसी तरह के पागलपन पैदा होते हैं। वही मूर्च्छा पकड़ लेती है।
ऋषि कहते हैं, माध्यम से जब भी कुछ देखा जाएगा--किसी भी माध्यम से--तो माध्यम भी विकार पैदा करेगा। तो वह जो निर्लेप आकाश जैसा सिद्धांत है, उसे तो तभी देखा जा सकता है, जब देखने वाले ने अपने देखने के सब साधन छोड़ दिए-- सब साधन छोड़ दिए, आल इन्सट्रूमेंट्स आफ विजन। न अपने कान का उपयोग करता है सुनने के लिए, न अपनी आंख का उपयोग करता है देखने के लिए, न अपने हाथ का उपयोग करता है छूने के लिए।
ध्यान रहे, ध्यान की गहराई में वह दिन आ जाता है, जब बिना छुए स्पर्श होता है और बिना आंख के दिखाई पड़ता है और बिना कान के स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं। जो बिना कान के सुनाई पड़ता है, उसे ऋषियों ने अनाहत कहा है। जो बिना आंख के दिखाई पड़ता है, उसे ऋषियों ने अगोचर कहा है। जो बिना हाथ के जिसका स्पर्श हो जाता है, उसे ऋषियों ने अमूर्त कहा है। लेकिन उस अनुभव के पहले स्वयं भी आकाश जैसा निर्मल और निर्लेप हो जाना जरूरी है। सारी इंद्रियां हट जाएं बीच से, तो भीतर वह जो चेतना का आकाश है, मुक्त हो जाता है और बाहर के आकाश से एक हो जाता है।
उनका सिद्धांत आकाश के समान निर्लेप है।
अमृत की तरंगों से युक्त... ।
जैसे अमृत की तरंगों से भरी हुई सरिता हो, ऐसी उनकी आत्मा है। कठिन होगा हमें समझना। हम तो यहां से समझना शुरू करें तो आसान होगा कि दुख की तरंगों से भरा हुआ सब कुछ, नरक की लपटों से भरा हुआ सब कुछ, ऐसी हमारी स्थिति है। वहां अमृत का तो कहीं कोई पता नहीं चलता, सिर्फ जहर ही जहर मिलता है। सुख की तो कोई अनुभूति नहीं होती, दुख ही दुख के कांटे सारे जीवन में चारों तरफ से चुभ जाते हैं। सुख का कोई फूल खिलता नहीं। तो जिस ऋषि की यह बात की जा रही है, जिन ऋषियों की यह बात की जा रही है कि अमृत की तरंगों से भरी हुई जैसे कोई सरिता हो, ऐसी उनकी चेतना है, यह हमारे ख्याल में न आएगा। कुछ भी रास्ता हमें न सूझेगा कि हम कैसे समझें इसे।
हम तो जानते हैं मृत्यु को, अमृत को तो नहीं जानते। हम जानते हैं दुख को, आनंद को तो हम नहीं जानते। हम जानते हैं विषाद को, पीड़ा को; आह्लाद को, अहोभाव को तो हम नहीं जानते। हमारा सारा अनुभव नरक का है।
ठीक इससे विपरीत हो सकता है। हमारे नरक में ही सूचना छिपी है इसके विपरीत होने की। दुख का हमें अनुभव ही इसीलिए होता है कि हमारी चेतना दुख के लिए निर्मित नहीं है। अगर हमारी चेतना दुख ही होती, तो हमें दुख का अनुभव न होता। अनुभव सदा विपरीत का होता है। इसे ठीक से ख्याल में ले लें। अनुभव सदा विपरीत का होता है। अगर मुझे दुख का अनुभव होता है, तो उसका अर्थ ही यही है कि मेरे भीतर कोई है, जिसका स्वभाव दुख नहीं है। नहीं तो अनुभव न होता। अगर मेरे भीतर जो है, उसका स्वभाव भी दुख है, तो बाहर का दुख आता और मिल जाता और एक हो जाता। मैं और धनी हो जाता। मैं और संपत्तिशाली हो जाता। पीड़ा न होती, परेशानी न होती, चिंता न होती। अंधेरे में थोड़ा अंधेरा और आकर मिल जाता, तो कौन सी खलल पड़ती! जहर में थोड़ा जहर और आ जाता, तो क्या जहर की मात्रा बढ़ने से कुछ परेशानी होती!
नहीं, परेशानी विपरीत के कारण होती है। वह जो भीतर हमारे छिपा है, वह परम आनंद स्वभावी है। जरा सा दुख छिद जाता है कांटे की तरह। वह जो हमारे

भीतर छिपा है, वह अमृतघन है। इसलिए मौत, कितना ही भुलाओ, भूलती नहीं। वह चारों तरफ से घेरकर खड़ी हो जाती है और दिखाई पड़ती है। अगर सच में ही हमारे भीतर भी मौत होती, तो हमें मौत का कोई भय भी न होता, मौत की कोई चिंता भी न होती। अगर हम मौत ही होते, तो मौत और हमारे बीच तो एक संगति होती, एक तारतम्य होता, एक हारमनी होती। लेकिन हमारे भीतर जीवन है, और इसलिए मौत से एक संघर्ष है, एक सतत संघर्ष है।
और भी मजे की बात है कि आप रोज लोगों को मरते देखते हैं और साधु-संत आपको समझाते फिरते हैं कि देखो, इतने लोग मर रहे हैं, तुम भी मरोगे, अपनी मौत को स्मरण करो। फिर भी हमारे भीतर न मालूम क्या है कि कितना ही लोगों को मरते देखो, यह ख्याल कभी नहीं आता कि मैं भी मरूंगा। सामने कोई मरा पड़ा है, तो भी हम कहते हैं, बेचारा मर गया। लेकिन ऐसा ख्याल नहीं आता कि मैं भी मरूंगा। इसे हम बहुत समझाने की भी कोशिश करें अपने को, तो भी समझ में नहीं आता। कुछ बातें हैं, जो समझ में आ ही नहीं सकतीं।
मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन काफी हाउस में बैठकर बात कर रहा था और अपने मित्रों को कह रहा था कि कुछ ऐसी बातें हैं, जो मानी ही नहीं जा सकतीं, जो असंभव हैं। उन मित्रों ने पूछा कि उदाहरण के लिए एकाध। तो मुल्ला ने कहा, जैसे, जैसे कल मैं रास्ते से निकल रहा था। अंधेरा था, एक दरवाजे के पास दो व्यक्ति खड़े होकर बात कर रहे थे कि सुना है हमने, मुल्ला नसरुद्दीन मर गया। मैंने भी सुना, लेकिन मुझे भरोसा न आ सका। कैसे भरोसा आ सकता है? जानकर आप हैरान होंगे कि जो लोग बिना किसी पीड़ा के चुपचाप मर जाते हैं, उन्हें मरने के बाद भी कई घंटे लग जाते हैं भरोसा करने में कि वे मर गए। इसलिए हमने इंतजाम किया है कि जैसे ही कोई मर जाता है, सारा घर छाती पीटकर रोता है, चिल्लाता है, अर्थी बांधी जाने लगती है। बैंड-ढोल बजने लगता है, ले जाने की तैयारी शुरू हो जाती है। ज्यादा देर नहीं करते, जल्दी मरघट पहुंचाते हैं उसे, जलाते हैं। इसके पीछे कारण है। इसके पीछे कारण है ताकि उस चेतना को पता हो जाए कि उसका शरीर से संबंध टूट गया, और जिसे उसने अब तक जाना था कि मैं था, वह मर चुका है।
गड़ाने से यह फायदा नहीं होता। इसलिए जिन्होंने आत्मा और मृत्यु के संबंध में सर्वाधिक खोज की है--इस मुल्क के लोगों ने--उन्होंने गड़ाने पर जोर नहीं दिया। हां, सिर्फ संन्यासी को गड़ाते हैं, क्योंकि उसको तो पहले ही से पता है। उसे जलाने से कुछ नया पता नहीं चलेगा। वह जलने के पहले भी जानता है कि जो जलने वाला है, वह जलेगा। इसलिए सिर्फ संन्यासी को हम गड़ाते हैं, या छोटे बच्चों को गड़ाते हैं। बाकी को हम जलाते हैं। छोटे बच्चों को भी इसीलिए गड़ाते हैं कि वे भी अभी इतने भोले हैं कि शायद अभी जीवन ने उन्हें विकृत नहीं किया होगा। संन्यासी को भी इसीलिए गड़ाते हैं कि वह फिर इतना भोला हो गया है कि जीवन ने जो विकार दिए थे, वे पोंछ दिए गए। लेकिन बाकी को हमें जलाना पड़ता है।
असल में हम इतने जोर से अपने शरीर के साथ बंधे हैं कि जब तक कोई हमारे शरीर को जलाकर राख न कर दे, तब तक हमें भरोसा न आएगा कि यह शरीर हमारा था और अब नहीं है, समाप्त हो गया।
हिंदू अदभुत हैं इस अर्थ में इस पृथ्वी पर। उन्होंने कुछ गहनतम बातें खोजी हैं। बाप मर जाता है, तो उसके बड़े लड़के से उसका सिर तुड़वाते हैं। यह बड़ा कठोर और क्रूर मालूम पड़ता है। बिना सिर फोड़े भी जलना हो सकता है। सिर फोड़ने की क्या जरूरत है? और यह काम नौकर-चाकर से भी लिया जा सकता है। गांव में बाप के कोई दुश्मन भी होंगे, उनको आनंद भी आ सकता था, उनसे लिया जा सकता है। यह उसके बेटे से ही करवाने का? और हिंदुस्तान में बाप रोते थे इसलिए कि अगर बेटा न हुआ, तो अंतिम क्रिया कौन करेगा। इसलिए बेटे को पैदा करते थे कि वह अंतिम जो क्रिया है, कपाल-क्रिया, सिर तोड़ने की, वह बेटा करेगा। क्यों? इन्हें कुछ सूत्र पता थे।
शरीर तो जलेगा ही, इसके साथ एक और तरकीब और एक साधना का क्रम कि वह बेटा ही बाप के सिर को तोड़ देगा, जिसने जन्म दिया था इस बेटे को। वह उसकी मृत्यु में सहयोगी होगा। उसके मरने की पूरी घटना करवा देगा, ताकि वह जो बाप की छूटती हुई चेतना है, वह संबंधों के आग्रह से भी छूट जाए। अपना-पराया मानने का ख्याल भी भूल जाए। कौन मित्र है, कौन शत्रु है, यह भी छूट जाए। कौन

बेटा है, कौन बेटा नहीं है, यह भी छूट जाए। संबंध जो पकड़ लेते हैं, वह राग भी टूट जाए। इस मृत्यु में हमने उसका भी उपयोग किया था। और जब बाप ने इतनी कृपा की कि जन्म दिया, तो बेटा अब जन्म तो दे नहीं सकता बाप को, उऋण होगा कैसे? मृत्यु दे सकता है। सर्किल पूरा हो जाता है। बड़ा कठोर है यह, लेकिन पीछे कुछ गणित है।
यह जो हमें स्मरण नहीं आता कि हम मर जाएंगे, यह सिर्फ अज्ञान के कारण नहीं है। यह वस्तुतः इसलिए स्मरण नहीं आता कि भीतर हमारे वह है, जो नहीं मर सकता है। हमारे ऊपर कुछ है, जो मरेगा, और हमारे भीतर कुछ है, जो नहीं मरेगा। और जब हम दूसरे को मरते देखते हैं तो उसके ऊपर का ही मरते देखते हैं, भीतर का तो हमें कुछ पता नहीं चलता। वह हमारे भीतर जो अमृत है, वह कैसे माने। वह नहीं मान पाता। लाखों मौत घट जाएं, तो भी भीतर कोई कहे चला जाता है कि आप मर गए होंगे, लेकिन मैं अपवाद हूं, मैं नहीं मरूंगा। यह अज्ञान के कारण ही नहीं है सिर्फ। गहरे में तो कारण यही है कि भीतर कुछ है, जो मरना जिसका स्वभाव ही नहीं है।
कितना ही दुख मिल जाए, तो भी हम सुख की आशा बांधे चलते हैं। उसका भी कारण यही है कि कितना ही दुख मिल जाए, जो मेरा स्वभाव नहीं है, वह मेरी नियति नहीं बन सकती, वह मेरा अल्टीमेट, आखिरी रूप नहीं हो सकता। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, इस जन्म में नहीं अगले जन्म में, कभी न कभी मैं उसे तो पा ही लूंगा, जो मेरा स्वभाव है। इसलिए आनंद की अनंत खोज चल रही है।
ऋषि कहता है, वे जो परमहंस हैं, अमृत की तरंगों से युक्त जैसे कोई सरिता हो, ऐसी उनकी चेतना है।
ध्यान रहे, लेकिन ऋषि कहता है, अमृत की तरंगों से युक्त। यह जो जीवन की भीतर धारा है, डायनेमिक है, स्टैगनेंट नहीं है--गत्यात्मक है, सरिता की तरह है, सरोवर की तरह नहीं। भरे हुए तालाब की तरह नहीं है, जिसमें पानी भरा है। एक बहती हुई नदी की तरह है--उफनती, दौड़ती, भागती, जीवंत। ध्यान रहे, सरोवर अपने में बंद और कैद होता है, और सरिता सागर की खोज पर होती है। सागर की तरफ जो दौड़ है, वही तो सरिता का रूप है। उस सागर की तरफ जो खिंचाव है, कशिश है, वही तो सरिता का जीवन है।
तो ऋषि कहता है, अमृत की तरंगों से भरी हुई सरिता जैसी जिसकी चेतना है,
जो निरंतर गत्यात्मक है, गतिमान है, अगम की खोज में, अनंत की खोज में भागा चला जा रहा है।
और ध्यान रहे, यह मत सोचना आप कि जब सरिता सागर में गिरती है, तो खोज समाप्त हो जाती है। सरिता सागर में गिरती है, हमारे लिए मिट जाती है, लेकिन सरिता तो सागर में और गहरे, और गहरे, और गहरे डूबती ही चली जाती है। तट छूट जाते हैं, सरिता की सीमा मिट जाती है, लेकिन सागर की गहराइयों का कोई अंत नहीं है। खोज चलती ही चली जाती है। छोटी लहरें बड़ी लहरें हो जाती हैं। अमृत के तूफान आने लगते हैं, अमृत का सागर हो जाता है; लेकिन खोज चलती ही चली जाती है।
यह खोज अनंत है, क्योंकि ईश्वर को कभी चुकता नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई क्षण नहीं आ सकता कि कोई आदमी कह दे कि नाउ आई पजेस, अब मेरी मुट्ठी में है ईश्वर। हां, ऐसा एक क्षण जरूर आता है, जब खोजी कहता है कि अरे, ईश्वर ही बचा, मैं कहां गया! मैं कहां हूं अब! वह जो खोजने निकला था, खो गया है; और जिसे खोजने निकला था, वह हो गया है। बड़ी दुर्घटना की बात है कि व्यक्ति का और परमात्मा का कभी मिलन नहीं होता। क्योंकि जब तक व्यक्ति होता है, तब तक परमात्मा प्रकट नहीं हो पाता; और जब परमात्मा प्रकट होता है, तो व्यक्ति खोजे से मिलता नहीं। उसके साथ एक हो गया होता है। इसलिए अनंत खोज की प्रतीक चेतना की धारा ऋषि ने कही है।
अक्षय और निर्लेप उसका स्वरूप है।
अक्षय और निर्लेप उसका स्वरूप है। उस चेतना का, उस अंतरात्मा का स्वरूप है अक्षय। कितनी ही गति हो, क्षय नहीं होता। कितनी ही यात्रा हो, ऊर्जा समाप्त नहीं होती। कितना ही चलो--अथक, थकता नहीं। वह जो भीतर है, जरा भी क्षीण नहीं होता। अनंत है स्रोत उसका। कितना ही उलीचो, चुकता नहीं है। अक्षय है, क्षय नहीं होता। उस चेतना का कोई क्षय नहीं है। और जिसका कोई क्षय नहीं है, वह निर्लेप ही हो सकती है, क्योंकि क्षय तो लेप का होता है।

इसे थोड़ा समझ लें।
हमारे ऊपर जिन-जिन चीजों की पर्तें हैं, उनका क्षय होता है। शरीर की पर्त है, वह क्षय होगी। आज जवान है, कल बूढ़ा होगा। आज युवा है, कल वृद्ध होगा। आज शक्तिशाली है, कल जर्जर होगा। आज चलता है, कल नहीं चल सकेगा। आज उठता है, कल गिरेगा--मिट्टी से एक हो जाएगा। डस्ट अनटू डस्ट, धूल में धूल मिल जाएगी।
मन भी एक पर्त है, उसका भी क्षय होता है। वह भी क्षीण होता चला जाता है। पर्तें सदा क्षीण हो जाती हैं, क्योंकि वे ऊपर से चढ़ाई गई हैं, वे अलग हो जाती हैं; जोड़ी गई हैं, टूट जाती हैं; संयुक्त की गई हैं, वियुक्त हो जाती हैं। लेकिन भीतर जो है, जो पर्त नहीं स्वभाव है, स्वरूप है, जो मैं हूं, जो सदा से हूं मैं, जिससे अन्यथा मैं कभी भी नहीं था और जिससे अन्यथा मैं कभी भी नहीं होऊंगा, उसका कोई क्षय नहीं होता।
बुद्ध से कोई पूछता है कि मैं मरूंगा तो नहीं! तो बुद्ध कहते हैंः जो तुम्हारे भीतर मरा ही हुआ है, वह मरेगा। और जो तुम्हारे भीतर कभी जन्मा ही नहीं है, उसके मरने का सवाल क्या है!
एक है हमारे भीतर जो जन्मा है; जो जन्मा है, वह मरेगा। जब एक छोर हो गया, तो दूसरा छोर भी अनिवार्य है। आप एक ऐसा डंडा नहीं खोज सकते जिसमें एक ही छोर हो। और अगर किसी दिन खोज लें, तो समझना कि जो जन्मा है, अब नहीं मरेगा।
नहीं, दूसरा छोर होगा ही! जब एक छोर है, तो दूसरा छोर होगा ही। असल में
एक छोर हो ही नहीं सकता, दूसरे छोर के साथ ही होता है। जो जन्मा है वह मरेगा, जो मरा है वह जन्मता रहेगा। क्या कुछ ऐसा भी है भीतर, जो जन्मा नहीं है? अगर उसका पता चल जाए, तो उसका भी पता चल जाता है जो मरता नहीं। निश्चित ही, ऐसा भीतर कुछ है। लेकिन गहरे उतरना पड़े, पर्तों के पार उतरना पड़े। और हम तो पर्तों के इतने रखवाले हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं। अब कोई ध्यान करता है। जरा उसका कपड़ा सरक जाता है, तो वह जल्दी से पहले कपड़ा सम्हालता है। ध्यान नहीं सम्हालता। कपड़ा सम्हालने में ध्यान चूक जाता है, उसकी फिक्र नहीं है। वह सस्ती चीज है, वह खोई जा सकती है। कपड़ा जल्दी से सम्हाल लेता है, वह बड़ी कीमती चीज है। इसको बचाना जरूरी है। बहुत दीन है आदमी। अपने हाथ से दीन है। छुद्र को बचाता रहता है। जो मिटेगा, उसे बचाता रहता है। जिसका कोई भी मूल्य नहीं है, उसको तिजोरियों में ताले लगाकर रखता रहता है। और जो अमूल्य है। वह बाहर पड़ा रहता है सड़क पर। उसको कोई पूछता भी नहीं!
कभी-कभी मैं देखता हूं कि कितनी छोटी चीजें बाधा बन जाती हैं। कपड़ा बचाता है आदमी, शरीर बचाता है आदमी। किसी का धक्का लग जाता है, तो वह बचकर निकल जाता है; ध्यान के बाहर दूर जाकर बैठ जाता है। धक्का लग गया, इस शरीर को कितने दिन बचाइएगा? और धक्के से बचाने से क्या सोचते हैं, आखिरी धक्का नहीं लगेगा? अच्छा है, छोटे-मोटे धक्के का अभ्यास रखें, तो आखिरी लगेगा तो बहुत घबड़ाहट नहीं होगी। बिल्कुल बचा-बचाकर रखा, तो बहुत मुश्किल पड़ेगी। और धक्का तो लगेगा ही। इसे बचाया नहीं जा सकता। क्षुद्र... !
धूप तेज हो गई, तो ध्यान छोड़ देता है आदमी कि धूप तेज है। क्या फर्क पड़ेगा? थोड़ा पसीना बह जाएगा। थोड़ी चमड़ी काली पड़ जाएगी। आज नहीं कल, कोयला बनने वाली है वह चमड़ी। और आप इतना बचाते हैं धूप से और कल उसे आपके ही सगे- संबंधी आग में जला देंगे।
पर हम पर्तों को बचाने में लगे हैं, जो नहीं बचाई जा सकतीं। और जो सदा बचा हुआ है, उसकी हमें खबर ही नहीं मिलती। हम इसी में उलझे-उलझे नष्ट हो जाते हैं। कितने जन्म हम गंवाते हैं!
ऋषि कहता है, अक्षय है वह।
उसकी ही खोज करो, जो अक्षय है। जो अक्षय को पा लेता है, वही धनी है; बाकी सब निर्धन हैं। क्योंकि उसने उसे पा लिया, जिसे अब चोर चुरा नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, शस्त्र छेद नहीं सकते, मारा नहीं जा सकता, मिटाया नहीं जा सकता। अब, अब कोई भय न रहा। और जब भी कोई अक्षय की धारा में उतर जाता है, तो वह पाता है वहां सब निर्लेप है। वहां कोई विकार नहीं है।

सब विकार पर्तों के हैं और पर्तें बिना विकार के नहीं हो सकतीं, इसे समझ लें। अगर मुझे अपने शरीर पर धूल चिपकानी हो, तो पहले मुझे तेल लगाना पड़े, नहीं तो धूल का चिपकना मुश्किल है। क्योंकि धूल और शरीर के बीच में कुछ स्निग्ध होना चाहिए, कुछ राग होना चाहिए, कुछ चिपकने वाला होना चाहिए, जो जोड़ दे। अगर आपको शरीर के साथ अपने को जोड़े रखना है, तो वासना चाहिए, कामना चाहिए, तृष्णा चाहिए, इच्छा चाहिए। ये बीच की स्निग्धताएं हैं, जिनसे जोड़ बनेगा। अगर ये बिल्कुल सूख जाएं... ।
इसलिए तो बुद्ध और महावीर परेशान हैं--छोड़ दो तृष्णा, छोड़ दो वासना, छोड़ दो इच्छा। क्यों? क्योंकि ये बीच से छूट जाए, तो वह जो धूल की पर्त है चारों तरफ, उससे जोड़ टूट जाए।
लेकिन हम पर्तों को सम्हाले रखते हैं। पर्तों को सम्हालने के लिए उस सारे इंतजाम को भी सम्हालना पड़ता है जिससे पर्तें हमसे जुड़ी रहती हैं। इसलिए हमें निर्लेप का कोई पता नहीं चलता। पर्तों के साथ तो विकारों का ही पता चलता है, क्योंकि विकार ही पर्तों को जोड़ते हैं। अगर विकार सब छूट जाएं, तो पर्तें सब छूट जाएं, उनके साथ ही अलग हो जाएं। जोड़ने वाला बीच का तत्व न रह जाए, तो जो अलग है वह अलग गिर जाए, जो मैं हूं वही बच रहूं।
इसलिए ऋषि कहता है, वह अक्षय है, निर्लेप है।
जो संशय से शून्य है, वही ऋषि है।
और संशय से शून्य है जो, वही ऋषि है। संशय से शून्य होना ऋषि का सार अंश है। लेकिन संशय तब तक नहीं मिटता, जब तक इस अक्षय का अनुभव न हो। अनुभव के बिना संशय नहीं मिटता। ध्यान रखें, श्रद्धा से नहीं मिटता, आस्था से नहीं मिटता, विश्वास से नहीं मिटता। संशय मिटता ही नहीं किसी उपाय से सिवाय अनुभव के। कितना ही मैं कहूं कि आग में जलाए जाएंगे आप, आप नहीं जलेंगे। आप कहेंगे, क्या कह रहे हैं! भला मान लें मेरी बात, फिर भी आग में कूदने को तैयार नहीं होंगे। और अगर तैयार होंगे, तो कारण मेरी बात नहीं होगी, कारण कुछ और होगा।
सुना है मैंने कि हिटलर से मिलने एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ गया था युद्ध
के पहले। देखने कि हिटलर ने तैयारी क्या की है। तो एडोल्फ हिटलर उसे अपने कमरे में ले गया। उसके कमरे के बाहर--कमरा था उसका सातवीं मंजिल पर--कोई दस सिपाही पहरा देते थे। एडोल्फ हिटलर ने कहा कि तुम ब्रिटिशर्स झंझट में मत पड़ो, क्योंकि मेरे पास ऐसे आदमी हैं, जो मेरी आवाज पर जान दे सकते हैं। और उसने नंबर एक के सिपाही से कहा, कूद जा। वह सात मंजिल से कूद गया। वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तो घबरा गया। उसने दूसरे सिपाही से कहा, कूद जा। वह दूसरा सिपाही सात मंजिल से कूद गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तो कंप गया। अगर ये सैनिक हैं इसके पास, तो ब्रिटेन न टिक सकेगा। हिटलर ने तीसरे सैनिक से कहा----।
उस राजनीतिज्ञ ने कहा, रुको, यह कर क्या रहे हो? रुको, मैं मान गया, मान गया, काफी है इतना, पर्याप्त है। और पास जाकर उसने तीसरे सैनिक से पूछा, इतनी उतावली क्या है? इतनी जल्दी मरने की तैयारी क्या है? तो उस सैनिक ने कहा, अगर हम जी रहे होते, तो कौन मानता इस आज्ञा को। लेकिन इस आदमी के साथ जीने से सात मंजिल से कूदकर मर जाना बेहतर है।
कारण दूसरा ही है। तो अगर आप मेरी मानकर आग में कूद जाएं, तो मैं नहीं मानूंगा कि मेरी मानकर कूद गए। कारण कुछ और ही होगा। क्योंकि श्रद्धा, आस्था, भरोसा, विश्वास, सब ऊपरी है। जब तक स्वयं ही पता न चले उसका, जो अमृत है, तब तक आग में कूदते वक्त संशय बना ही रहेगा। पता नहीं इस आदमी ने जो कहा, ठीक है या नहीं? पता नहीं उपनिषद के ऋषि जो कहते हैं, ठीक है या नहीं? दूसरे का कहा हुआ सदा ही संशय रहेगा। रहेगा ही। कोई उपाय नहीं है। स्वयं का जाना हुआ ही निस्संशय में ले जाता है। ऋषि वही है, जो स्वयं जान लेता है।
इसलिए कहा है, निस्संशय हो जाना, संशय रिक्त, शून्य हो जाना ऋषि का लक्षण है।
ठीक लक्षण है। यही पहचान है। अगर कभी किसी ऋषि के पास होने का मौका मिले, तो पहली बात एक ही खोजना, और वह यह कि उसे कोई संशय तो नहीं है! वह कभी

सवाल तो नहीं पूछता! वह कभी प्रश्न तो नहीं उठाता! वह अभी भी कहीं जाता तो नहीं पता लगाने कि सत्य क्या है?
ऋषि निस्संशय है; जो उसने जाना है, उससे उसके संशय गिर गए हैं। अब कोई प्रश्न नहीं उठता, निष्प्रश्न है। अब भीतर कोई सवाल नहीं है। कोई जवाब की खोज भी नहीं है।
निर्वाण ही उसका इष्ट है।
निस्संशय उसका चित्त है, निर्वाण उसका इष्ट है। एक ही लक्ष्य है उसका
कि मिट जाए, कैसे मिट जाए। हम सबका लक्ष्य है कि हम कैसे बच जाएं--किस तरकीब से। अगर हम धर्म की तरफ भी जाते हैं, तो बचने के लिए। अगर हम शास्त्र भी पढ़ते हैं, तो इसी आशा में कि शायद कोई रास्ता मिल जाए बचने का। अगर हम यह भी श्रद्धा कर लेते हैं कि आत्मा अमर है, तो इसीलिए ताकि मरना न पड़े। ठीक ही कहते होंगे ये लोग। अगर ये ठीक नहीं कहते, तो मरना पड़ेगा।
इसलिए जितनी कमजोर कौमें हैं, आत्मा की अमरता में जल्दी विश्वास कर लेती हैं। और आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाली कौमें जमीन पर कमजोर सिद्ध हुई हैं। उनमें संगति है। हम ही हैं। हमसे ज्यादा भयभीत और डरे हुए लोग जमीन पर खोजने मुश्किल हैं। और हमसे ज्यादा आत्मवादी भी खोजने मुश्किल हैं। इन दोनों में कोई तालमेल नहीं है। इन दोनों में कोई भी तालमेल नहीं है, क्योंकि आत्मवादी का तो अर्थ ही यही होगा कि अब मृत्यु नहीं रही, तो भय किसका? लेकिन हमारे मुल्क को हजार साल तक गुलाम रखा जा सकता है। हाथ में हथकड़ियां और हम अपना शास्त्र पढ़ते रह सकते हैं कि आत्मा अमर है।
आत्मा अमर है, ऐसा मानने से कुछ भी नहीं होता, जानने चलना पड़ता है। निश्चित ही जानना दूभर है, कठिन है। एक अर्थ में असंभव जैसा है--जैसे हम हैं, उसको देखते हुए। हम एक छलांग लेने की हिम्मत नहीं जुटा पाते, एक कदम उठाने में डरते हैं। जिस सीढ़ी को पकड़ लिया, उसे ऐसा पकड़ते हैं कि फिर उसे कभी छोड़ना नहीं चाहते। जहां खड़े हैं, वह जमीन से हटना नहीं चाहते।
और ऋषि कहता है कि ऋषियों का लक्ष्य, इष्ट ही निर्वाण है। बुझ जाना निर्वाण है। लक्ष्य ही यही है कि कब मिट जाऊं।
क्यों, मिटने के लिए ऐसी आतुरता क्यों है? क्योंकि ऋषि जानता है कि वही मिट सकता है, जो मिटने वाला है। वह तो मिटेगा नहीं, जो मिट नहीं सकता।
इसलिए मिटकर देख लूं कि क्या मेरा है और क्या मेरा नहीं है। वह साफ हो जाए। वह निर्णय हो जाए। मैं मरकर देख लूं, ताकि निर्णय हो जाए कि क्या था जो मेरा था, और क्या था जो मेरा नहीं था। मृत्यु ही निर्णायक होगी।
इसलिए ध्यान मृत्यु का प्रयोग है। समाधि मृत्यु का अनुभव है। इसलिए
हम संन्यासी की कब्र को समाधि कहते हैं। उसकी कब्र को हम समाधि इसीलिए कहते हैं, क्योंकि उस आदमी ने मरने के पहले ही जान लिया था कि क्या मरने वाला है और क्या नहीं मरने वाला है। उसे नहीं मरने वाले का पता था।
इष्ट क्या है साधक का? आप आए लंबी यात्रा करके यहां, किसलिए? अगर मुझसे पूछें तो मैं कहूंगा, इसीलिए, ताकि लौटते वक्त आप न बचें। आए भला हों, जाते वक्त जाने वाला न बचे। जाएं जरूर, भीतर सब खाली हो जाए। वह जिसे लेकर आए थे, उसे यहीं दफना जाएं, तो ध्यान पूरा हुआ, तो ध्यान में गति हुई। अगर आप ही लौट गए वापस, तो ध्यान में कोई प्रवेश न हुआ।
इष्ट यही है कि मैं मिट जाऊं, ताकि परमात्मा ही शेष रह जाए। और मजा यह
है कि जब तक मैं बचा हूं, तभी तक मैं उससे जुड़ा हूं, जो मिटेगा। और जिस दिन मैं मिट जाता हूं, मैं उससे जुड़ जाता हूं, जिसका कोई मिटना नहीं है।
वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं।
अब जो मिट ही गए, वहां उपाधियां क्या होंगी? क्योंकि सब उपाधियां "मैं" के आसपास इकट्ठी होती हैं, वह "मैं" का दरबार है। अहंकार के आसपास सब बीमारियां इकट्ठी होती हैं। अहंकार ही चला गया, तो दरबारी अपने आप चले जाते हैं। उनकी कोई जगह नहीं रह जाती। अपदस्थ हो जाते हैं।
उपाधि एक है। वह मेरे होने का मुझे जो ख्याल है, वही मेरी उपाधि है, वही मेरी बीमारी है। फिर उस बीमारी में लोभ इकट्ठा होता है, क्योंकि मुझे बचाना है अपने को, तो लोभ करना पड़ता है। फिर उस बीमारी में भय आता है, हिंसा आती है। फिर उस बीमारी में काम आता है, वासना आती है, तृष्णा आती है। फिर

हजार उपाधियां चारों तरफ खड़ी हो जाती हैं। उस "मैं" को बचाने के लिए यह सारा सुरक्षा का इंतजाम है। लेकिन जब मैं ही मिटने को राजी हो गया, तो इस इंतजाम की कोई जरूरत नहीं रह जाती। यह पूरा इंतजाम गिर जाता है।
वे उपाधियों से मुक्त हैं।
वहां ज्ञान मात्र ही शेष रह जाता है--निष्केवलज्ञानम्।
बस केवल ज्ञान ही शेष रह जाता है। यह महावीर को बहुत प्यारा शब्द था-- केवल ज्ञान। बस मात्र ज्ञान ही शेष रह जाता है। वहां न ज्ञाता बचता है-- जानने वाला, नोअर; न वहां वह बचता है जो जाना जाता है--नोन; वहां तो केवल नोइंग बच जाती है, जानना ही बच जाता है। मैं भी मिट जाता हूं, तू भी मिट जाता है। फिर सिर्फ बीच में जो चेतना की जीवंत धारा है, ज्योति है, वही बच जाती है। कहें कि अभी जब भी हम जानते हैं, तो वहां तीन होते हैं--मैं होता हूं जानने वाला, आप होते हैं, जो जाना जाता है और दोनों के बीच का संबंध होता है, जिसे हम ज्ञान कहते हैं।
ऋषि जब मिट जाते हैं, इष्ट को उपलब्ध हो जाते हैं, निर्वाण को पा जाते हैं, उपाधियां गिर जाती हैं, तो वहां न जानने वाला बचता है, न जाना जाने वाला बचता है--न ज्ञाता और न ज्ञेय--बस ज्ञान ही शेष रह जाता है। वही ज्ञान इस अस्तित्व का परम स्वरूप है। ज्ञान मात्र, जस्ट नोइंग।
ध्यान उसी की तरफ एक-एक कदम चढ़ने का उपाय है। ध्यान है सीढ़ी ज्ञान की। ध्यान है दोहरा प्रयोग। इस तरफ गिराना है मैं को, उपाधियों को, तैयारी करनी है मिटने की, खो जाने की; और उस तरफ जैसे-जैसे मैं खोऊंगा, मिटूंगा, ज्ञान का आविर्भाव होगा। ज्ञाता तो नहीं बचेगा, तब ज्ञान बचता है।
और ऊर्ध्वगमन ही उनका पथ है।
और निरंतर ऊपर उठते जाना ही उनका मार्ग है। देखा है दीया, भागती रहती
है ज्योति ऊपर की तरफ। देखी आग, भागती रहती है ऊपर की तरफ। कैसा ही करो, उलटा-सीधा, भागती है ऊपर की तरफ। पानी भागता है नीचे की तरफ। चढ़ाना हो ऊपर, तो बहुत इंतजाम करना पड़ता है, तब ऊपर चढ़ता है। इंतजाम छोड़ दें, फिर नीचे उतर जाता है। आग को नीचे की तरफ बहाना हो, तो बहुत इंतजाम करना पड़े। ऊपर स्वभाव से जाती है।
शरीर का स्वभाव नीचे की तरफ है, पदार्थ का स्वभाव नीचे की तरफ है। चेतना का स्वभाव ऊपर की तरफ है। ऐसा समझ लें कि आदमी एक दीया है, मिट्टी का दीया। उसमें मिट्टी भी है, उसमें एक ज्योति भी है जलती हुई, उसमें तेल भी भरा है। वह मिट्टी का दीया जमीन की कशिश से चिपका रहता है। वह दीया टूट जाए, तो तेल नीचे की तरफ बह जाता है। लेकिन वह ज्योति सदा ऊपर की तरफ भागती रहती है।
ऋषि उसे कहते हैं, जिसने अपने मिट्टी के दीए के साथ तादात्म्य तोड़ लिया, जिसने तेल के साथ संगम छोड़ दिया, जिसने केवल ऊपर भागती हुई ज्योति को ही अपना स्वरूप जाना।
ऊर्ध्वगमन ही उनका पथ है।
ऊपर, और ऊपर, और ऊपर वे चलते चले जाते हैं।

आज इतना ही।

अब हम रात के ध्यान में जाएंगे तो दो मिनट सूचनाएं सुन लें, समझ लें।
बैठें, अभी उठें न। पहले दो मिनट सूचनाएं समझ लें, फिर उठें।
रात के ध्यान के पहले, दोपहर के ध्यान के संबंध में दो बातें आपसे कह दूं। आज दोपहर का प्रयोग, बहुत ठीक जैसा हो सकता था, नहीं हो पाया। दो कारणों से। मजबूरी है, मैं समझता हूं, भीतर इतना भाव भर जाता है कि वह प्रगट होना चाहता है, इसलिए मौन नहीं हो सका पीछे। तो कल दूसरा इंतजाम करना पड़ेगा।
पंद्रह मिनट कीर्तन चलेगा। और इसीलिए मैंने कहा कि कीर्तन में खड़े मत रहें, पूरी शक्ति लगाकर उलीच डालें। नहीं तो जो बच रहेगा वह पीछे मौन न होने देगा। और कीर्तन के बाद मौन का इसीलिए प्रयोग रख रहे हैं ताकि पहले आप खाली हो जाएं, उलीच दें और फिर शांत हो जाएं।

तो पंद्रह मिनट कल कीर्तन चलेगा। उसके बाद पंद्रह मिनट आपको स्वतंत्रता रहेगी और उलीचने की। जो भी मन में आता हो--नाचना, कूदना, चिल्लाना, गाना, रोना, हंसना--वह आप कर लें। फिर पीछे तीस मिनट पूर्ण मौन रहेगा। उसमें फिर जरा सी भी आवाज नहीं चाहिए, जरा सी भी। और ध्यान रखें, आप उसमें आवाज करें तो आप अपना नुकसान करते हैं, दूसरे का भी नुकसान करते हैं। बिल्कुल आवाज नहीं। फिर तीस मिनट मुर्दे की तरह पड़े रहें।
दूसरी बात, दोपहर के प्रयोग में कुछ लोग दर्शक की तरह भीतर बैठ गए, वे नहीं बैठने चाहिए। जिनको करना हो वही... । जिनको नहीं करना, वे दूर पहाड़ी पर बैठ जाएं, वहां न बैठें। उससे उन्हें भी नुकसान है और दूसरों को भी नुकसान है।
नुकसान गहरे हैं। जहां इतने लोगों के भीतर के भाव, विकार, बीमारियां, मानसिक रोग फिंक रहे हों बाहर, वहां कोई खाली बैठा रहे तो वह रिसेप्टिव हो जाता है, वह पकड़ लेगा। वह पच्चीस बीमारियां ग्रहण कर लेगा। वह हालांकि सोच रहा है कि हम बहुत बुद्धिमान हैं। हम बुद्धिमान की तरह बैठे हैं, बगल का आदमी देखो पागलपन कर रहा है। लेकिन उसे पता नहीं है कि वह गड्ढा बन गया, वह पागलपन उसमें घुसेगा। वहां भीतर नहीं बैठना है किसी को भी। वे दूर, काफी दूर बैठें। साधक से सावधान रहें। साधक खतरनाक, उससे जरा दूर रहें। या तो साधक हो जाएं तो उसके भीतर आएं, नहीं तो दूर रहें। पहाड़ पर बैठ जाएं, वहां से बैठकर देखें।
समझदारी ज्यादा मत दिखाएं। ज्यादा समझदारी कभी-कभी बड़ी नासमझी होती है। करना हो तो ठीक, न करना हो दूर चले जाएं। कल मैं एक भी व्यक्ति को आंख खुले हुए वहां बैठना नहीं चाहूंगा कि कोई बैठे। और कोई बैठा दिखाई पड़ेगा तो फिर वालेंटियर उसे उठाकर ले जाएंगे, इसलिए वहां नहीं बैठेंगे।
दोपहर के मौन में एक भी दर्शक नहीं चाहिए। दर्शक पहाड़ पर बैठ जाए दूर जाकर, देखे मजे से। लेकिन जब दर्शन ही करना हो पूरा मजे से तो खुद ही करके करना चाहिए। भीतर से देखें। दूसरे भी कर रहे हैं, आप भी करें। और भीतर से देखते रहें कि क्या हो रहा है, तो बहुत फायदा होगा। बाहर से देखने से कोई फायदा नहीं होगा। यही लगेगा कि अरे, ये पागल! लेकिन जिस दिन आपको लगेगा कि अरे, मैं पागल! उस दिन कुछ फायदा हो सकता है। इसलिए दूसरे को मत देखें। तीस मिनट के मौन में आंख बिल्कुल बंद रहनी चाहिए। पट्टियां सारे लोग
ले लें और आंख पर पट्टियां बांध लें। क्योंकि आप पर भरोसा नहीं किया जा सकता। बीच में आंख खुल जाए, खुल ही जाए तो पट्टी तो रोकेगी कम से कम। इसलिए पट्टियां बांध लें--दोपहर के लिए।
रात्रि के ध्यान में जो प्रयोग है, वह आपसे कह दूं। रात्रि का ध्यान
है त्राटक का। तीस मिनट तक आपको एकटक मेरी तरफ देखना है, खड़े होकर। आंख का पलक नहीं झपना है। तो जिन लोगों ने दिनभर पट्टी बांधी है, उन्हें जो मजा आएगा, वह उनको नहीं आ सकेगा जो पट्टी नहीं बांधे हैं। दिनभर आंख बंद रही हो तो चालीस मिनट पूरी खुली रहेगी, पलक भी नहीं झपेगा। शक्ति इतनी इकट्ठी हो जाएगी। वह आप जानें। कल से फिकर करें।
अभी तीस मिनट पहले तो मेरी तरफ आप देखेंगे। मुझे देखते रहें, देखते रहें, देखते रहें पूरी आंख--पानी झरने लगे, पलक थक जाए, कोई फिकर नहीं, आप देखते चले जाएं। थोड़ी ही देर में थकान मिट जाएगी, पानी सूख जाएगा, आंख निर्मल और ताजी और तेजस्वी हो जाएगी, और आप मुझे देखते रहेंगे।
अगर आपने ठीक से, अपलक मुझे देखा, तो कई बार ऐसा होगा कि मैं आपको यहां
खो गया मालूम पडूंगा। कि नहीं, आंख पूरी खुली होगी, मैं यहां नहीं होऊंगा। जब भी ऐसा मालूम पड़े तो परेशान न हों, घबराएं न, वह ठीक क्षण है। उसका अर्थ हुआ कि आपकी आंख सध गई। जब मैं न दिखाई पडूं, समझना कि आंख सध गई। ठीक जगह पर है, वहां से ध्यान में गति हो जाएगी। किसी को मैं बहुत बड़ा हो गया मालूम पड़ सकता हूं, किसी को बहुत छोटा हो गया मालूम पड़ सकता हूं, उससे भय न लेना। किसी को मेरी जगह सिर्फ प्रकाश ही दिखाई पड़ सकता है, उससे भी परेशान न हों। जो भी हो। अगर यहां कुछ भी न बचे, खाली स्थान रह जाए, तो उस खाली स्थान पर आंखें गड़ाए रखना। तीस मिनट आंखें गड़ाए रखना है।
खड़े होकर यह प्रयोग होगा। आप कूदते रहेंगे, चिल्लाते रहेंगे, हू की आवाज करते रहेंगे और बीच-बीच में मैं--मैं तो चुप रहूंगा, हाथ से आपको

इशारा करूंगा--जब मैं हाथ नीचे से ऊपर की तरफ ले जाऊं, तब आप अपने भीतर अनुभव करना कि पूरे प्राणों की शक्ति, आपकी कुंडलिनी उठ रही, ऊपर की तरफ दौड़ रही, ऊर्ध्व यात्रा पर जा रही। आप एक ज्योति बन गए, लपट, और ऊपर की तरफ जा रहे। जोर से चीख आएंगी, चिल्लाएं, नाचें और ऊपर की तरफ जो भीतर की शक्ति जग रही है उसको साथ दें।
पहले मैं ऊपर हाथ ले जाऊंगा। बार-बार ऊपर हाथ ले जाऊंगा। जब मुझे लगेगा कि आप उस स्थिति में आ गए बहुत से मित्र कि आपके भीतर की ऊर्जा नाच रही है, तब मैं हाथ ऊपर से नीचे की तरफ लाऊंगा, वह परमात्मा के लिए निमंत्रण है कि इतने लोग इतने प्यास से भरकर नाच रहे हैं तो परमात्मा नीचे उतरे। और जब परमात्मा की शक्ति नीचे मैं, हाथ नीचे की तरफ लाऊंगा, तब भी आप जितनी शक्ति लगाकर कूद सकें, चिल्ला सकें, चिल्लाएं--तो आपको उस शक्ति का स्पर्श आपके रोएं-रोएं में, आपके हृदय की धड़कन-धड़कन तक पहुंच जाएगा।
पहले सारे लोग खड़े हो जाएंगे। दूर-दूर खड़े होंगे। थोड़ा फासला कर लेंगे। चारों तरफ, मेरे पीछे भी आ जाएं, ताकि मैं आपको दिखाई पड़ता रहूं।
पीछे मैं खड़ा हो जाऊंगा तो आपको दिखाई पड़ता रहूंगा।

निर्वाण उपनिषद
चौथा प्रवचन

पावन दीक्षा--परमात्मा से जुड़ जाने की

निरालंब पीठः।
संयोगदीक्षा।
वियोगोपदेशः।
दीक्षा संतोषपावनम च।
द्वादश आदित्यावलोकनम्।

आश्रयरहित उनका आसन है।
(परमात्मा के साथ) संयोग ही उनकी दीक्षा है।
संसार से छूटना ही उपदेश है।
दीक्षा संतोष है और पावन भी।
बारह सूर्यों का वे दर्शन करते हैं।

साधक की अंतर-भूमिका के संबंध में ये सूत्र हैं। वे जो प्रभु को खोजने निकले हैं, उन्हें निरालंब हो जाना पड़ता है। उन्हें और सब आश्रय खो देने पड़ते हैं, तभी प्रभु का आसरा मिलता है। उन्हें असहाय हो जाना पड़ता है-- हेल्पलेस--तभी सहायता उपलब्ध होती है। जब तक उन्हें लगता है, मैं ही कर लूंगा, जब तक उन्हें लगता है कि मैं ही समर्थ हूं, जब तक उन्हें लगता है कि मेरे पास साधन है, आसरा है, आलंबन है, तब तक वे प्रभु की अनुकंपा पाने से वंचित रह जाते हैं।
ऐसे ही, जैसे वर्षा होती है--पहाड़ पर भी होती है, पर पहाड़ वंचित रह जाते हैं। वे खुद ही अपने से इतने भरे हैं कि और उनमें भरने की जगह नहीं, सुविधा नहीं। गड्ढों में भी होती है वर्षा, पर गड्ढे भर जाते हैं, क्योंकि वे खाली हैं। जो खाली है, वह भर दिया जाता है; जो भरा है, वह खाली रह जाता है। निरालंब पीठः।
आलंबनरहित, आश्रयरहित, यही उनके होने का ढंग है। यही उनका आसन है। कोई सहारा नहीं, कोई आलंबन नहीं, असुरक्षित। असुरक्षा की इस बात को थोड़ा गहरे में ख्याल कर लें।
धन हो, तो आदमी को लगता है मेरे पास कुछ है; पद हो, तो लगता है मेरे पास कुछ है; ज्ञान हो, तो लगता है मेरे पास कुछ है। ये सब साधन हैं। ये सब आलंबन हैं। ये सब आश्रय हैं। इनके आधार पर आदमी अपने अहंकार को मजबूत करता है। निरालंब पीठः।
संन्यासी तो वे हैं, जिनके पास कोई साधन नहीं, जिनके पास कुछ भी नहीं है। कुछ भी नहीं है का यह अर्थ नहीं है कि वे बिना वस्त्रों के नग्न खड़े होंगे, तभी कुछ नहीं होगा। क्योंकि जो नग्न खड़ा है बिना वस्त्रों के, वह भी हो सकता है अपने त्याग को आलंबन बना ले और कहे, मेरे पास त्याग है, दिगंबरत्व है, नग्नता है, संन्यास है। मेरे पास कुछ है। तो फिर आलंबन हो गया।
और जब आपके पास कुछ है, तो आप परमात्मा के द्वार पर पूर्ण भिक्षु की तरह खड़े नहीं हो पाते, आपकी अकड़ कायम रह जाती है।
बुद्ध ने इसीलिए संन्यासियों को स्वामी का नाम नहीं दिया जानकर। शब्द बहुत अदभुत था। भिक्षु दिया, भिखारी कहा, कुछ भी नहीं है जिसके पास।
भिक्षा का पात्र है जो बस, और कुछ भी नहीं। वह जो भिक्षा का पात्र बुद्ध ने संन्यासियों के हाथ में दिया, वह सिर्फ भीख मांगने के लिए ही नहीं था। बुद्ध कहते थे, अपने को भी एक भिक्षा का पात्र ही जानना, उससे ज्यादा नहीं; तो ही उस परम सत्य की उपलब्धि हो सकेगी।
निरालंबन हो जाना अति कठिन है। मन कहता है, कोई आलंबन, कोई सहारा, कोई आश्रय--कुछ तो हाथ में हो! अकेला न रह जाऊं, असुरक्षित न रह जाऊं, खतरे से बचने का कोई तो इंतजाम हो! तो हम सब इंतजाम करते हैं। गृहस्थ का अर्थ वही है--जो आलंबन की तलाश करता है। गृहस्थ का यह अर्थ नहीं है कि जो घर में रहता

है। गृहस्थ का अर्थ है, जो सुरक्षा का घर खोजता रहता है, कहीं भी असुरक्षित नहीं हो सकता।
एलन वाट ने एक अदभुत किताब लिखी है। उस किताब का नाम है, विजडम आफ इनसिक्यूरिटी, असुरक्षा की बुद्धिमत्ता।
संन्यास का अर्थ ही यही है। संन्यास का अर्थ यह है कि हम जान गए यह बात
कि सुरक्षा का उपाय करो कितना भी, सुरक्षा हो नहीं पाती। कितना ही धन जोड़ो, आदमी निर्धन ही रह जाता है, भीतर गरीब ही रह जाता है। और कितनी ही शक्ति का आयोजन करो, भीतर आदमी अशक्त ही रह जाता है। और मृत्यु से बचने के लिए कितने ही पहरे लगाओ, मौत न मालूम किस अज्ञात मार्ग से बिना पदचाप किए आ जाती है। सारी सुरक्षा का इंतजाम पड़ा रह जाता है और आदमी मिट जाता है।
संन्यास इस बात की प्रज्ञा, इस बात की समझ है, अंडरस्टैंडिंग है कि सुरक्षा करके भी सुरक्षा होती कहां है! हो भी जाती, तो भी ठीक था। होती ही नहीं, हो ही नहीं पाती। सिर्फ धोखा होता है, लगता है कि हम सुरक्षित हैं, हो नहीं पाते सुरक्षित कभी।
जिंदगी असुरक्षा है। सिर्फ मरे हुए लोगों के अतिरिक्त कोई भी सुरक्षित नहीं है, क्योंकि सिर्फ मरे हुए लोग ही नहीं मर सकते, बाकी तो सभी मरेंगे। असुरक्षा चारों तरफ है। हम असुरक्षा के सागर में हैं। कूल-किनारे का कोई पता नहीं, गंतव्य दिखाई नहीं पड़ता, पास में कोई नाव-पतवार नहीं, डूबना निश्चित है। फिर आंखें बंद करके हम सपनों की नावें बना लेते हैं। आंखें बंद कर लेते हैं और तिनकों का सहारा बना लेते हैं। तिनकों को पकड़ लेते हैं और सोचते हैं, किनारा मिल गया। ऐसे धोखा, सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना होती है।
संन्यासी का अर्थ है, जो इस सत्य को समझा कि सुरक्षा करो कितनी ही, सुरक्षा नहीं होती है। मृत्यु से बचो कितने ही, मृत्यु आती है। कितना ही चाहो कि मैं न मिटूं, मिटना सुनिश्चित है। और जब सुरक्षा से सुरक्षा नहीं आती, तो संन्यासी का अर्थ है कि वह कहता है, हम असुरक्षा में राजी हैं। अब हम राजी हैं। अब हम कोई झूठी नाव न बनाएंगे। अब हम कागज के सहारे न खोजेंगे। अब हम ताश के महल खड़े न करेंगे। अब हम पहरेदार न लगाएंगे। अब हम तिनकों का सहारा न पकड़ेंगे। अब हम जानेंगे कि कोई कूल-किनारा नहीं, असुरक्षा का सागर है और डूबना निश्चित है और मरना अनिवार्य है। मिटेंगे ही, हम राजी हैं। अब हम कोई उपाय नहीं खोजते।
और जो इतने होने को राजी हो जाते हैं, अचानक वे पाते हैं, असुरक्षा मिट गई। अचानक वे पाते हैं, सागर खो गया। अचानक वे पाते हैं, किनारे पर खड़े हैं।
क्यों? ऐसा क्यों हो जाता होगा? ऐसा चमत्कार क्यों घटित होता है कि जो सुरक्षा खोजता है, उसे सुरक्षा नहीं मिलती और जो असुरक्षा से राजी हो जाता है, वह सुरक्षित हो जाता है? ऐसा मिरेकल, ऐसा चमत्कार, क्यों घटित होता है? उसका कारण है। जितनी हम सुरक्षा खोजते हैं, उतनी ही हम असुरक्षा अनुभव करते हैं। असुरक्षा का जो अनुभव है, वह सुरक्षा की खोज से पैदा होता है। जितना हम डरते हैं, जितना हम भयभीत होते हैं, उतने हम भय के कारण अपने चारों तरफ खोजकर खड़े करते हैं। वह जो असुरक्षा का सागर मैंने कहा, वह है नहीं, वह हमारी सुरक्षा की खोज के कारण निर्मित हुआ है। एक विसियस सर्किल, एक दुष्टचक्र है। असुरक्षा से बचने की जो आकांक्षा है, वह असुरक्षा पैदा कर देती है। जब असुरक्षा पैदा हो जाती है, तो हमारे भीतर और बचने की आकांक्षा पैदा होती है। वह और असुरक्षा पैदा कर देती है। सागर बड़ा होता जाता है। भीतर बचने की आकांक्षा प्रगाढ़ होती जाती है। वही आकांक्षा सागर को बड़ा करती जाती है।
संन्यासी का अनुभव यह है कि जो सुरक्षा का ख्याल ही छोड़ देता है, उसकी
अब कैसी असुरक्षा? जिसने मरने के लिए तैयारी कर ली, जो राजी हो गया, उसकी कैसी मौत? अब मौत करेगी भी क्या? वह तो उसी पर कुछ कर पाती है, जो बचता था, भागता था, सुरक्षा का इंतजाम करता था कि मौत आ न जाए। मौत उसी के लिए है, जो मौत से भयभीत है। जो भयभीत ही नहीं है, जो मौत को आलिंगन करने को तैयार है, उसके लिए कैसी मौत! मौत, मौत में नहीं, मौत के भय में है। उस भय के कारण हमें

रोज मरना पड़ता है। रोज मरने में ही जीना पड़ता है, जी ही नहीं पाते, मरते ही रहते हैं।
निरालंब पीठः।
संन्यासी निरालंब होने को ही अपनी स्थिति मानते हैं। वही स्थिति है।
वे मांग ही नहीं करते। वे कहते ही नहीं कि हमें बचाओ। वे कहते हैं, हम तैयार हैं, जो भी हो। वे सूखे पत्तों की तरह हो जाते हैं, हवाएं जहां ले जाती हैं, वहीं चले जाते हैं। वे नहीं कहते कि पश्चिम जाएंगे कि पश्चिम हमारा किनारा है, कि पूरब जाएंगे कि पूरब हमारी मंजिल है। वे नहीं कहते कि हवा हमें आकाश में उठाए और बादलों के सिंहासन पर बिठा दे। हवा नीचे गिरा देती है, तो वे विश्राम करते हैं वृक्षों के तले में; हवा ऊपर उठा देती है, तो वे बादलों में परिभ्रमण करते हैं। हवा पूरब ले जाती है, तो वे पूरब चले जाते हैं; हवा पश्चिम ले जाती है, वे पश्चिम चले जाते हैं। उनका कोई आग्रह नहीं है कि हमें कहीं जाना है।
जिनका कोई आग्रह नहीं है। जो किसी विशेष स्थिति के लिए आतुर नहीं हैं
कि ऐसा ही हो। जो भी होता है उसके लिए राजी हैं, उनके जीवन में कष्ट समाप्त हो जाता है। इसलिए एलन वाट ने कहा है, विजडम आफ इनसिक्यूरिटी। जो बुद्धिमान हैं, वे असुरक्षा के लिए राजी हो जाते हैं और सुरक्षित हो जाते हैं।
संन्यासी से ज्यादा सुरक्षित कोई भी नहीं है और गृहस्थ से ज्यादा असुरक्षित कोई भी नहीं है। और गृहस्थ से ज्यादा सुरक्षा का इंतजाम कोई नहीं करता। और संन्यासी से कम सुरक्षा का इंतजाम कौन करता है!
निरालंब पीठः।
ये बहुत अदभुत दो छोटे से शब्द हैं। उनकी बैठक, उनका आसन, निरालंब होना है। और जब कोई व्यक्ति इतना साहस जुटा लेता है, तो उसे परमात्मा का आलंबन तत्क्षण, तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है।
परमात्मा केवल उनके ही काम आ सकता है, जिनका यह भ्रम छूट गया कि हम हमारे काम आ सकते हैं। हम कुछ कर लेंगे, ऐसी जिनकी भ्रांति टूट गई, जिनके कर्ता का भाव टूट गया, परमात्मा की सहायता केवल उन्हीं को उपलब्ध हो सकती है। क्षण की भी देर नहीं लगती, परमात्मा की ऊर्जा दौड़ पड़ती है, आपके रोएं- रोएं में समा जाती है।
लेकिन हम अपने पर ही भरोसा करते चलते हैं। सोचते हैं, अपने को बचा लेंगे। कितने लोग सोचते रहे हैं! यहीं जहां आप बैठे हैं--एक-एक आदमी जहां बैठा है--वहां कम से कम दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी है, कम से कम। जमीन का एक भी टुकड़ा नहीं है इंचभर, जहां दस कब्रें न बन चुकी हों। आदमियों की कह रहा हूं, और प्राणियों की तो बात अलग है। वे भी यही सोचते थे, जो आप सोच रहे हैं उन्हीं की जगह पर बैठकर, वहां दस आदमी गड़े हैं, जले हैं। वहां दस आदमियों की राख आपके नीचे है। वे भी यही सोच रहे थे, आप भी बैठकर यही सोच रहे हैं। आपके बाद भी उसी जगह और लोग बैठकर यही सोचते रहेंगे। क्या सोच रहे हैं? लेकिन एक बात नहीं देखते कि हमारे उपाय से कुछ भी तो उपाय नहीं होता। तो फिर हम निरुपाय होने का उपाय कर लें!
निरालंब पीठ का अर्थ है, निरुपाय जो हो गए। जो कहते हैं, हम कुछ भी न कर पाएंगे। तेरी मर्जी, उसके लिए हम राजी हैं। तो तू डुबा दे यहीं, तो यही हमारा किनारा है।
संयोग ही उनकी दीक्षा है। संयोगदीक्षा।
ये सूत्र ऐसे हैं जैसे केमिस्ट्री के, रसायन-शास्त्र के सूत्र होते हैं। इसलिए मैंने कहा कि टेलीग्रैफिक है उपनिषद।
संयोगदीक्षा।
बस, इतना कहा है दीक्षा के लिए कि संयोग ही उनकी दीक्षा है। टु बी इन कम्यूनियन इ.ज द इनीसिएशन। परमात्मा के साथ जुड़ जाना ही उनकी दीक्षा है। परमात्मा के साथ सेतु खोज लेना, ब्रिज बना लेना; परमात्मा और अपने बीच आवागमन की एक जगह बना लेना ही उनकी दीक्षा है।
दीक्षित का अर्थ ही यही होता है। दीक्षा का अर्थ यही होता है कि मैं
अब अपने तक नहीं जीऊंगा। वह जो विराट है, जिससे मैं आया और जिसमें वापस लौट

जाऊंगा, अब मैं उसके साथ संयुक्त होकर जीऊंगा। अब मैं अपने को पृथक मानकर न जीऊंगा। अब मैं बूंद की तरह नहीं, सागर के साथ एक होकर जीऊंगा।
निश्चित ही, सागर के साथ एक होना खतरनाक है, क्योंकि बूंद मिट जाती है। लेकिन यह खतरा बहुत ऊपरी है। क्योंकि सागर के साथ बूंद तो मिट जाती है, लेकिन मिट जाती है इस अर्थों में कि सागर हो जाती है। क्षुद्रता टूट जाती है, विराट के साथ मिलन हो जाता है। लेकिन विराट के साथ हिम्मत तो जुटानी पड़ती है अपनी क्षुद्र सीमाओं को तोड़ देने की।
अगर अपने घर के आंगन को आकाश के साथ एक करना हो, तो घर के आंगन की दीवारें तो तोड़ ही देनी पड़ेंगी। अगर आप दीवारों को आंगन समझते थे, तो आपको लगेगा भारी नुकसान हुआ; और अगर दीवारों के बीच में घिरे हुए आकाश को आंगन समझते थे, तो समझेंगे कि लाभ ही लाभ है। वह आपकी समझ पर निर्भर करेगा। अगर आपने अपने अहंकार की सीमा को समझा था, यही मैं हूं, तो आप समझेंगे मिटे। अगर आपने अपने अहंकार के भीतर घिरे हुए शून्य को, चैतन्य को, भगवत्ता को समझा था, यही मैं हूं, तो दीवारें गिर जाने से अनंत के साथ एक हो गया। विराट उपलब्धि है फिर। खोना जरा भी नहीं है, पाना ही पाना है।
संयोगदीक्षा।
ऐसे संयोग का नाम दीक्षा है, जहां आपके आंगन की दीवारें गिर जाती हैं
और विराट आकाश से मिलन हो जाता है। जहां बूंद अपनी सीमाएं छोड़ देती। साहस का कदम है यह--बहुत बड़े साहस का, कहें दुस्साहस का--क्योंकि हम सबकी मनोदशा यही है कि हम अपनी सीमा को ही अपना अस्तित्व समझते हैं। सीमा में जो घिरा है, उसे नहीं; सीमा को ही अपना अस्तित्व समझते हैं। तो बड़े दुस्साहस की जरूरत पड़ेगी; अपने को छोड़ना, खोना, मिटना।
जीसस कहते थेः जो अपने को बचाएगा, वह मिट जाएगा; और जो अपने को मिटा देगा, उसके मिटने का कोई भी उपाय नहीं।
जीसस के पास एक युवक आया एक रात, निकोडैमस। और निकोडैमस ने कहा कि मैं
सब छोड़ने को तैयार हूं, मुझे स्वीकार कर लें, मुझे अंगीकार कर लें। जीसस ने कहा, तू स्वयं को छोड़ने को तैयार है? उसने कहा, और सब छोड़ने को तैयार हूं। तो जीसस ने कहा, लौट जा वापस। जिस दिन स्वयं को छोड़ने को तैयार हो, उस दिन आ जाना। क्योंकि हमें प्रयोजन नहीं कि तू कुछ और छोड़; हमें इतना ही प्रयोजन है कि तू अपने को छोड़। और अपने को कोई न छोड़े, तो संयोग नहीं होगा, दीक्षा नहीं होगी।
ये तो सब प्रतीक हैं कि संन्यासी का हम नाम बदल देते हैं, सिर्फ इसी ख्याल से कि उसकी पुरानी आइडेंटिटी, उसका पुराना तादात्म्य छूट जाए। कल तक जिन सीमाओं से, जिस नाम से समझा था कि मैं हूं, वह टूट जाए। उसके वस्त्र बदल देते हैं, ताकि उसकी इमेज बदल जाए; उसकी जो प्रतिमा थी कल तक कि लगता था यह मैं हूं, यह कपड़ा, यह ढंग, वह टूट जाए। बाहर से शुरू करते हैं, क्योंकि बाहर हम जीते हैं। और बाहर से ही बदलाहट की जिसकी हिम्मत नहीं है, वह भीतर से बदलने की तैयारी कर पाएगा, यह जरा कठिन है।
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, कपड़े तो बाहर हैं, बदलाहट तो भीतर
की चाहिए। मैं उनसे पूछता हूं, कपड़े बदलने तक की हिम्मत तुम्हारी नहीं है, तुम भीतर की बदलाहट कर पाओगे? कपड़े बदलने में कुछ भी तो नहीं बदल रहा है, यह तो मुझे भी पता है। लेकिन तुम कपड़ा बदलने तक का साहस नहीं जुटा पाते और तुम कहते हो, हम आत्मा को बदल लेंगे। शायद अपने को धोखा देना आसान होगा आत्मा को बदलने की बात में, क्योंकि किसी को पता नहीं चलेगा कि बदल रहे हो कि नहीं बदल रहे हो। खुद को भी पता नहीं चलेगा। ये कपड़े पता चलेंगे। लेकिन जो बदलने के लिए तैयार है, वह कहीं से भी शुरू कर सकता है। भीतर
से शुरू करना कठिन है, क्योंकि भीतर का हमें कोई पता ही नहीं है। भोजन करते वक्त हम नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, क्या भोजन करना! पानी पीते वक्त नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, इसके पीने से क्या प्यास मिटेगी! प्यास तो भीतर है।
नहीं, यह हम नहीं कहते। लेकिन संन्यास लेना हो तो हम सोचते हैं, कपड़ा बदलने से क्या होगा, यह तो बाहर है। और आप जो हैं, बाहर का ही जोड़ हैं कुल जमा, फिलहाल। भीतर का तो कोई पता ही नहीं। उस भीतर का पता मिल जाए, इसी की तो खोज है। इमेज तोड़नी पड़ती है, प्रतिमा विसर्जित करनी पड़ती है। वह जो हम

हैं अब तक, उसमें कहीं से तोड़ पैदा करनी पड़ती है। और अच्छा है कि सीमाओं से ही तो.ड़ शुरू करें, क्योंकि सीमाओं पर ही हम जीते हैं, अंतस में हम जीते नहीं हैं।
लेकिन वस्तुतः दीक्षा तो फलित तभी होती है, जब भीतर का तार जुड़ जाता
है अनंत से।
जब आप बैठे हों सागर के किनारे, मौन हो जाएं। थोड़ी देर में सागर कौन है
और आप कौन हैं, यह फासला गिर जाएगा। आकाश के नीचे लेटे हों, मौन हो जाएं।
कौन तारा है और कौन देखने वाला है, थोड़ी देर में फासला गिर जाएगा।
सब फासला विचार का है। वियोग विचार का है, संयोग निर्विचार का है।
जहां भी निर्विचार हो जाएंगे, वहीं संयोग हो जाएगा।
एक वृक्ष के पास बैठ जाएं और निर्विचार हो जाएं, तो वृक्ष और वृक्ष को देखने वाला दो नहीं रह जाएंगे। द ऑबजर्व्ड एंड द ऑबजर्वर विल बी वन। जो देख रहा है वह, और वह जो देखा जा रहा है, एक हो जाएगा। एक क्षण को भी ऐसा अनुभव हो जाए कि वह जो धूप मुझे घेरे हुए है, वह और मैं एक हूं; वह जो वृक्ष मुझ पर छाया किए है, वह और मैं एक हूं; बदलियां जो आकाश में तैर रही हैं, वह और मैं एक हूं।
यह विचार से नहीं, यह आप सोच सकते हैं। यह आप वृक्ष के पास बैठकर सोच सकते हैं कि मैं और वृक्ष एक हूं। तब संयोग नहीं होगा, क्योंकि अभी सोचने वाला मौजूद है। और यह जो कह रहा है, मैं एक हूं, यह अपने को समझा रहा है कि मैं एक हूं। और समझाने की तभी तक जरूरत है, जब तक अनुभव नहीं होता कि एक हूं।
वृक्ष के पास निर्विचार हो जाएं, तो अचानक उदघाटन होगा कि एक हूं। यह विचार नहीं होगा तब, यह रोएं-रोएं में प्रतीत होगा। वृक्ष के पत्ते हिलेंगे, तो लगेगा मैं हिल रहा हूं। वृक्ष में फूल खिलेंगे, तो लगेगा मैं खिल रहा हूं। वृक्ष से सुगंध फैलने लगेगी, तो लगेगी मेरी सुगंध है। लगेगी, यह विचार नहीं होगा, यह प्रतीति होगी, यह आत्मिक अनुभव होगा।
ऐसा जिस दिन समस्त अस्तित्व के साथ लगने लगता है, उस दिन दीक्षा-- संयोगदीक्षा। उठते, बैठते, चलते--श्वास-श्वास में, कण-कण में, रोएं-रोएं में ऐसी प्रतीति होने लगती है, एक हूं, एक ही है। वह जो आपकी छाती में छुरा भोंक दे, वह शत्रु भी एक ही है। वह हाथ, जो छाती में छुरा भोंक गया है, मेरा ही है। तब, तब दीक्षा है। तब संयोग है।
तो ऋषि कहता है, संयोग दीक्षा। वियोग उपदेश।
एक ही उपदेश है--वियोग। किससे वियोग और किससे संयोग? जो हम नहीं हैं, उससे वियोग। और जो हम हैं, उससे संयोग। जो स्वप्न जैसा है उससे वियोग, और जो सत्य है, उससे संयोग। जो हमने ही प्रोजेक्ट किया है, हमने ही प्रक्षेप किया है, उस विचार के जगत से वियोग; और जो है हमसे पहले से और हम नहीं होंगे तब भी होगा, उस अस्तित्व के जगत से संयोग।
हम सब एक अपनी दुनिया बनाकर जीते हैं--ए वर्ल्ड आफ अवर ओन। पर्ल बक ने
एक किताब लिखी है अपने जीवन संस्मरणों की, माई सेवरल वर्ल्ड्स, मेरे अनेक जगत। ठीक है नाम, क्योंकि प्रत्येक आदमी अलग-अलग जगत में जीता है। एक ही घर में अगर सात आदमी होते हैं, तो सेवन वर्ल्ड्स, सात दुनियाएं होती हैं। क्योंकि बेटे की दुनिया वही नहीं हो सकती, जो बाप की है। और इसीलिए तो घर में कलह होती है। सात दुनिया एक घर में रहें, सात जगत, तो कलह होने ही वाली है। सात बर्तन में हो जाती है, तो सात जगत बड़ी चीजें हैं। घर बहुत छोटा है। उपद्रव सुनिश्चित है। ट्रेसपासिंग होगी ही। बाप की दुनिया बेटे की दुनिया पर चढ़ना चाहेगी, बेटे की दुनिया बाप की दुनिया पर चढ़ना चाहेगी। पत्नी पति की दुनिया पर कब्जा करना चाहेगी।
इस जमीन पर इस समय कोई तीन अरब आदमी हैं, तो तीन अरब जगत हैं। जगत वह नहीं है, जो हमारे बाहर है; जगत वह है, जो हम निर्मित करते हैं। वह हमारा कंस्ट्रक्शन है।
समझें। एक वृक्ष के पास आप भी बैठे हुए हैं। आप एक बढ़ई हैं। एक चित्रकार बैठा हुआ है, एक कवि बैठा हुआ है, एक प्रेमी बैठा हुआ है जिसे उसकी प्रेमिका मिली नहीं, और एक ऐसा प्रेमी बैठा हुआ है जिसे उसकी प्रेमिका मिल गई। तो बढ़ई के लिए वृक्ष में सिवाय फर्नीचर के कुछ भी दिखाई

नहीं पड़ता। वह वृक्ष एक ही है, लेकिन बढ़ई फर्नीचर की दुनिया में बैठा होगा वहां।
चमार को आपके जूते के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। वह आपको आपके जूते के नंबर से पहचानता है। दर्जी की आपसे जो पहचान है, वह आपके कपड़े के नाप से है। चमार को चेहरा भी देखना नहीं पड़ता, सड़क पर गुजरते हुए लोगों के जूतों की हालत देखकर वह जानता है कि माली हालत क्या होगी। चेहरा देखने की जरूरत नहीं और बैंक बैलेंस देखने की भी जरूरत नहीं। जूते की हालत ही बता देती है कि यह आदमी किस हालत में होगा। उसकी अपनी दुनिया है।
तो बढ़ई अगर बैठा है वृक्ष के नीचे, तो वह वृक्ष उसके लिए संभावी फर्नीचर, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। उस वृक्ष में फूल नहीं खिलते, कुर्सियां-मेजें लगती हैं। उसकी अपनी दुनिया है। उसके बगल में जो चित्रकार बैठा है, उसके लिए वृक्ष सिर्फ रंगों का एक खेल है।
इधर इतने वृक्ष लगे हैं। साधारण आदमी को वृक्ष हरे दिखाई पड़ते हैं और हरा लगता है कि एक रंग है, लेकिन चित्रकार को हरे हजार रंग हैं--हजार शेड हैं हरे रंग के। वह चित्रकार को ही दिखाई पड़ते हैं, आम आदमी को दिखाई नहीं पड़ते। हरा यानी हरा, उसमें कोई और मतलब नहीं होता। लेकिन चित्रकार जानता है कि हर वृक्ष अपने ढंग से हरा है। दो वृक्ष एक से हरे नहीं हैं। हरे में भी हजार हरे हैं। पत्ता-पत्ता अपने ढंग से हरा है। तो जब चित्रकार देखता है वृक्ष को, तो उसे जो दिखाई पड़ता है, वह हमें कभी दिखाई नहीं पड़ता। उसे पत्ते-पत्ते का व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है।
वहीं उसके पास एक कवि बैठा है। तो वृक्ष उसके लिए काव्य बन जाता है। थोड़ी ही देर में वृक्ष खो जाता है और वह काव्य के लोक में प्रवेश कर जाता है। वह हमें कभी ख्याल में नहीं आएगा कि कवि किस यात्रा पर निकल गया। उसका अपना जगत है।
उसी खिले हुए फूलों से लदे हुए वृक्ष के नीचे, जहां कि वर्षा की तरह फूल गिर रहे हों, जिस प्रेमी को उसकी प्रेयसी नहीं मिल सकी है, वहां उसे फूल कांटे जैसे दिखाई पड़ते रहेंगे। फूल उदास मालूम होंगे, वृक्ष रोता हुआ और मरता हुआ मालूम होगा। इससे वृक्ष का कोई संबंध नहीं है। यह उसके अपने भीतर के जगत का विस्तार है, जो वह वृक्ष पर फैला देता है। पूर्णिमा का चांद भी उदास प्रेमी को उदास मालूम पड़ता है। प्रफुल्ल प्रेमी को अमावस की रात भी काफी चांदनी से भरी हुई मालूम होती है, काफी उजाली होती है।
हम अपने जगत को अपने भीतर से फैलाते हैं अपने चारों तरफ। एक प्रोजेक्शन है, एक प्रक्षेप है। हर आदमी अपने भीतर बीज लिए है अपने जगत का, और अपने चारों तरफ फैला लेता है।
वियोग इस जगत से। निरंतर हम सुनते रहे हैं कि संन्यासी संसार को छोड़ देता है, लेकिन हमें मतलब पता नहीं है कि संसार का मतलब ही क्या होता है। इस प्रोजेक्टेड, यह जो प्रत्येक व्यक्ति अपने बाहर एक जगत का फैलाव करता है... वह सपने का जगत है, बिल्कुल झूठा है। वह मेरा फैलाव है, मेरे मरने के साथ मिट जाएगा वह जगत। हर आदमी के मरने के साथ एक दुनिया मरती है। जो थी, वह तो बनी रहती है, लेकिन जो हमने फैलाई थी, बनाई थी, हमारा सपना थी, वह खो जाता है।
संसार के त्याग का मतलब यह नहीं कि ये जो चट्टानें हैं इनको छोड़ देना,
ये जो वृक्ष हैं इनको छोड़ देना या जो लोग हैं इनको छोड़ देना। संसार के त्याग का अर्थ है, वह जो प्रोजेक्शन है हमारा, प्रक्षेप है, उसे छोड़ देना। जो है उसे वैसा ही देखना, उस पर कुछ भी आरोपित न करना।
अगर उसी वृक्ष के नीचे, जिसकी मैंने बात की, एक संन्यासी खड़ा हो, उसका कोई जगत नहीं है। संन्यासी का अर्थ है, जिसका कोई जगत नहीं है, चीजों को देखता है, जैसी वे हैं। अपनी तरफ से आरोपित नहीं करता, इंपोज नहीं करता, उन पर कुछ थोपता नहीं है।
असल में किसी पर भी कुछ थोपना बड़ी हिंसा है। एक वृक्ष को मैं अपनी उदासी थोप दूं और कहूं कि वृक्ष बड़ा उदास मालूम पड़ता है, मैं हिंसा कर रहा हूं। चांद पर मैं अपनी प्रफुल्लता थोप दूं और कहूं कि चांद बड़ा आनंदित मालूम पड़ रहा है, क्योंकि मैं आज आनंदित हूं, क्योंकि लाटरी मुझे मिल गई है, तो मैं बड़ी हिंसा कर रहा हूं। और मैं एक झूठ का विस्तार कर रहा हूं।

वियोग उपदेश।
उपनिषदों का, ऋषियों का इतना ही उपदेश है कि इस संसार से--जो हम फैला लेते हैं--उससे वियोग; उससे अलग हो जाना। एक संसार है, जो परमात्मा का फैलाव है; और एक संसार है, जो हमारा फैलाव है। हमारा फैलाव गिर जाना चाहिए, तो हम परमात्मा के संसार से संबंधित हो सकते हैं। जब तक मेरा अपना फैलाव है, तब तक संयोग कैसे होगा उससे, जो परमात्मा का है।
मेरे एक मित्र थे। यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे और ख्यातिनाम विद्वान थे अर्थशास्त्र के। आक्सफोर्ड में भी प्रोफेसर थे, फिर यहां भारत के भी अनेक विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर थे। जब पहली दफे मेरी उनसे मुलाकात हुई तो बड़ी अजीब हुई। रास्ते से मैं निकल रहा था। सांझ का अंधेरा था, सूरज ढल रहा था, ढल गया था करीब-करीब। अंधेरा उतर रहा था। घूमने मैं निकला था रास्ते पर, हम दोनों अकेले थे, मैं उन्हें जानता नहीं था। जैसे ही मैं उनके पास पहुंचा, उन्होंने खीसे से निकालकर जोर से सीटी बजाई। और फिर दूसरे खीसे से निकालकर एक छुरा बाहर किया। नाम उनका मैं जानता था, परिचय कभी नहीं हुआ था। मैंने नमस्कार किया। मैंने कहा, आप यह क्या कर रहे हैं? उन्होंने कहा कि दूर रहिए! मैंने पूछा, बात क्या है?
फिर उनसे संबंध बना, मित्रता बनी, तो पता चला कि दो साल से वे भयभीत हैं और हर आदमी उन्हें लगता है कि उनकी हत्या करने आ रहा है। तो अकेले में किसी आदमी को देखकर वे दो इंतजाम अपने साथ रखते हैं--एक खीसे में सीटी रखते हैं जोर से बजाने के लिए, ताकि आसपास के लोगों को पता चल जाए। दूसरे खीसे में छुरा रखते हैं।
अब यह आदमी एक दुनिया में रह रहा है--हत्यारों की--जो इसका ही फैलाव है। किसी को प्रयोजन नहीं है, किसी को मतलब नहीं है। प्रोफेसर को मारेगा भी कौन और किसलिए मारेगा! मारने के लिए भी तो कोई कारण होना चाहिए और मरने की भी तो कोई योग्यता होनी चाहिए। प्रोफेसर को मारने, निरीह प्रोफेसर को मारने कौन जाएगा और किसलिए? इस बेचारे से कुछ भी तो बनता-बिगड़ता नहीं है। यह तो ऐसा है जैसे न हो तो बराबर। जिस दिन लोग स्कूल के मास्टरों की हत्या करने लगेंगे, उस दिन तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। इनसे ज्यादा निरीह तो प्राणी होता ही नहीं।
मैंने उन्हें बहुत समझाया कि तुम्हें मारने का कोई कारण भी नहीं है। कौन परेशानी में पड़ेगा तुम्हें मारकर? पर उनको ख्याल है कि सारी दुनिया उनकी हत्या करना चाहती है। और वे कारण खोज लेते हैं। वे देखते रहते हैं कि यह आदमी आ रहा है, किस तरह की चाल चल रहा है। इसकी आंख किस ढंग की हैं, कुछ संदिग्ध, ससपीशियस तो नहीं है। और उनको देखकर और उनके देखने के ढंग को और उनके खड़े होने को देखकर दूसरा आदमी बेचारा ससपीशियस हो जाता है। उनका जो ढंग है, वह ऐसा है कि दूसरा आदमी सहज नहीं रह सकता उनके साथ। वह भी थोड़ा... और उसकी बेचैनी उनको और-और, फिर विसियस शुरू हो जाता है--थोड़ी देर में ही वे दुश्मन की हालत में खड़ा कर देते हैं उस आदमी को।
हम सब ऐसे ही जी रहे हैं। हम सबने एक-एक दुनिया बना रखी है अपने चारों तरफ।
वियोग उपदेश है।
इस दुनिया से वियोग होना पड़े, छोड़ देना पड़े, तोड़ देना पड़े। यह गोरखधंधा है। यह बिल्कुल मानसिक है, यह बिल्कुल विक्षिप्तता है, पागलपन है। इस वियोग को ही ऋषियों का उपदेश कहा गया है। और इस वियोग के बाद ही संयोग हो सकता है परमात्मा से। वह जो परमात्मा का अस्तित्व है, जब हमारे सब प्रोजेक्टेड ड्रीम्स, हमारे प्रक्षिप्त स्वप्न गिर जाएं, हमारी सारी कल्पनाएं गिर जाएं, तो सत्य का उदघाटन है, तो संयोग हो सकता है।
दीक्षा संतोष है और पावन भी। दीक्षा संतोषपावनम च। दीक्षा संतोष है
और पावन भी।
दो बातें हैं।
दीक्षा संतोष है।
यह कभी ख्याल में भी न आया होगा कि परमात्मा से मिल जाने के अतिरिक्त
इस जगत में और कोई संतोष, कोई कंटेंटमेंट नहीं है। वियोग असंतोष है। जैसे किसी मां से उसका छोटा सा बेटा बिछुड़ गया हो और असंतुष्ट हो, ठीक वैसे ही

हम अस्तित्व से बिछुड़ जाते हैं और असंतुष्ट रहते हैं। उस असंतोष में हम बहुत उपाय करते हैं संतोष के, लेकिन सब असफल होते हैं, सब फ्रस्ट्रेड हो जाते हैं।
एक ही संतोष है, वह मिलन, संयोग उससे, जिससे हम छूट गए हैं--वापस उस मूल स्रोत से एक हो जाना। इसलिए संन्यासी के अतिरिक्त संतुष्ट आदमी होता ही नहीं। हो ही नहीं सकता। बाकी सब आदमी असंतुष्ट होंगे ही। वे कुछ भी करें, असंतोष उनका पीछा न छोड़ेगा। वे कुछ भी पा लें या खो दें, असंतोष से उनका संबंध बना ही रहेगा। वे धनी हों कि निर्धन; वे दीन हों, दरिद्र हों कि सम्राट; असंतोष उनका पीछा करेगा। असंतोष छाया की तरह पीछे लगा ही रहेगा, कहीं भी जाएं आप। सिर्फ एक जगह असंतोष नहीं जाता। वह परमात्मा से जो मिलन है, वहां भर असंतोष नहीं जाता।
उसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हमने कभी पूछा ही नहीं अपने
से कि हम असंतुष्ट क्यों हैं। रास्ते पर एक कार गुजरती दिखाई पड़ जाती है, तो हम सोचते हैं, यह कार मिल जाए तो संतोष मिल जाएगा। एक महल दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते हैं, यह महल मिल जाए तो संतोष मिल जाएगा। एक सम्राट दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते हैं, यह सिंहासन अपना हो तो संतोष मिल जाएगा। और कभी अपने से पूछा नहीं कि मेरे असंतोष का कारण क्या है। क्या कार न होने से मैं असंतुष्ट हूं? क्या महल न होने से मैं असंतुष्ट हूं? पद न होने से मैं असंतुष्ट हूं?
तो फिर थोड़ा मन में सोचें। समझ लें कि मिल गई कार, मिल गया महल, मिल गया सम्राट का पद। पूछें अपने से, मिल गया--संतोष आएगा? और तत्काल लगेगा कि कोई संतोष आ नहीं सकता। लेकिन हो सकता है कि यह सिर्फ हम सोच रहे हैं, इसलिए न मालूम पड़े। तो वह जो कार में बैठा है, उसकी शकल को देखें; वह जो महल में विराजमान है, उसके आसपास परिभ्रमण करें; तो वह जो पद पर बैठा हुआ है, उससे जाकर पूछें कि संतुष्ट हो? उसे भी ऐसा ही लगा था एक दिन। वह भी हमारे जैसा ही आदमी है। उसे भी लगा था कि इस पद पर होकर संतोष हो जाएगा। फिर पद पर आए तो बहुत दिन हो गए, संतोष तो जरा भी नहीं आया। हां, अब उसे लग रहा है कि किसी और बड़े पद पर हों, तो संतोष हो जाए। ऐसे जीवन क्षीण होता, रिक्त होता, मिटता, टूटता। रेत में खो जाती है जैसे कोई सरिता, ऐसे ही हम खो जाते हैं और बिखर जाते हैं।
हमने कभी ठीक से पूछा ही नहीं कि हम असंतुष्ट क्यों हैं। हमारे असंतोष का कुल कारण इतना है, कुल कारण ही इतना है कि हम अपनी जड़ों से टूट गए हैं, अपरूटेड हो गए हैं। हमें कोई पता ही नहीं कि हमारी जड़ें कहां हैं। हम किससे जुड़े हैं और किससे हम जीवन पाते हैं, उस मूल स्रोत का हमारा कोई संबंध मालूम नहीं पड़ता। हम अपनी खोपड़ी में कैद हो गए हैं, जड़ों से हमारा संबंध टूट गया है। हम सिर्फ विचार करते रहते हैं, अस्तित्व, एक्झिस्टेंशियल सत्ता से हमारा कहीं कोई मिलन नहीं होता। हम सिर्फ विचार करते रहते हैं, विचार में ही जी रहे हैं। और विचार का कोई भी मूल्य नहीं है, अस्तित्व का मूल्य है। होना पड़ेगा कहीं, सिर्फ सोचने से कुछ भी न होगा। तो ऋषि कहता है, दीक्षा संतोष है।
क्योंकि जैसे ही मिलन होता है परमात्मा से, जरा सा क्षणभर के लिए भी संपर्क जुड़ जाता है, वैसे ही संतोष की वर्षा हो जाती है। कहीं कोई असंतोष नहीं रह जाता। खोजे भी नहीं मिलता।
और दूसरी बात ऋषि कहता है, दीक्षा पावन भी।
पावन बहुत कीमती शब्द है, उसे थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। पावन का अर्थ केवल पवित्र नहीं होता। भाषाकोश में वही लिखा है कि पावन का अर्थ पवित्र। लेकिन भाषाकोश की अपनी मजबूरियां हैं। पावन का अर्थ पवित्र होता है, लेकिन एक भेद के साथ, विद ए डिफरेंस।
पवित्र उसे कहते हैं, जो अपवित्र हो सकता है। पावन उसे कहते हैं, जिसके अपवित्र होने की कोई संभावना नहीं है। पवित्र उसे कहते हैं, जिसमें विकल्प है। अपवित्र भी हो सकता है। पावन उसे कहते हैं, जिसका पवित्रता स्वभाव है। जैसे सोना है, वह अशुद्ध भी हो सकता है, मिट्टी उसमें मिल सकती है। तो पवित्र सोना हो सकता है, अपवित्र सोना हो सकता है। लेकिन जैसा

मैंने कहा, आकाश है, वह पावन है। उसको अपवित्र करने का कोई उपाय नहीं, उसमें अशुद्ध मिलाने का कोई उपाय नहीं।
तो दीक्षा संतोष भी है और पावन भी।
दीक्षा के बाद अपवित्र होने का कोई उपाय नहीं है। वह असंभावना है।
संन्यासी अपवित्र नहीं हो सकता, वह पावन है। प्रभु से जुड़ गई हो जरा सी भी धारा, तो फिर अपवित्रता का कोई उपाय नहीं है।
बुद्ध के भिक्षुओं में एक भिक्षु ने एक दिन बुद्ध को आकर कहा कि गांव में एक वेश्या है, उसने मुझे निमंत्रण दे दिया है कि मैं उसके घर रुकूं इस वर्षाकाल में। बुद्ध ने कहा, जाओ, क्योंकि तुम पावन हो गए हो।
भिक्षुओं में बड़ी बेचैनी फैल गई। वेश्या बहुत सुंदरी थी। सम्राटों को
भी उसके द्वार पर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। एक भिक्षु ने खड़े होकर कहा कि यह तो आप उचित नहीं कर रहे हैं। चार महीना वेश्या के घर में यह भिक्षु रहे, कहीं अपवित्र हो जाए! तो बुद्ध ने कहा, इसीलिए मैंने कहा। अगर पवित्र होता, तो रोकता। वह पावन है। चार महीने बाद बात होगी। उस भिक्षु ने कहा, तो कल मैं भी अगर कहूं कि किसी वेश्या का मुझे निमंत्रण मिल गया है, तो मुझे आज्ञा मिलेगी? बुद्ध ने कहा, तुम पवित्र भी नहीं हो। और वेश्या तुम्हें निमंत्रण देगी, ऐसा नहीं है। तुम निमंत्रण मांग रहे हो। तुम वेश्या को निमंत्रण दे रहे हो। नहीं, तुम्हें आज्ञा नहीं मिलेगी।
स्वभावतः बेचैनी रही। चार महीने भिक्षुओं ने बहुत पता लगाने की कोशिश
की कि वह भिक्षु, जो वेश्या के घर में ठहरा है, क्या कर रहा है, क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा है। खिड़की, द्वार-दरवाजों से झांका होगा, पता लगाया होगा, अफवाहें उड़ाई होंगी। बुद्ध के पास रोज खबरें आने लगीं कि भ्रष्ट हो गया, बर्बाद हो गया। यह आपने क्या किया! बुद्ध सुनते रहे। चार महीने बाद भिक्षु आया तो वह अकेला नहीं आया था, वेश्या भी भिक्षुणी होकर आ गई थी। पवित्र अगर अपवित्र के संपर्क में आए, तो अपवित्र हो सकता है। पावन अगर अपवित्र के संपर्क में आए, तो अपवित्र पवित्र हो जाता है। वह पारस है, वह लोहे को भी सोना कर देता है।
दीक्षा संतोष है और पावन भी।
पावन के लिए अंग्रेजी में एक शब्द है प्योर, एक शब्द है होली। तो पावन
का अर्थ है होली--दिव्य, पारस जैसी। कोई उपाय नहीं है उसे छूने का। उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। आकाश का मैंने कहा। जैसे आग है। आग को अपवित्र नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ भी डालो, वह जल जाएगा और राख हो जाएगा और आग पावन ही बनी रहेगी। इसलिए अपवित्र आग नहीं होती। मुर्दा जब जलता है चिता पर, तब भी वे लपटें अपवित्र नहीं होतीं, वे लपटें पावन ही होती हैं। असल में अपवित्र को डालो, तो जल जाता है, राख हो जाता है, आग को नहीं छू पाता। अस्पर्शित आग अलग खड़ी रह जाती है दूर। उसके पास पहुंचने की कोई गति नहीं है।
तो ऋषि कहते हैं, दीक्षा पावन भी है, संतोष भी। और ऐसी दीक्षा को जो उपलब्ध हैं, वे बारह सूर्यों का दर्शन करते हैं।
बारह सूर्यों का क्या अर्थ है? एक सूर्य को तो हम जानते हैं। बारह सूर्य केवल कहने का ढंग है। वे इतने प्रकाश का भीतर अनुभव करते हैं जैसे कि उनके भीतर बारह सूर्य निकल गए हों। एक सूर्य नहीं, बारह। जैसे सारा उनका अंतर-आकाश सूर्यों से भर गया हो। वे इतने प्रकाशोज्ज्वल चेतना की अवस्था को उपलब्ध होते हैं, जैसे भीतर बारह सूर्य जग गए हों।
लेकिन इस क्रम से प्रवेश होः आश्रयरहित हो उनका आसन--निरालंब पीठः, संयोग हो उनकी दीक्षा--संयोगदीक्षा, संसार से छूटना हो उनका उपदेश, दीक्षा संतोष हो और पावन, तो वे बारह सूर्यों के, अनंत सूर्यों के दर्शन को उपलब्ध होते हैं। वे उस परम सूर्य को जानने में समर्थ हो जाते हैं, जो जीवन और चेतना का उदगम, आधार, आश्रय, सब कुछ है।
और ये सूर्य कहीं बाहर खोजने नहीं जाना पड़ता है। ये सूर्य भीतर ही छिपे हैं। लेकिन हम भीतर जाते ही नहीं। बाहर है अंधकार, भीतर है प्रकाश। और बाहर कितने ही सूर्य हों तो भी अंधकार मिटता नहीं, शाश्वत है।
ख्याल किया आपने, बाहर ख्याल किया आपने कि कितने ही सूर्य कितने अनंत वर्षों से प्रकाश देते हैं, लेकिन अंधकार शाश्वत है। सूर्य आते हैं, जाते

हैं, जलते हैं, बुझते हैं। क्योंकि यह आप मत सोचना कि सूर्य सदा जलते रहते हैं। उनका भी जन्म है और मरण है। कितने ही सूर्य जन्मे और मिट गए। यह हमारा सूर्य बहुत नया है। इससे बुजुर्ग सूर्य भी हैं आकाश में। अब तक वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई तीन अरब सूर्यों की गणना वे कर पाए हैं। यह भी अंत नहीं है, यहां तक हमारी अभी पहुंच है। उसके आगे भी सूर्यों का विस्तार है। ये तीन अरब सूर्यों में रोज कोई एकाध सूर्य मरता है, कोई नया सूर्य पैदा होता रहता है। अस्तित्व के किसी कोने में कोई सूर्य मरता है, बुझ जाता है, राख हो जाता है, बिखर जाता है। अस्तित्व के किसी दूसरे कोने में नया सूर्य पैदा हो जाता है।
अनंत-अनंत वर्षों से--शाश्वत कहें--सूर्य जलते हैं, लेकिन अंधेरा शाश्वत है। सूर्य आते हैं और चले जाते हैं, अंधेरे का कुछ बिगड़ता नहीं। सुबह सूर्य निकलता है, हमें लगता है अंधेरा खो गया। सिर्फ छिप जाता है। हमें दिखाई नहीं पड़ता, कहना चाहिए। या हमारी आंखें इतनी आवृत्त हो जाती हैं सूर्य के प्रकाश से कि अंधेरे को देख नहीं पातीं। सांझ सूरज थक जाता है, ढल जाता है। अंधेरा अपनी जगह है। अंधेरे को आना नहीं पड़ता। वह अपनी ही जगह है।
ख्याल किया आपने, प्रकाश को आना पड़ता है। अंधेरा अपनी जगह है, शाश्वत ठहरा हुआ है। कल सूर्य हमारा बुझ जाएगा, अंधेरा शाश्वत होगा। सूर्यों का जीवन है, अंधेरा शाश्वत मालूम होता है। अंधेरा कभी नहीं मिटता, सदा है। दीया जल जाता है, तो लगता है मिट गया। दीया बुझ जाता है, तो पता चलता है कि है। जरा भी कंपित भी नहीं होता। प्रकाश तो कंपता भी है, अंधेरा कंपता भी नहीं, अकंप।
बाहर ऐसा है। अंधेरा शाश्वत है। प्रकाश क्षणभर को है। चाहे दीए का हो
और चाहे सूर्यों का हो, उसका भी क्षण है, एक मोमेंट है और खो जाता है। भीतर इससे उलटी स्थिति है। प्रकाश शाश्वत है, अंधेरा क्षणभर का है। कितना ही हम अज्ञान में भटकें और अंधेरे में जाएं और कितने ही पापों में उतरें और नर्कों की यात्रा करें, भीतर के प्रकाश में कोई अंतर नहीं पड़ता, अकंप है। पाप आते हैं, चले जाते हैं। नर्कों की यात्रा होती है और समाप्त हो जाती है। और जिस दिन भी हम लौटकर भीतर पहुंचते हैं, हम पाते हैं वहां शाश्वत प्रकाश है। भीतर शाश्वत प्रकाश है, बाहर शाश्वत अंधेरा है। बाहर क्षणिक प्रकाश होता है, भीतर क्षणिक अंधेरा होता है।
जो ऐसी चित्त-दशा को उपलब्ध होता है, ऋषि कहते हैं, वह अनंत सूर्यों का अनुभव करता है। बारह तो केवल ड.जन की सीमा है, दर्जन की सीमा है। इसलिए बारह। बारह का मतलब, ज्यादा से ज्यादा सूर्य उसके भीतर भर जाते हैं।
यह प्रकाश बहुत भिन्न है। क्योंकि बाहर जो प्रकाश क्षणभर के लिए होता
है या युगभर के लिए--उसका स्रोत है। सूरज से आता है, दीए से आता है। जो भी चीज किसी स्रोत से आती है, वह स्रोत के चुक जाने पर नष्ट हो जाती है। दीए का तेल चुक जाता है, ज्योति बुझ जाती है। सूरज की ऊर्जा नष्ट हो जाती है, सूरज चुक जाता है।
वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई चार हजार साल यह सूरज और चलेगा बस। चार हजार साल बाद यह बुझ जाएगा। इसके बुझने के साथ ही ये हमारे वृक्ष, यह हमारा जीवन, ये पौधे-पत्ते, ये हम, ये सब बुझ जाएंगे, क्योंकि उसकी किरणों के बिना हम नहीं हो सकते।
जहां स्रोत है और सीमा है, वहां तो सभी चीजें क्षणिक होंगी। भीतर जो सूर्य है, अगर ठीक से कहें, तो वहां कोई स्रोत नहीं है, सोर्सलेस लाइट।
वहां कोई स्रोत नहीं है, स्रोतरहित प्रकाश है। इसलिए वह कभी चुकता नहीं।
इसलिए अंधेरा नहीं चुकता बाहर, क्योंकि अंधेरे का कोई स्रोत नहीं है।
अंधेरा कहां से आता है, आपको पता है? कहीं से नहीं आता। बस अंधेरा है।
उसका कोई स्रोत नहीं है, इसलिए तेल चुकता नहीं, जिससे कि अंधेरा आता हो।
इसलिए दीया मिटता नहीं, जिससे अंधेरा आता हो। इसलिए सूरज समाप्त नहीं होता, जिससे अंधेरा आता हो। अंधेरा है।
ठीक ऐसे ही जैसे बाहर अंधेरा है, भीतर प्रकाश है--बिना स्रोत के, स्रोतरहित। जो स्रोतरहित है, वही शाश्वत हो सकता है। जो स्रोतरहित है, वही

नित्य हो सकता है। जो स्रोतरहित है, वही सदा हो सकता है। बाकी सब चुक जाता है।
निरालंब होकर जो संयोग को उपलब्ध होते हैं--संयोग के संतोष को, संयोग
की पावनता को, वे उस स्रोतरहित प्रकाश को पा लेते हैं।

आज इतना ही।

अब हम उस स्रोतरहित प्रकाश की तरफ चलें।
दो-तीन बातें ख्याल में ले लें।
आंख पर सभी को पट्टियां बांधनी हैं। जिनके पास पट्टियां न हों, वे प्राप्त कर लें। कान में फोहा डाल लेना है, ताकि कान भी बंद हो जाएं। और अपनी शक्ति पूरी लगानी है। मुझे कहना न पड़े।
दस मिनट जब पहले चरण में श्वास लेनी है तो पूरे प्राण लगा देने हैं।
पूरे प्राण लगेंगे तो दूसरे चरण में प्रवेश होगा।
फिर दूसरे चरण में इतना कूदना, इतना नाचना, चिल्लाना, हंसना, रोना है
कि सारे प्राण संयुक्त हो जाएं। जब दूसरा चरण पूरी शक्ति से होगा तो तीसरे चरण में प्रवेश होगा।
तीसरे चरण में हुंकार करनी है--हू--हू--इतने जोर से आवाज करनी है कि नाभि के तल तक उसकी चोट पहुंचने लगे और कुंडलिनी पर उसका धक्का लगे और कुंडलिनी जगने लगे और ऊपर की तरफ दौड़ने लगे। तो वे बारह सूर्य, जिनकी हम बात कर रहे हैं, वे हमें दिखाई पड़ने शुरू हो जाएं।
और एक आखिरी बात।
ध्यान के बाद जिनको पड़े रहना हो, बाद में भी, मेरे समाप्त कर देने के बाद भी जिनकी मौज हो, वे पीछे भी पड़े रह सकते हैं। और जैसे ही मैं कहूं, दस मिनट चुप हो जाना है, उसके बाद फिर जरा भी आवाज नहीं। फिर कोई आवाज नहीं करेगा, न नाचेगा, न डोलेगा। दस मिनट जब चुप होना है तो बिल्कुल सन्नाटा और शून्य हो जाना है। अगर कोई मित्र यहां देखने भी बाहर आ गए हों तो दूर हट जाएं। पहाड़ी पर दूर बैठ जाएं। और वहां बातचीत न करें, चुपचाप देखते रहें।

निर्वाण उपनिषद
पांचवां प्रवचन

संन्यासी अर्थात जो जाग्रत है, आत्मरत है, आनंदमय है, परमात्म-आश्रित है

विवेक रक्षा।
करुणैव केलिः।
आनंद माला।
एकासन गुहायाम मुक्तासन सुख गोष्ठी।
अकल्पित भिक्षाशी।
हंसाचारः।
सर्वभूतान्तर्वर्तीम हंस इति प्रतिपादनम्।

विवेक ही उनकी रक्षा है।
करुणा ही उनकी क्रीड़ा, खेल है।
आनंद उनकी माला है।
गुह्य एकांत ही उनका आसन है और मुक्त आनंद ही उनकी गोष्ठी है।
अपने लिए नहीं बनाई गई भिक्षा उनका भोजन है।
हंस जैसा उनका आचार होता है।
सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाला एक आत्मा ही हंस है--इसी को वे प्रतिपादित करते हैं।

सुना है मैंने कि एक अंधे आदमी ने किसी फकीर को कहा, मुझे रास्ते बता दें इस गांव के ताकि मैं भटक न जाऊं। मुझे ऐसी विधि बता दें ताकि मैं किसी से टकरा न जाऊं। मुझे ऐसे उपाय सुझा दें जिससे कि आंख वाले लोगों की दुनिया में मैं अंधा भी जीने में सफल हो सकूं। उस फकीर ने कहा, न हम कोई विधि बताएंगे, न कोई उपाय बताएंगे और न हम कोई मार्ग बताएंगे।
स्वभावतः, अंधा दुखी और पीड़ित हुआ। और सोचा भी नहीं था कि फकीर--करुणा जिनका स्वभाव है--ऐसा व्यवहार करेगा। कहा उसने कि मुझ पर कोई करुणा नहीं आती?
फकीर ने कहा, करुणा आती है, इसीलिए न तो बताऊंगा मार्ग, न बताऊंगा उपाय, न बताऊंगा ऐसी विधि जिससे तू अंधा रहकर आंख वाले लोगों की दुनिया में जी सके। मैं तुझे आंख खोलने का उपाय ही बता देता हूं। और फिर उस फकीर ने कहा कि सीख लेगा इस गांव के रास्ते, लेकिन गांव रोज बदल जाते हैं। सीख लेगा इन आंख वालों के बीच रहना, लेकिन कल दूसरी आंख वालों के बीच रहना पड़ेगा। सीख लेगा विधियां, लेकिन विधियां सीमित परिस्थितियों में काम करती हैं, सदा नहीं। मैं तुझे आंख ही खोलने का उपाय बता देता हूं।
उपनिषद का यह ऋषि कहता है, विवेक रक्षा।
संन्यासी के पास और कुछ भी नहीं है सिवाय उसके विवेक के। वही उसकी रक्षा है। न कोई नीति है, न कोई नियम है, न कोई मर्यादा है, न कोई भय है, न नर्क के दंड का कारण है, न स्वर्ग के प्रलोभन की आकांक्षा है। बस, एक ही रक्षा है संन्यासी की--उसका विवेक, उसकी अवेयरनेस, उसकी आंखें। इसे समझें। विवेक रक्षा।
इन दो छोटे शब्दों में बहुत कुछ छिपा है। सब साधना का सार छिपा है। एक ढंग तो है व्यवस्था से जीने का। क्या करना है, यह हम पहले ही तय कर लेते हैं। कहां से जाना है, कैसे गुजरना है, यह हम पहले ही तय कर लेते हैं। क्योंकि हमारा अपनी ही चेतना पर कोई भरोसा नहीं। इसलिए हम सदा ही भविष्य का चिंतन करते रहते हैं और इसीलिए हम सदा ही अतीत की पुनरुक्ति करते रहते हैं। क्योंकि जो हमने कल किया था, उसी को आज करना सुगम पड़ता है, क्योंकि उसे हम जानते हैं, परिचित हैं, पहचाना हुआ है।
लेकिन संन्यासी जीता है क्षण में--अभी और यहीं। अतीत को दोहराता नहीं, क्योंकि अतीत को केवल मुर्दे दोहराते हैं। भविष्य की योजना नहीं करता, क्योंकि भविष्य की योजना केवल अंधे करते हैं। इस क्षण में उसकी चेतना जो

उसे कहती है, वही उसका कृत्य बन जाता है। इस क्षण के साथ ही सहज जीता है।
खतरनाक है यह।
इसलिए उपनिषद कहता है, विवेक ही उसकी रक्षा है।
होशपूर्वक जीता है, बस इतनी ही उसकी रक्षा है। और उसके पास कोई उपाय नहीं है। होशपूर्वक जीता है। पहले से तय नहीं करता कि कसम खाता हूं, क्रोध नहीं करूंगा।
जो आदमी ऐसी कसम खाता है, पक्का ही क्रोधी है। एक तो तय है बात कि वह क्रोधी है। यह भी तय है कि वह जानता है कि मैं क्रोध कर सकता हूं। यह भी वह जानता है कि अगर कसमों का कोई आवरण खड़ा न किया जाए, तो क्रोध की धारा कभी भी फूट सकती है। इसलिए अपने ही खिलाफ इंतजाम करता है--कसम खाता है, क्रोध नहीं करूंगा। फिर कल कोई गाली देता है और क्रोध फूट पड़ता है। फिर और गहरी कसमें खाता है, नियम बांधता है, संयम के उपाय करता है, लेकिन क्रोध से छुटकारा नहीं होता। क्योंकि जिस मन ने नियम लिया था और मर्यादा बांधी थी और जिस मन ने कसम खाई थी, उतना ही मन नहीं है; मन और बड़ा है, बहुत बड़ा है।
तो जो मन तय करता है कि क्रोध नहीं करेंगे, जब गाली दी जाती है तो मन के दूसरे हिस्से क्रोध करने के लिए बाहर आ जाते हैं। वह छोटा सा हिस्सा जिसने कसम खाई थी, पीछे फेंक दिया जाता है। थोड़ी देर बाद जब क्रोध जा चुका होगा, वह हिस्सा, जिसने कसम खाई थी, फिर दरवाजे पर आ जाएगा मन के। पछताएगा, पश्चात्ताप करेगा, कहेगा, बहुत बुरा हुआ। कसम खाई थी, फिर कैसे किया क्रोध! लेकिन क्रोध के क्षण में इस हिस्से का कोई भी पता नहीं था।
मन का बहुत छोटा सा हिस्सा हमारा जागा हुआ है। शेष सोया हुआ है। क्रोध आता है सोए हुए हिस्से से और कसम ली जाती है जागे हुए हिस्से से। जागे हुए मन की कोई खबर सोए हुए मन को नहीं होती। सांझ आप तय कर लेते हैं, सुबह चार बजे उठ आना है। और चार बजे आप ही करवट लेते हैं और कहते हैं, आज न उठें तो हर्ज क्या है! कल से शुरू कर देंगे। छह बजे उठकर आप ही पछताते हैं कि मैंने तो तय किया था चार बजे उठने का, उठा क्यों नहीं। निश्चित ही आपके भीतर एक मन होता, तो ऐसी दुविधा पैदा न होती।
लगता है, बहुत मन हैं। मल्टी साइकिक है आदमी। ऐसा भी कह सकते हैं कि एक आदमी एक आदमी नहीं, बहुत आदमी हैं एक साथ, भीड़ है, क्राउड है। उसमें एक आदमी भीतर कसम खा लेता है सुबह चार बजे उठने की, बाकी पूरी भीड़ को पता ही नहीं चलता। सुबह उस भीड़ में से जो भी निकट होता है, वह कह देता है, सो जाओ, कहां की बातों में पड़े हो! ऐसी हमारी जिंदगी नष्ट होती है।
नियम से बंधकर जीने वाला व्यक्ति कभी भी, कभी भी परम सत्य के जीवन की तरफ कदम नहीं उठा पाता है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि नियम तोड़कर जीएं। मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि मर्यादाएं छोड़ दें। उस फकीर ने भी उस अंधे को नहीं कहा था कि जब तक आंख ठीक न हो जाए, तो तू अपनी लकड़ी फेंक दे। मैं भी नहीं कहता हूं। लकड़ी रखनी ही पड़ेगी, जब तक आंख फूटी है; लेकिन लकड़ी को ही आंख समझ लेना नासमझी है। और यह जिद करना कि आंख खुल जाएगी, तब भी हम लकड़ी को सम्हालकर ही चलेंगे, पागलपन है।
संन्यासी वह है, जो अपने को जगाने में लगा है। और इतना जगा लेता है अपने भीतर सारे सोए हुए अंगों को, अपने सारे खंडों को जगाकर एक कर लेता है। उस अखंड चेतना का नाम विवेक है, इंटीग्रेटेड कांशसनेस। जब मन टुकड़े-टुकड़े नहीं रह जाता, इकट्ठा हो जाता है और एक ही व्यक्ति भीतर हो जाता है, हां का मतलब हां और न का मतलब न होने लगता है। उस एक सुर से बंध गई चेतना का नाम विवेक है। जागी हुई चेतना का नाम विवेक है। होश से भर गई चेतना का नाम विवेक है।
ऋषि कहता है, विवेक ही रक्षा है और कोई रक्षा नहीं। अदभुत है रक्षा लेकिन। क्योंकि विवेक जगा हो, तो भूल नहीं होती। ऐसा नहीं कि भूल नहीं करनी पड़ती। ऐसा नहीं कि भूल को रोकना पड़ता है। ऐसा भी नहीं कि भूल से लड़ना पड़ता है। बस, ऐसा कि भूल नहीं होती। जैसे आंखें खुली हों, तो आदमी दीवार से नहीं टकराता और दरवाजे से निकल जाता है। ऐसे ही भीतर विवेक की आंख जगी हो, तो आदमी गलत को नहीं चुनता और ठीक ही उसका मार्ग बन जाता है।
विवेक रक्षा।

जागा हुआ होना ही इस जगत में एकमात्र रक्षा है। सोया हुआ होना इस जगत में हजार तरह की विक्षिप्तताओं को, हजार तरह की रुग्णताओं को निमंत्रण देना है। हजार तरह के शत्रु प्रवेश कर जाएंगे और जीवन को नष्ट कर देंगे, छिद्र-छिद्र कर देंगे, खंड-खंड कर देंगे। तो जागना ही सूत्र है।
संन्यासी का अर्थ हैः जो निरंतर जागा हुआ जी रहा है, होशपूर्वक जी रहा है। कदम भी उठाता है, तो जानते हुए कि कदम उठाया जा रहा है। श्वास भी लेता है, तो जानते हुए कि श्वास ली जा रही है। श्वास बाहर जाती है, तो जानता है कि बाहर गई; श्वास भीतर जाती है, तो जानता है कि भीतर गई। एक विचार मन में उठता है, तो जानता है कि उठा; गिरता है, तो जानता है कि गिरा। मन खाली होता है, तो जानता है मन खाली है। मन भरा होता है, तो जानता है कि मन भरा है। एक बात पक्की है कि जानने की सतत धारा भीतर चलती रहती है। और कुछ भी हो, जानने का सूत्र भीतर चलता रहता है।
यही रक्षा है, क्योंकि जानकर कोई गलत नहीं कर सकता। सब गलती अज्ञान है
या सब गलती मूर्च्छा है। अगर किसी दिन... ।
अभी तो कभी-कभी कोई व्यक्ति जागता है--कभी कोई बुद्ध, बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ; कभी कोई महावीर, जिन का अर्थ है जीता हुआ, जिसने अपने को जीत लिया; कभी कोई क्राइस्ट--कभी-कभी एकाध व्यक्ति जागता है हम सोए हुए लोगों की दुनिया में। हम उस पर बहुत नाराज भी होते हैं। क्योंकि जहां बहुत लोग सोए हों, वहां एक आदमी का जगना नींद में दूसरों की बाधा बनता है। और वह जागा हुआ उत्सुक हो जाता है कि सोए हुओं को भी जगाए। और सोए हुए नाराज होते हैं, बहुत नाराज होते हैं। उनकी नींद में दखल होती है। और यह जागा हुआ इस तरह की बातें करने लगता है कि उनके सपनों का खंडन होता है। इसलिए हम सब सोए हुए लोग जागे हुए आदमी को समाप्त कर देते हैं। जब वह समाप्त हो जाता है, तब हम उसकी पूजा करते हैं। पूजा नींद में चल सकती है। जागे हुए आदमी की दोस्ती नहीं चल सकती।
जागे हुए आदमी के साथ जीना हो, तो दो ही उपाय हैंः या तो वह आपकी माने
और सो जाए, या आप उसकी मानें और जग जाएं। पहले का तो उपाय है नहीं। जो जाग गया, वह सोने को राजी नहीं हो सकता है। जिसके हाथ में हीरे आ गए, वह कंकड़-पत्थर रखने को राजी नहीं हो सकता। जिसको अमृत दिखाई पड़ गया, उसको आप डबरे का पानी पीने को कहें, मुश्किल है, असंभव है। आपको ही जगना पड़े उसके साथ। सत्संग का यही अर्थ था। यही अर्थ था, किसी जागे हुए पुरुष के पास होना। उस जागे हुए के पास होने से शायद आपकी नींद भी टूट जाए। शायद नींद का एकाध कण भी टूटे, करवट बदलते वक्त जरा सी आंख भी खुले और जागे हुए व्यक्तित्व का दर्शन हो जाए, तो शायद आकांक्षा, प्यास जगे, अभीप्सा पैदा हो और आप भी जागने की यात्रा पर निकल जाएं।
अगर कभी ऐसा हुआ कि बहुत लोग जाग सके और जागे लोगों का समाज बन सका, तो निश्चित ही हम यह बात उस दिन कहेंगे कि हमारे पूरे इतिहास में हमने जिन लोगों को जुर्मी ठहराया, अपराधी ठहराया, वह गलती हो गई। वे सोए हुए लोग थे। सोए हुए लोग अपराध करेंगे ही।
अदालतें माफ कर देती हैं, अगर नाबालिग हो, व्यक्ति अपराध करे। क्योंकि वे कहती हैं, अभी समझ कहां! लेकिन बालिग के पास समझ है? अदालतें क्षमा कर देती हैं अपराधों को या कम कर देती हैं, न्यून कर देती हैं, अगर आदमी ने नशे में किया हो। क्योंकि वे कहते हैं, जो होश में नहीं था, उसके ऊपर जिम्मेवारी क्या! लेकिन हम होश में हैं?
सच तो यह है कि हमारा पूरा इतिहास सोए हुए आदमियों के कृत्यों का इतिहास है। इसीलिए तो तीन हजार वर्षों में हमको सिवाय युद्धों के और कुछ नहीं। युद्ध और युद्ध। तीन हजार वर्ष में, चौदह हजार सात सौ युद्ध हुए जमीन पर! सिवाय लड़ने के... और ये तो बड़े युद्ध हैं, जिनका इतिहास उल्लेख करता है। दिनभर जो छोटी-मोटी लड़ाइयां हम लड़ते हैं, परायों से और अपनों से, उनका तो कोई हिसाब नहीं, लेखा-जोखा नहीं। पूरी जिंदगी हमारी कलह के अतिरिक्त और क्या है! और पूरी जिंदगी हम सिवाय दुख के क्या अर्जित कर पाते हैं! यह सोए हुए होने की अनिवार्य परिणति है।
ऋषि कहता है, संन्यासी का तो विवेक ही रक्षा है।

हिम्मतवर लोग थे, बड़े साहसी लोग थे, जिन्होंने यह कहा। नहीं कहा कि नीति में रक्षा है, नियम में रक्षा है। नहीं कहा मर्यादा में रक्षा है, नहीं कहा शास्त्र में रक्षा है, नहीं कहा गुरु में रक्षा है। कहा विवेक में रक्षा है, होश में रक्षा है। होश के अतिरिक्त कोई रक्षा नहीं हो सकती।
भूल होकर ही रहेगी।
करुणा ही उनकी क्रीड़ा है। करुणैव केलिः।
एक ही उनका खेल है, जागे हुओं का--करुणा। कहें कि एक ही उनका रस बाकी रह गया, कहें कि बस एक ही बात उन्हें और करने योग्य रह गई है--करुणा।
बुद्ध को ज्ञान हुआ। फिर वे चालीस वर्ष जीवित थे। हम पूछ सकते हैं कि
जब ज्ञान हो गया, अब चालीस वर्ष जीवित रहने का कारण क्या है? करुणा! महावीर को ज्ञान हुआ, उसके बाद वे भी इतने ही समय जीवित थे। जब ज्ञान ही हो गया और परम अनुभूति हो गई, तो अब इस शरीर को ढोने की और क्या जरूरत है? करुणा! जो भी जान लेता है, जानने के साथ ही उसके भीतर वासना तिरोहित हो जाती है और करुणा का जन्म होता है। वासना में जो शक्ति काम आती है, वही ट्रांसफार्म, वही रूपांतरित होकर करुणा बन जाती है।
हम वासना में जीते हैं। वासना ही हमारा जीवन है। वासना का अर्थ हैः हम कुछ पाने को जीते हैं। जब वासना रूपांतरित होती है, करुणा बनती है, तो उलटी हो जाती है। करुणा का अर्थ हैः हम कुछ देने को जीते हैं।
लेकिन उलटी है हमारी यह दुनिया, बड़े कंट्राडिक्शंस से, बड़े विरोधाभासों से भरी। वासना से जो भरे हैं, उन्हें हम सम्राट कहते हैं! और करुणा से जो भरे हैं, उन्हें हम भिक्षु कहते हैं! जो दे रहे हैं सिर्फ, वे भिखारी हैं! और जो ले रहे हैं सिर्फ, वे सम्राट हैं!
गहरा व्यंग्य है बुद्ध का इसमें कि बुद्ध अपने को भिक्षु कहते हैं, कि मैं भिखारी हूं। और हम सब भी राजी हो जाते हैं कि ठीक है, दो रोटी तो बुद्ध हमसे मांगते ही हैं, तो भिखारी तो हो ही गए।
बुद्ध हमें क्या देते हैं, उसकी कोई कीमत आंकी जा सकती है! लेकिन हमें
यह भी पता न चले कि वे हमें दे रहे हैं, इसकी भी वे चेष्टा करते हैं। इसलिए दो रोटी हमसे लेकर भिखारी बन जाते हैं, कहीं हमें ऐसा न लगे कि वे हमें देकर हम पर कोई एहसान कर रहे हैं। करुणा इतना भी नहीं चाहती।
और हम ऐसे नासमझ हैं कि अगर हमें यह पता चल जाए कि बुद्ध हमें कुछ दे रहे हैं, तो हमारे अहंकार को चोट लगे। शायद हम लेने का दरवाजा ही बंद कर दें। इसलिए बुद्ध हमसे दो रोटी ले लेते हैं। हमारे अहंकार को बड़ा रस आता है। लेकिन हमें पता नहीं कि हम एक बहुत हारती हुई बाजी लड़ रहे हैं। बुद्ध दो रोटी लेते हैं, और जो देते हैं, उसका हमें पता भी नहीं चलता। दो रोटी में बुद्ध को कुछ भी नहीं मिलेगा, लेकिन वे जो हमें दे रहे हैं, वह हमारे अहंकार को पूरी तरह भस्मीभूत कर देगा। वह राख कर देगा हमारे भीतर वह जो अस्मिता है, उसे मिटा देगा।
करुणा का अर्थ हैः देने के लिए जीना। वासना का अर्थ हैः लेने के लिए जीना। वासना भिखारी है, करुणा सम्राट है। लेकिन दे कौन सकता है? दे वही सकता है, जिसके पास हो। और वही दिया जा सकता है, जो हमारे पास हो। वह तो नहीं दिया जा सकता, जो हमारे पास न हो। वही दिया जा सकता है, जो हमारे पास हो।
हम तो मांगकर ही जीते हैं पूरे जीवन में। हमारे पास कुछ भी नहीं है। प्रेम भी हम मांगते हैं, कोई दे। धन भी हम मांगते हैं, कोई दे। यश भी हम मांगते हैं कि कोई दे। बड़े से बड़ा राजनेता भी भिखारी ही होता है, क्योंकि वह आप सबसे मांगकर जीता है। आप देते हो यश तो मिलता है उसे, आप खींच लेते हो तो खो जाता है। दो दिन अखबार में उसका नाम नहीं छपता, तो बात खतम हो गई। लोग भूल जाते हैं, कहां गया, कौन था, था भी या नहीं था।
1917 में लेनिन जब सत्ता में आया रूस में, तो उसके पहले जो प्रधानमंत्री था रूस का, करेंस्की, वह 1960 तक जिंदा था। जब मरा, तभी लोगों को पता चला कि वह अब तक जिंदा था। क्योंकि वह एक किराने की दुकान कर रहा था अमरीका में। लोग भूल ही चुके थे, बात ही खतम हो चुकी थी। वह तो मरा, तब पता चला कि यह आदमी जिंदा था। कभी वह रूस में सर्वाधिक शक्तिशाली आदमी था। लेनिन के पहले वह सर्वाधिक शक्तिशाली आदमी था। फिर वह ना-कुछ हो गया।

राजनेता भी हमसे यश मांगकर जीता है। जो भी हमसे मांगकर जीता है, वह संन्यासी नहीं है। संन्यासी तो वह है, जो हमें देकर जीता है। और देने की बात भी नहीं करता कभी कि आपको कुछ दिया है। ऐसे उपाय करता है कि आपको लगे कि आपने ही उसे कुछ दिया।
करुणा ही उसकी क्रीड़ा है।
बस एक ही, वह भी क्रीड़ा है। यह बहुत मजेदार बात है। यह नहीं कहा कि करुणा ही उसका काम है। इट इ.ज नाट ए वर्क, बट ए प्ले। काम नहीं है करुणा; खेल है, क्रीड़ा है।
क्रीड़ा और काम में क्या फर्क है? कुछ बुनियादी फर्क है। एक तो यह कि काम अपने आप में मूल्यवान नहीं होता, क्रीड़ा अपने आप में मूल्यवान होती है।
अगर आप सुबह घूमने निकले हैं और कोई पूछे कि किसलिए घूमने निकले हैं;
तो आप कहेंगे कि घूमने में आनंद है, किसलिए नहीं। कहीं पहुंचने के लिए नहीं निकले हैं। कोई मंजिल नहीं है, कोई गंतव्य नहीं है। फिर उसी रास्ते से आप अपने दफ्तर जाते हैं। तो कोई आदमी पूछता है, बड़े आनंद से टहल रहे हैं! तो आप कहते हैं, टहल नहीं रहा हूं, दफ्तर जा रहा हूं। और कभी आपने ख्याल किया कि रास्ता वही होता है, आप वही होते हैं। सुबह जब टहलने निकलते हैं, तब पैरों का आनंद और है, और जब उसी रास्ते से दफ्तर की तरफ जाते हैं, तब छाती पर पत्थर और है। रास्ता वही, पैर वही, चलना वही, आप वही, सब वही। सिर्फ एक बात बदल गई कि अब चलना काम है, और तब चलना खेल था।
जो बुद्धिहीन हैं, वे अपने खेल को भी काम बना लेते हैं; जो बुद्धिमान हैं, वे अपने काम को भी खेल बना लेते हैं।
ऋषि कहता है, क्रीड़ा है करुणा उनकी।
वह भी काम नहीं है। वह भी कोई बोझ नहीं है। वह भी कुछ ऐसा नहीं है कि बुद्ध ने तय ही कर रखा है कि इतने लोगों का निर्वाण करवाकर रहेंगे। अगर न हुआ, तो बड़े दुखी होंगे, बड़े पीड़ित होंगे, बड़े पछताएंगे। बुद्ध ने कुछ तय नहीं कर रखा है कि आपका अज्ञान तोड़कर ही रहेंगे, नहीं टूटा तो छाती पीटकर रोएंगे। खेल है, आनंद है कि आप जग जाएं। न जगें, आपकी मर्जी, बात समाप्त हो गई। खेल पूरा हो गया।
तो एक व्यक्ति भी न जगे बुद्ध के प्रयासों से, तो भी बुद्ध उसी आनंद से परिभ्रमण करते विदा हो जाएंगे। उस आनंद में कोई फर्क न पड़ेगा। बुद्ध का आनंद था कि वे बांट दें। नहीं लिया, वह जिम्मा आपका है। उसके लिए उन्हें पीड़ित होने का कोई भी कारण नहीं।
इसलिए कहा, क्रीड़ा। खेल बन जाए तो फिर आनंद है और काम बन जाए तो बोझ है। तो फिर बुद्ध मरते वक्त हिसाब रखेंगे कि इतने लोगों से कहा, किसी ने लिया, नहीं लिया! इतने लोगों को समझाया, कोई समझा, नहीं समझा! नहीं तो मेरा श्रम व्यर्थ गया।
ध्यान रखिए, काम अगर पूरा न हो, फल न लाए, तो श्रम व्यर्थ चला जाता है। लेकिन क्रीड़ा का श्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता, वह तो क्रीड़ा में ही पूर्ण हो गया। कोई फल का सवाल नहीं। और इसलिए भी क्रीड़ा कहा कि सिर्फ क्रीड़ा ही फलाकांक्षा से मुक्त हो सकती है। काम कभी भी फलाकांक्षा से मुक्त नहीं हो सकता।
कृष्ण ने गीता में फलाकांक्षारहित कर्म की बात कही है। यह उपनिषद का ऋषि ज्यादा ठीक शब्द का प्रयोग कर रहा है, कृष्ण से भी ज्यादा ठीक शब्द का। क्योंकि फलाकांक्षारहित कर्म... । कर्म होगा तो उसमें फलाकांक्षा हो जाएगी, या फिर कर्म का अर्थ क्रीड़ा करना पड़ेगा।
इसलिए इस ऋषि ने यह नहीं कहा कि करुणा उनका कर्म है। कहा, करुणा उनकी केलि, उनका खेल है। कहीं कोई आकांक्षा उससे तृप्त होने को नहीं है। कहीं कोई इच्छा भविष्य में पूरी होने के लिए यात्रा पर नहीं निकली है। किसी वासना का तीर प्रत्यंचा पर नहीं चढ़ा है। कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे वेध डालना है। नहीं, बस यह मौज है। यह भीतर आनंद भर गया है, यह बाहर बिखरना चाहता है, लुटना चाहता है।
जैसे फूल खिल गए हैं वृक्ष पर और उनकी सुगंध रास्ते पर गिरती है, यह क्रीड़ा है। वृक्ष इसकी चिंता में नहीं है कि कौन निकलता है नीचे से। और जो

निकलता है वह वी आई पी है या नहीं, कोई प्रतिष्ठित आदमी निकलता है कि कोई गरीब मजदूर निकलता है, कि आदमी निकलता है कि गधा निकलता है। वृक्ष को कोई मतलब नहीं है। गधे को भी वृक्ष अपने फूल की सुगंध वैसे ही दे देता है, जैसा एक राजनैतिक नेता नीचे से निकले तो उसको भी दे। कोई भेद नहीं करता। और कोई नहीं निकलता, निर्जन हो जाता है रास्ता, तो भी फूल की सुगंध गिरती रहती है। क्योंकि यह फूल का अंतर-आनंद है, यह किसी के प्रति प्रेरित नहीं है, इट इ.ज नाट एड्रेस्ड। यह जो सुगंध है, इस पर किसी का पता नहीं लिखा है कि इसके पास पहुंचे। अनएड्रेस्ड, यह किसी के प्रति नहीं है। यह तो फूल का अंतर-आविर्भाव है। यह तो भीतर उसके प्राणों में जो सुगंध बढ़ गई है, उसे वह लुटा दे रहा है। हवाएं ले जाएंगी। खाली खेतों में पड़ जाएगी, निर्जन रास्तों पर लुट जाएगी। आनंद इसे लुटा देने में है।
एक बहुत अदभुत घटना मैंने सुनी है। सुना है मैंने, एक बहुत बड़ा मनोचिकित्सक, विल्हेम रेक, अभी पश्चिम में जो थोड़े से कीमती आदमी इस आधी सदी में हुए, उनमें से एक। और जो होता है कीमती आदमियों के साथ--विल्हेम रेक को दो साल तो आखिर में जेलखाने में रहना पड़ा। और जो आदमी कम से कम पागल था, अमरीका के समाज और कानून ने उसे पागल करार देकर अंततः पागलखाने में डाल दिया। हमारे ढंग नहीं बदलते। हजारों साल बीत जाएं, हम वही करते हैं। उसमें कोई फर्क नहीं होता।
विल्हेम रेक एक मरीज का इलाज कर रहा था--एक बीमार, मानसिक बीमार का। उसका मनोविश्लेषण कर रहा था। तीन बजे का उसे वक्त दिया था, तीन बजे नहीं आया मरीज। सवा तीन बज गए, घड़ी देखी। ठीक सवा तीन बजे मरीज भागा हुआ अंदर आया। उसने कहा, क्षमा करना, मुझे थोड़ी देर हो गई। विल्हेम रेक ने कहा, यू केम जस्ट इन टाइम, अदरवाइज आई वा.ज टु बिगिन माई वर्क। इसका इलाज कर रहा है, इसकी मनोचिकित्सा कर रहा है। विल्हेम रेक ने कहा कि तुम ठीक वक्त पर आ गए, समय के भीतर आ गए, नहीं तो मैं अपना काम शुरू करने वाला था।
उस मरीज ने कहा, लेकिन जब मैं आता ही नहीं, तो आप काम कैसे शुरू करते? मेरा ही तो मनोविश्लेषण होना है! फूल निर्जन में सुगंध डाले तो हमारी समझ में आ सकता है, लेकिन विल्हेम रेक अगर बिना मरीज के मनोविश्लेषण शुरू कर दे, तो हम भी कहेंगे, पागल है। विल्हेम रेक ने कहा कि तू तो सिर्फ निमित्त है। तू नहीं भी आता, तो काम तो हम शुरू कर ही देते। वह हमारा आनंद है।
यह समझना कठिन होगा। फूल को समझ लेना आसान है, क्योंकि फूल को हम पागल नहीं सोच सकते। आदमी को समझना कठिन है। ऐसा हो सकता है, ऐसा हुआ है कि फूल की तरह निर्जन में भी जागे हुए पुरुषों की वाणी गूंजी है।
लाओत्से के बाबत सुना है मैंने कि कई बार ऐसा हुआ कि वह किसी वृक्ष के नीचे बैठा है और बोल रहा है। राहगीर कोई निकला, ठिठककर खड़ा हो गया। चौंककर उसने देखा, सुनने वाला कोई भी नहीं है। पास जाकर राहगीरों ने पूछा कि यहां कोई दिखाई नहीं पड़ता सुनने वाला, आप बोल रहे हैं किससे? लाओत्से कहता, यह अंतर्भाव है। कोई चीज भीतर जन्म गई है, उसे बाहर डाले दे रहा हूं। अभी सुनने वाला नहीं है, शायद कभी कोई सुन ले। आज मौजूद नहीं है सुनने वाला, लेकिन आज बोलने की बात पैदा हो गई है। कहीं ऐसा न हो कि कल सुनने वाला हो और कहने वाला न रहे, तो मैं बात छोड़े जा रहा हूं। हवाएं इसे सम्हाले रखेंगी, आकाश इसका स्मरण रखेगा और कभी कोई जब सुनने को तैयार होगा, तो सुन लेगा। यह कठिन होगा समझना हमें। लेकिन यही है। अब ऐसे लोग काम से नहीं जीते, ऐसे लोग क्रीड़ा से जीते हैं। इन्हें जीवन एक बोझ नहीं, एक नृत्य है।
ऋषि कहता है, आनंद ही उनकी माला है।
आनंद ही उनकी माला। वे और कुछ नहीं पहनते, आनंद की ही माला पहने रहते हैं। उसमें आनंद के ही गुरिए हैं, उसमें आनंद का ही धागा पिरोया हुआ है। वे प्रतिक्षण अहोभाव में जीते हैं--प्रतिपल। कोई ऐसी परिस्थिति नहीं है, जो उन्हें दुख में डाल सके।
हम परिस्थिति से दुखी होते हैं, परिस्थिति से सुखी होते हैं। कारण होता है हमारे दुख का और कारण होता है हमारे सुख का।
ध्यान रहे, जब तक कारण होता है हमारे सुख का और दुख का, तब तक हमें आनंद
का कोई भी पता नहीं, क्योंकि आनंद अकारण है। कारण सब बाहर होते हैं, इसलिए

सुख भी बाहर होता है, दुख भी बाहर होता है। अकारण जो अवस्था है, वह भीतर होती है। इसलिए आनंद भीतर होता है।
और ध्यान रहे, जो परिस्थिति पर निर्भर होकर जीता है, वह गुलाम है। वह गुलाम होगा ही। गुलाम इसलिए होगा कि परिस्थिति कभी भी बदल सकती है और उसका सुख दुख हो सकता है। और परिस्थिति कभी भी बदल सकती है और उसका दुख सुख हो सकता है। परिस्थिति उसके हाथ में नहीं। परिस्थिति मेरे हाथ में नहीं है।
आनंद ही उनकी माला है।
संन्यास में जो गए गहरे, वे परिस्थिति पर निर्भर होकर नहीं जीते। उनके सुख-दुख का कोई कारण बाहर नहीं होता। बस, वे आनंदित होते हैं अकारण। तब फिर परिस्थिति कुछ भी नहीं कर सकती। आग लगा दें उनमें, तो भी वे उसी आनंद में होते हैं। फूल बरसा दें उनके ऊपर, तो भी वे उसी आनंद में होते हैं। भीतर उनके कोई रंच मात्र फर्क नहीं पड़ता। और जब भीतर रंच मात्र फर्क नहीं पड़ता परिस्थिति से, तभी हम बाहर से, पदार्थ से मुक्त हुए, ऐसा समझें; उसके पहले नहीं।
इसका यह मतलब नहीं है कि बुद्ध की छाती में छुरा आप मारेंगे, तो बुद्ध
के प्राण न निकल जाएंगे। बिल्कुल निकल जाएंगे, शायद आपसे ज्यादा जल्दी निकल जाएंगे। यह भी मतलब नहीं है कि बुद्ध के पैर में कांटा गड़ेगा, तो खून न बहेगा। जरूर बहेगा, शायद आपसे ज्यादा ही बहेगा, क्योंकि बुद्ध कांटे पर भी कठोर नहीं हो सकते। और छुरा भी छाती में जाएगा तो बुद्ध उसके साथ भी कोआपरेट करेंगे, सहयोग करेंगे। वह और भीतर चला जाएगा। बुद्ध को जहर देंगे, तो बुद्ध भी मर जाएंगे। लेकिन फिर भी भीतर कोई अंतर नहीं पड़ेगा। बुद्ध जहर से ही मरे। भूल से दिया था जहर, जानकर नहीं था।
एक गरीब आदमी ने बुद्ध को निमंत्रण दिया था भोजन के लिए। और बिहार में लोग कुकुरमुत्ते को इकट्ठा कर लेते हैं। वह जो बरसात में गीली जगह में, लकड़ी पर, कहीं भी पैदा हो जाता है, छतरी वर्षा की, कुकुरमुत्ता, उसे इकट्ठा कर लेते हैं और सुखा लेते हैं, तो वह वर्षभर सब्जी का काम देता है। लेकिन वह कभी-कभी पायजनस हो जाता है। ऐसी गलत जगह में हो, तो उसमें कभी-कभी जहर हो जाता है।
एक गरीब आदमी ने बुद्ध को निमंत्रण दे दिया। बहुत रोका लोगों ने। सम्राट भी उस गांव का निमंत्रण देने आया, लेकिन थोड़ी देर हो गई थी। बुद्ध ने कहा, थोड़ी देर हो गई, निमंत्रण तो मैं स्वीकार कर लिया। उसने कुकुरमुत्ते की सब्जी बनाई थी। और तो उसके पास कुछ था नहीं--रोटी थी, नमक था, कुकुरमुत्ते की सब्जी थी। वह जहरीली थी। कड़वा जहर था। लेकिन बुद्ध उसे खाए चले गए और उसकी सब्जी का गुणगान करते रहे। और उससे कहते रहे कि तूने कितने प्रेम से बनाई है! और कितने आनंद से बनाई है! मैंने भोजन तो बहुत जगह किए, आहार बहुत सम्राटों के यहां किए, लेकिन तेरे जैसा प्रेम कहीं भी नहीं था।
लेकिन घर आते ही, जहां ठहरे थे, निवास पर लौटते ही पता चला कि जहर फैलना शुरू हो गया है। चिकित्सक बुलाए गए, लेकिन देर हो गई थी। बुद्ध की मृत्यु उसी जहर से हुई।
मरने के पहले बुद्ध ने आनंद को पास बुलाकर उसके कान में कहा कि आनंद, गांव में जाकर डुंडी पीट देना कि जिस व्यक्ति के घर मैंने अंतिम भोजन किया है, वह महाभाग्यवान है। क्योंकि एक तो भाग्यवान वह मां थी मेरी, जिसके साथ मैंने अपना पहला भोजन लिया था, और उसी मां की कीमत का यह आदमी है, जिसके साथ मैंने अंतिम भोजन लिया। तो बुद्धपुरुष जिसके यहां अंतिम भोजन लेते हैं, वह महाभाग्यवान है--गांव में डुंडी पीट देना।
आनंद ने कहा, आप यह क्या कहते हैं! हमारे प्राण खौल रहे हैं उस आदमी के खिलाफत से। बुद्ध ने कहा, इसीलिए कहता हूं, डुंडी पीट देना। नहीं तो मेरे मरने के बाद वह गरीब मुसीबत में न पड़ जाए। लोग कहीं उस पर न टूट पड़ें कि तेरे भोजन से मृत्यु हो गई।
मृत्यु तो हो जाएगी जहर से, लेकिन भीतर! भीतर वही करुणा, वही आनंद कि
वह आदमी मुसीबत में न पड़ जाए। मरते हुए बुद्ध को फिक्र यही है कि कहीं उसके नाम के साथ निंदा का स्वर न जुड़ जाए। कहीं इतिहास ऐसा न लिख दे कि उस गरीब

आदमी पर ही पाप चला जाए कि उसी ने हत्या करवा दी। भीतर अंतर नहीं पड़ता।
आनंद ही उनकी माला है। आनंद ही उनका अस्तित्व है।
गुह्य एकांत ही उनका आसन है--एकासन गुहायाम्।
इसमें दो शब्द समझ लेने जैसे हैं, गुह्य और एकांत। अगर सच में ही एकांत खोजना है, तो स्वयं के भीतर खोजे बिना नहीं मिलेगा। कहीं भी चले जाएं--पहाड़ पर जाएं, कैलाश पर जाएं, जंगलों में जाएं, गुफाओं में जाएं-- कहीं भी जाएं, एकांत नहीं मिलेगा। जो बाहर एकांत को खोजता है, वह एकांत को पा ही नहीं सकेगा। जाएं कहीं भी, दूसरा सदा मौजूद होगा। आदमी न होंगे, पशु- पक्षी होंगे। पशु-पक्षी न होंगे, पौधे-वृक्ष, पत्थर की चट्टानें होंगी। लेकिन दूसरा मौजूद होगा। दूसरे से बचने का बाहर कोई उपाय नहीं। एक ही जगह है, अंतर-गुहा। भीतर एक गुह्य स्थान है, जहां स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। वहीं एकांत है।
ऋषि कहता है, एकासन गुहायाम्।
वह जो अंतर की गुहा है, उस एकांत में ही प्रवेश कर जाना उनका आसन है।
वे इसी आसन को खोजते हैं।
हम आसन जानते हैं, योगासन हम जानते हैं। कोई सिर के बल खड़ा है, कोई शीर्षासन कर रहा है, कोई सिद्धासन कर रहा है। लेकिन ऋषि कहता है, ये आसन उनके आसन नहीं हैं। ये भी बाहर की क्रियाएं हैं। उपयोगी हैं, हितकर हैं, उनसे लाभ ही होता है। लेकिन ये उनका आसन नहीं हैं जो परम गति में प्रवेश करना चाहते हैं। उनका आसन तो एक ही है, स्वयं की ही गुहा में अकेले बच रहना। वही एकासन, वही एकांत, जहां मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
और ध्यान रहे, यह बहुत मजे की बात है, जहां मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं है, वहां मैं भी नहीं बचता हूं। मुझे बचने के लिए दूसरे का होना जरूरी है। क्योंकि मैं दूसरे का ही छोर हूं। अगर तू न बचे तो मैं के बचने के कोई उपाय नहीं हैं। तू को देखकर ही मैं जन्मता है।
इसीलिए तो आप भीड़ को खोजते हैं। हर आदमी भीड़ को खोजता है। क्योंकि भीड़ में जितना मैं मालूम पड़ता है, उतना अकेले में... अकेले में बिखर जाता है। बड़ी भीड़ आपके ऊपर नजर रखे, तो आपका मैं बहुत संगठित हो जाता है, बहुत क्रिस्टलाइज्ड, मजबूत हो जाता है। नेतृत्व का रस यही है कि लाखों लोगों की आंखें मुझ पर हैं। तो मेरा मैं मजबूत हो जाता है। कोई देखने वाला नहीं, कोई तू नहीं, तो मैं के बचने का कोई उपाय नहीं।
मैं एक रिएक्शन है, एक प्रतिक्रिया है, तू के सामने प्रतिध्वनि है। तो जहां मेरे भीतर मैं पहुंचूं अकेले में, नितांत एकांत में, कोई भी न बचे, दूसरा रहे ही न, दुई हो ही न, द्वैत का पता ही न चले, दूसरा मिट ही जाए, भूल ही जाए; तो ध्यान रखना, वहां मैं भी न बचूंगा।
दूसरे के गिरते ही मैं भी गिर जाता है। तब सिर्फ गुह्य एकांत रह जाता है। वहां न तू होता है, न मैं होता है। वहां न कोई अपना होता है, न पराया होता है। स्वयं भी होना नहीं होता। अहंकार भी वहां नहीं है।
ऐसे गुह्य एकांत को ऋषि कहता है आसन। यही है आसन लगाने जैसा। यही है जिसमें बैठें और जिसमें डूबें और जिसमें जीएं और जिसके साथ एक हो जाएं। मुक्तासन सुख गोष्ठी--मुक्त आनंद ही उनकी सुख गोष्ठी है।
मुक्त आनंद ही उनकी चर्चा है, मुक्त आनंद ही उनका उपदेश है, मुक्त आनंद ही उनकी चर्या है। मुक्त आनंद तभी संभव है, जब मैं इतना अकेला हो जाऊं कि मैं भी न बचूं। अगर दूसरा मौजूद है, तो बंधन जारी रहेगा। अगर मैं भी मौजूद हूं, तो बंधन जारी रहेगा। न तू बचे, न मैं बचूं, तो वहां चेतना मुक्त हो जाती है, सब बंधन से बाहर हो जाती है। उस मुक्त आनंद को ऋषि ने कहा है, वही उनकी गोष्ठी है। वही उनका सत्संग है। उस आनंद के साथ ही उनकी चर्चा, उस आनंद के साथ बिहरना ही उनकी चर्या, उस आनंद में जीना ही उनका जीवन। इतना अकेला हो जाना कि जहां मैं भी न बचूं।
अपना भी साथ होता है। कभी आपने ख्याल किया कि जब कोई और बात करने को नहीं मिलता है तो आप अपने से ही बात करते हैं? कभी आपने ख्याल किया कि लोग ताश के पत्तों का खेल तक खेलते हैं, जिसमें दोनों तरफ से चालें वे ही चलते हैं? कोई खेलने वाला न मिले, तो क्या करिएगा! तो ताश के पत्ते बिछाकर आदमी दोनों तरफ की चालें चलता है--अकेला खुद ही।

आप भी चौबीस घंटे इस तरह की चालें चलते हैं। आपके भीतर निरंतर डायलाग चलता है। दो तो नहीं हैं वहां, इसलिए डायलाग होना नहीं चाहिए। दूसरा हो तो बातचीत चलनी चाहिए; आप अपने से ही बातचीत चलाते हैं। आप ही चोर बन जाते हैं, आप ही मजिस्ट्रेट भी बन जाते हैं। भीतर बड़ा नाटक चलता है। करीब-करीब आप सभी का अभिनय भीतर कर लेते हैं। आप वह भी कहते हैं, जो आप कहना चाहते हैं। आप वह भी कहते हैं, जिससे आप कहना चाहते हैं, उसकी तरफ से जवाब भी देते हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन में यात्रा कर रहा है। बीच-बीच में अकारण खिलखिलाकर हंस पड़ता है। फिर चुप हो जाता है। आसपास के लोग चौकन्ने हो गए हैं कि आदमी कुछ अजीब है। कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। खाली बैठा है, आंखें बंद किए है। फिर एकदम से खिलखिलाकर हंसता है। फिर चुप हो जाता है। सम्हलकर फिर बैठ जाता है। आखिर नहीं रहा गया। जिज्ञासा बढ़ी। एक आदमी ने हिम्मत की, जरा हिलाया और कहा, महानुभाव! मामला क्या है, अचानक खिलखिला पड़ते हैं? नसरुद्दीन ने कहा, बाधा मत डालो। आई एम टेलिंग जोक्स टु माइसेल्फ। मैं अपने आपसे जरा कुछ मजाक की बातें कर रहा हूं।
फिर उसने आंख बंद कर ली। फिर वह बीच-बीच में खिलखिलाकर हंसता रहा। फिर कभी-कभी ऐसा भी होता कि हंसता तो नहीं, ऐसा झिड़कता--हे। आखिर फिर उनकी जिज्ञासा बढ़ी कि बात क्या है! फिर उसने पूछा बगल के आदमी ने कि महानुभाव, हंसते थे, ठीक था; यह कोई चीज झिड़क देते हैं बीच-बीच में! तो उसने कहा, सम ओल्ड जोक। सुन चुके कई दफा, कह चुके कई दफा, वह बीच में आ जाता है।
पूरे समय हमारे भीतर भी यही चल रहा है। अकेले नहीं हैं हम अकेले होकर भी। अपने को बांट लेते हैं। बड़ा मजा है, बांट-बांटकर बातचीत चलती रहती है। जरा इस भीतर की चर्चा पर ख्याल करना। ऋषि की--इतना अकेला हो जाता है, इतना अकेला कि--अपने से भी बात नहीं हो सकती अब। अब तो आनंद ही चर्चा है। अब तो आनंद ही भीतर स्पंदित होता रहता है। कोई नहीं बचा। आनंद अकेला बच गया। वही नृत्य करता है, वही नाचता है। बस वही गोष्ठी है।
अकल्पित भिक्षाशी।
यह बहुत जरूरी बात है, समझने जैसी।
अकल्पित भिक्षाशी।
संन्यासी जो है, वह परमात्मा पर छोड़कर जीता है अपने को। योजना करके नहीं जीता। अनप्लैंड, अनायोजित उसका जीवन है। सुबह उठता है, भूख लगती है तो भिक्षा मांगने निकल जाता है। यह भी पता नहीं कि भिक्षा मिलेगी! यह भी पता नहीं, भिक्षा में क्या मिलेगा! यह भी पता नहीं, कौन देगा! अकल्पित, उसकी कोई कल्पना भी नहीं करता। अगर कल्पना भी करे, तो फिर वह संन्यासी की भिक्षा न रही। अगर वह सुबह से यह भी सोच ले कि आज फलां चीज खाने में मिल जाए, तो वह भिक्षा न रही फिर संन्यासी की। वह भिखारी की भिक्षा हो गई। अकल्पित... ।
भूख लगती है, निकल पड़ता है। किसी के द्वार पर खड़ा हो जाता है। कोई दे देता है ठीक, अन्यथा आगे बढ़ जाता है। जो दे देता है, ठीक। जो मिल जाता है, ले लेता है, स्वीकार कर लेता है। न कोई कल्पना है, न कोई योजना है। नहीं, पहले से खबर भी नहीं देता कि कल आपके घर भोजन करने आऊंगा। क्योंकि अगर ऐसी खबर दे, तो वह आयोजित हो जाएगी। अनायोजित जीता है। मानना यह है कि यदि अस्तित्व को जिलाना है, तो जिलाएगा। हम अपनी तरफ से कौन हैं!
मोहम्मद सांझ को जो भी उन्हें मिलता था, बंटवा देते थे। दिनभर लोग चढ़ा जाते, भेंट दे जाते, वह सांझ सब बांट देते। फिर भिखारी हो जाते। रात भिखारी ही सोते। सुबह फिर कोई दे जाता।
मोहम्मद बीमार थे, तो पत्नी ने सोचा मोहम्मद की कि रात दवा की जरूरत
पड़ सकती है, वैद्य बुलाना पड़ सकता है, तो पांच दीनार, पांच रुपए, छिपाकर रख लिए।
आधी रात मोहम्मद करवट बदलने लगे। और मोहम्मद ने कहा, सुन--अपनी पत्नी
को कहा--मुझे ऐसा लगता है कि इस मरते क्षण में मैं भिखारी नहीं हूं।
पत्नी तो बहुत घबरा गई। उसने कहा, आपको कैसे पता चला?
मोहम्मद ने कहा, जिंदगीभर का भिखारी, रात बिना कुछ के सोया हूं सदा।
आदत बिगड़ गई। लगता है, घर में कुछ आज बचा हुआ है। तू निकाल ला, उसे बांट दे।

अन्यथा मैं परमात्मा के सामने क्या जवाब दूंगा कि आखिरी दिन भरोसा खो दिया! और जिसने जिंदगीभर बचाया, वह रात को वैद्य नहीं भेज सकता था? और जिसने जिंदगीभर भोजन दिया, वह रात को दवा नहीं दे सकता था? आखिरी वक्त मुझे परेशानी में मत डाल। अब मरने के वक्त जब मैं उसके सामने जाऊंगा तो क्या मुंह लेकर जाऊंगा? वह मुझसे पूछेगा, मुझे छोड़कर पांच रुपए पर भरोसा किया? तो मैं तुझे कमजोर और पांच रुपए ज्यादा ताकतवर मालूम पड़े? जब जरूरत न थी, तब मैं तुझे सहयोगी लगता था और जब जरूरत पड़ी, तो रुपया सहयोगी हुआ! वह निकाल ले।
पत्नी घबराकर रुपए बाहर निकाल लाई। मोहम्मद ने कहा, जा बाहर देख।
बड़ी हैरान हुई पत्नी कि सामने एक भिखारी खड़ा था। उस भिखारी ने कहा कि मैं तो सोचता था--बहुत जरूरत पड़ गई है, साथी मेरा बीमार पड़ा है और दवा की जरूरत है--तो मैं सोचता था, आधी रात कौन देगा? अपने आप दरवाजा खुल गया और ये पांच रुपए तू दे रही है! मोहम्मद ने अपनी पत्नी को कहा, देख, उसके रास्ते अनूठे हैं। जिसको जरूरत थी, उसको मिल गई; और जिसने बचाया, उसके हाथ से जा रही है।
और जैसे ही वे रुपए दे दिए गए, मोहम्मद ने चादर ओढ़ ली और अपनी पत्नी से कहा, अब मैं निश्चिंत मर सकता हूं। और चादर ओढ़कर तत्क्षण उनकी श्वास निकल गई। जो जानते हैं, वे कहते हैं, वह श्वास अटकी ही इसलिए रही। वे पांच रुपए बहुत भारी पड़े। वे बहुत वजनी थे।
अकल्पित भिक्षाशी।
संन्यासी कल्पना नहीं करता--भिक्षा की ही नहीं, किसी चीज की कल्पना नहीं करता। किसी चीज की योजना नहीं बनाकर चलता। यह मिल जाए, ऐसा कोई सवाल नहीं है। जो मिल जाए, उसके लिए धन्यवाद। और जो न मिले, उसके लिए भी उतना ही धन्यवाद। इतना अर्थ है कि अपने से नहीं जीता, परमात्मा पर छोड़कर जीता है। परमात्मा जहां ले जाए, वहीं चला जाता है। दुख में तो दुख में, सुख में तो सुख में। महलों में तो महलों में सही और झोपड़ों में तो झोपड़ों में सही। परमात्मा जहां ले जाए, उसके हाथ में छोड़ देता है अपने को।
छोटे बच्चे को देखा कभी? बाप का हाथ पकड़कर रास्ते पर चलता होता है, तो फिर बिल्कुल फिक्र नहीं करता वह--कहां जा रहा है? कहां ले जाया जा रहा है? जब बाप के हाथ में हाथ है, तो बात खतम हो गई।
अकल्पित भिक्षाशी।
जब परमात्मा के हाथ में छोड़ दिया सब, तो अब बात खतम हो गई। वह जो करवाए, वही ठीक है। उसी के लिए मन राजी है, उसकी स्वीकृति है।
हंस जैसा उसका आचार है। हंसाचारः।
हंस जैसा उसका आचरण है। हंस के आचरण की दो खूबियां हैं, वह ख्याल में
ले लें। तो वह संन्यासी के आचरण की खूबियां हैं।
एक तो मैंने आपसे पीछे कहा कि हंस की यह कल्पित क्षमता है--वैज्ञानिक
न भी हो--काव्य क्षमता है कि वह पानी और दूध को अलग कर लेता है। असार और सार को अलग कर लेता है। वह जो विवेक है संन्यासी का जागा हुआ, वह तलवार की तरह असार को और सार को काटकर अलग कर देता है। जस्ट लाइक ए सोर्ड--तलवार की तरह दो टुकड़े में कर देता है।
हंस की एक दूसरी क्षमता है, वह भी काव्य क्षमता है। वह है कि हंस मोती
के अतिरिक्त और कुछ आहार नहीं लेता। मर जाए, मोती ही चुनता है। तो संन्यासी भी मर जाए, पदार्थ नहीं चुनता, परमात्मा ही चुनता है, हर हालत में। हर हालत में चुनाव उसका मोतियों का है, कंकड़-पत्थरों का नहीं है। मौत के लिए राजी हो जाएगा, लेकिन कंकड़-पत्थरों के लिए राजी नहीं होगा। श्रेष्ठ का ही उसका चुनाव है। शुभ का, सुंदर का, सत्य का ही उसका चुनाव है। यह जो हंस की क्षमता है, यही संन्यासी का आचरण है।
और अंतिम, सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाला एक आत्मा ही हंस है--इसको
ही वे प्रतिपादित करते हैं।
और जीवन से, शब्दों से, वाणी से, आचरण से एक ही बात वे प्रतिपादित करते हैं; सबके भीतर जो बसा है, वह ऐसा ही परमहंस है। सबके भीतर ऐसी ही आत्मा का आवास है। सबके भीतर ऐसी ही चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है। जो जानते हैं, उनके भीतर भी और जो नहीं जानते हैं उनके भीतर भी। जो अपने आप आंख बंद

किए खड़े हैं, उनके भीतर भी वही परमात्मा है; जो द्वार बंद किए हैं, उनके भीतर भी; जो खोलकर आंख देखते हैं, उनके भीतर भी। फर्क भीतर के परमात्मा का नहीं है, फर्क भीतर के परमात्मा से परिचित या अपरिचित होने का है।
परम ज्ञानी में और परम अज्ञानी में जो फर्क है, वह स्वभाव का नहीं है;
वह फर्क केवल बोध का है, अवेयरनेस का है।
मैं हूं, खीसे में हीरे पड़े हैं और मुझे पता नहीं। आप हैं, आपके खीसे में हीरे पड़े हैं और आपको पता है। जहां तक संपदा का संबंध है, हम दोनों में कोई भी भेद नहीं है। लेकिन फिर भी मैं निर्धन रहूंगा, क्योंकि मुझे अपनी संपदा का कोई पता ही नहीं है। और आप धनवान रहेंगे, क्योंकि आपको अपनी संपदा का पता है। और फिर भी संपदा मेरे पास उतनी ही है, जितनी आपके पास है। लेकिन उस संपदा का क्या मूल्य, जिसका हमें पता ही न हो! उस तिजोरी का क्या मूल्य, हमें मालूम ही न हो कि वह तिजोरी है! उस हीरे का क्या करिएगा, जिसको हम पत्थर समझकर और घर के एक कोने में डाल रखे हैं! पर इससे फर्क नहीं पड़ता। वह संपदा हमारी है।
यही ऋषि उपदेश करते हैं। यही वे समझाते रहते हैं--अहर्निश, सब रूपों में, सब भांति, सब प्रकार से एक ही बात समझाते रहते हैं कि जो उनके भीतर है, वही तुम्हारे भीतर भी है। और सबके भीतर वही है। यह भरोसा एक बार आ जाए, यह ट्रस्ट एक बार आ जाए कि मेरे भीतर भी वही है, तो शायद मैं छलांग लगाने के लिए तैयार हो जाऊं।
शायद यह स्मरण एक बार आ जाए कि वही मेरे भीतर भी है, तो शायद मैं खोज पर निकल जाऊं। खोदने के लिए तैयार हो जाऊं। कोई कह दे कि वह खजाना मेरे घर के नीचे भी गड़ा है, तो शायद मैं कुदाली उठा लूं। आलसी आदमी हूं, सोया पड़ा रहता हूं, लेकिन खजाने की याददाश्त कोई दिला दे, तो शायद मैं आलसी, पड़ा रहने वाला, सोने वाला भी उठ आऊं। दो-चार हाथ चलाऊं, तो शायद नीचे के घड़ों की आवाज आने लगे। और थोड़ा आगे बढूं, तो शायद घड़े मिल जाएं। घड़ों को फोडूं, तो शायद खजाना मिल जाए।
तो ऋषि निरंतर कहते रहते हैं। उनकी श्वास-श्वास एक ही बात बन जाती है
कि वह याद दिलाते रहें लोगों को कि वह परमहंस सबके भीतर छिपा हुआ है।

आज इतना ही।

अब हम उस खजाने की खोज पर निकलेंगे। उस परमहंस को थोड़ा खोजें--सच में छिपा है, नहीं छिपा है?
दो-तीन बातें ख्याल में ले लें। फिर उठें। दो-तीन बातें समझ लें।
कल का रात का प्रयोग तो ठीक हुआ, लेकिन दो-तीन छोटी-छोटी भूलें थीं, वे
आज न हों, इसका ख्याल रखें। एक तो जिन लोगों को भी खड़ा रहना हो, जिन्हें ऐसा लगता हो कि उनसे कूदना नहीं हो सकेगा--लगना तो नहीं चाहिए, थोड़ी कुदाली चलाएं, थोड़ा कूदें, थोड़ा श्रम करें--फिर भी जिन्हें लगता हो कि वे खड़े ही रहेंगे, तो मेरे सामने खड़े न हों। क्योंकि उनकी वजह से आसपास जो लोग हैं, उनकी गति भी क्षीण होती है। फिर वे पीछे चले जाएं। जिनको ऐसा लगता हो कि कुछ भी करके हमसे नाचना न हो सकेगा, वे पीछे खड़े हों।
मेरे सामने और चारों तरफ--मेरे पीछे और मेरे दोनों तरफ--तो वे लोग हों,
जो पूरी शक्ति से कूदने वाले हैं। उनका कूदना संक्रामक हो जाना चाहिए, लहरें बन जानी चाहिए, तो जो पीछे खड़े हैं उनको भी शायद थोड़ी हिम्मत आ जाए। वे भी शायद इंफेक्शन में आ जाएं और उनसे भी शायद दौड़ शुरू हो जाए।
लेकिन मेरे सामने कोई व्यक्ति ऐसा न खड़ा रहे। क्योंकि उसके कारण अवरोध पैदा होता है। अगर एक व्यक्ति खड़ा है, तो चार-पांच व्यक्तियों के आसपास के घेरे को वह खराब करता है। जिनको खड़ा होना है, वे पीछे चले जाएं। जब खड़ा ही होना है, तो पीछे खड़ा होना बेहतर है। यहां तो खड़े हों जिनकी पागल होने की पूरी इच्छा हो।
दूसरी बात, तीस मिनट तक तो मेरी तरफ अपलक आंख रखनी हैं। पलक झपानी ही नहीं है। साथ में कूदना है, चिल्लाना है, आनंदित होना है और हू की आवाज करनी है--पूरे तीस मिनट। पहले दो मिनट तो गहरी श्वास ले लें, ताकि शक्ति जग जाए। पहले जोर से श्वास ले लें, फिर हम प्रयोग शुरू करें।

निर्वाण उपनिषद
छठवां प्रवचन

अनंत धैर्य, अचुनाव जीवन और परात्पर की अभीप्सा

धैर्य कन्था।
उदासीन कौपीनम्।
विचार दंडः।
ब्रह्ममावलोक योग पट्टः।
श्रियां पादुकाः।
परेच्छाचरणम्।
कुंडलिनी बंधः।
परापवाद मुक्तो जीवनमुक्तः।

धैर्य उनकी गुदड़ी (संन्यास की झोली) है।
उदासीन वृत्ति लंगोटी है।
विचार दंड है।
ब्रह्म-दर्शन योग-पट्ट है।
संपत्ति उनकी पादुका है।
परात्पर की अभीप्सा ही उनका आचरण है।
कुंडलिनी उनकी बंध है।
जो दूसरे की निंदा से रहित है, वह जीवन-मुक्त है।

धैर्य कन्था--धैर्य उनकी गुदड़ी है।
धैर्य को कई दिशाओं से समझना जरूरी है। शायद धैर्य से बड़ी कोई क्षमता नहीं है। और जो सत्य की खोज पर निकले हों, उनके लिए तो धैर्य के अतिरिक्त और कोई सहारा भी नहीं है।
धैर्य का अर्थ है, अनंत प्रतीक्षा की क्षमता--टु वेट इनफिनिटली। आज ही मिल जाए सत्य, अभी मिल जाए सत्य, ऐसी मन की वासना हो तो कभी नहीं मिलता। और मैं प्रतीक्षा करूंगा, कभी भी मिल जाए सत्य; मैं मार्ग देखता रहूंगा, राह देखता रहूंगा, बाट देखता रहूंगा; कभी भी अनंत-अनंत जन्मों में, कभी भी जब उसकी कृपा हो मिल जाए, तो अभी और यहीं भी मिल सकता है। जितना बड़ा धैर्य, उतनी ही जल्दी होती है घटना; जितना ओछा धैर्य, उतनी ही देर लग जाती है। प्रभु की तरफ पहुंचने के लिए प्यास तो गहरी चाहिए, लेकिन अधैर्य नहीं। अभीप्सा तो पूर्ण चाहिए, लेकिन जल्दबाजी नहीं। जितनी बड़ी चीज को हम खोजने निकले हों, उतना ही मार्ग देखने की तैयारी चाहिए। और कभी भी घटे घटना, जल्दी ही है, क्योंकि जो मिलता है उसे समय से नहीं तौला जा सकता। अनंत-अनंत जन्मों के बाद भी प्रभु का मिलन हो, तो बहुत जल्दी हो गया। कभी भी देर नहीं है। क्योंकि जो मिलता है, अगर उस पर ध्यान दें, तो अनंत-अनंत जन्मों की यात्रा भी ना-कुछ है। जो मंजिल मिलती है, उस पर पहुंचने के लिए कितना भी भटकाव ना-कुछ है।
तो ऋषि कहता है, धैर्य कन्था।
संन्यासी के कंधे पर जो झोली टंगी होती है, उसका नाम है कन्था। ऋषि कहता है, वस्तुतः संन्यासी की जो गुदड़ी है, झोली है, वह तो धैर्य है। और धीरज की इस गुदड़ी में बड़े हीरे आ जाते हैं।
लेकिन धैर्य तो हमारे भीतर जरा भी नहीं होता। और क्षुद्र के लिए तो हम प्रतीक्षा भी कर लें, विराट के लिए हम जरा भी प्रतीक्षा नहीं करना चाहते। एक व्यक्ति साधारण सी शिक्षा पाने विश्वविद्यालय की यात्रा पर निकलता है, तो कोई सोलह-सत्रह वर्ष स्नातक होने के लिए व्यय करता है। पाता कुछ भी नहीं, कचरा लेकर घर लौट आता है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति ध्यान की यात्रा पर निकलता है, तो वह पहले दिन ही आकर मुझे कहता है कि एक दिन बीत गया, अभी तो कुछ नहीं हुआ।
क्षुद्र के लिए हम कितनी प्रतीक्षा करने को तैयार हैं, विराट के लिए कोई प्रतीक्षा नहीं! इससे एक ही बात पता चलती है कि शायद हमें ख्याल ही

नहीं है कि विराट क्या है। और शायद हमारी चाह इतनी कम है कि हम प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं। क्षुद्र की हमारी चाह बहुत है, इसलिए हम प्रतीक्षा करने को राजी हैं।
एक आदमी थोड़े से रुपए कमाने के लिए जिंदगीभर दांव पर लगा सकता है और प्रतीक्षा करता रहता है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों। चाह गहरी है धन को पाने की, इसलिए प्रतीक्षा कर लेता है। परमात्मा के लिए वह सोचता है कि एकाध बैठक में ही उपलब्ध हो जाए। और वह बैठक भी वह तब निकालता है जब उसके पास अतिरिक्त समय हो, जो धन की खोज से बच जाता हो। छुट्टी का दिन हो, अवकाश का समय हो, तो। और फिर वह चाहता है, बस जल्दी निपट जाए। वह जल्दी निपट जाने की बात ही यह बताती है कि ऐसी कोई चाह नहीं है कि हम पूरा जीवन दांव पर लगा दें।
और ध्यान रहे, विराट तब तक उपलब्ध नहीं होता, जब तक कोई अपना सब कुछ समर्पित करने को तैयार नहीं होता। और सब कुछ समर्पित करना भी कोई बारगेन नहीं है, कोई सौदा नहीं है। नहीं तो कोई कहे कि मैंने सब कुछ समर्पित कर दिया, अभी नहीं मिला। अगर इतना भी सौदा मन में है कि मैंने सब समर्पित कर दिया तो मुझे प्रभु मिलना चाहिए, तो भी नहीं मिल सकेगा। क्योंकि हमारे पास है क्या जिससे हम प्रभु को खरीद सकें? क्या छोड़ेंगे आप? छोड़ने को है क्या आपके पास? आपका कुछ है ही नहीं, जिसे आप छोड़ दें। सभी कुछ उसी का है। उसी का उसी को देकर सौदा करेंगे?
है क्या हमारे पास? शरीर हमारा है, जमीन हमारी है, ज्ञान हमारा है, क्या है हमारे पास? और हो सकता है, धन भी हमारा हो, जमीन भी हमारी हो, लेकिन एक बात पक्की है कि भीतर गहरे में वह जो हमारे छिपा है, वह हमारा बिल्कुल नहीं है। क्योंकि न तो हमने उसे बनाया है, न हमने उसे खोजा है, न हमने उसे पाया है। वह है।
तो धन तो हो भी सकता है आपका हो, लेकिन आप अपने बिल्कुल नहीं हैं। क्योंकि कह सकते हैं, धन मैंने कमाया। लेकिन यह जो भीतर दीया जल रहा है चेतना का, यह तो प्रभु का ही दिया हुआ है। आपका इसमें कुछ भी नहीं है। आप अपने बिल्कुल नहीं हैं, इसलिए देंगे क्या?
मारपा, तिब्बत का एक बहुत अदभुत ऋषि जब अपने गुरु के पास पहुंचा, तो उसके गुरु ने कहा, तू सब दान कर दे। मारपा ने कहा, लेकिन मेरा अपना कुछ है कहां? गुरु ने कहा, तो कम से कम तू अपने को समर्पित कर दे। तो मारपा ने कहा, मैं! मैं तो उसका ही हूं। समर्पण करके, उसकी चीज उसी को लौटाकर, कौन सा गौरव होगा! तो उसके गुरु ने कहा, भाग जा, अब दुबारा इस तरफ मत आना। क्योंकि जो मैं तुझे दे सकता था, वह तो तुझे मिल ही गया है। वह तेरे पास है ही। मारपा ने कहा, मैं सिर्फ कोई जानने वाला पहचान ले, इसलिए आपके चरणों में आया हूं। अनजान हूं, जो मिल गया है, उसे भी पहचान नहीं पाता, क्योंकि पहले वह कभी मिला नहीं था। आपने कह दिया, मुहर लगा दी।
असल में गुरु की अंतिम जरूरत साधना के शुरू के चरणों में नहीं पड़ती, अंतिम जरूरत तो उस दिन पड़ती है, जिस दिन घटना घटती है। उस दिन कोई चाहिए, जो कह दे कि हां, हो गया। क्योंकि अपरिचित, अनजान, पहले तो कभी जाना हुआ नहीं है, उस लोक में प्रवेश हो जाता है। रिकगनीशन नहीं होता, पहचान नहीं होती कि जो हो गया है, वह क्या है। तो गुरु की जरूरत पड़ती है प्राथमिक चरणों में, वह बहुत साधारण है। अंतिम क्षण में गुरु की जरूरत बहुत असाधारण है कि वह कह दे कि हां, हो गई वह बात जिसकी तलाश थी। वह गवाही बन जाए, वह साक्षी बन जाए। धैर्य का अर्थ है, हमारे पास न दांव पर लगाने को कुछ है, न परमात्मा को प्रत्युत्तर देने के लिए कुछ है, न सौदा करने के लिए कुछ है, हमारे पास कुछ भी नहीं है। और मांग हमारी है कि परमात्मा मिले। प्रतीक्षा तो करनी पड़ेगी। धैर्य तो रखना पड़ेगा और अनंत रखना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि चुक जाए कि दो-चार दिन बाद फिर हम पूछने लगें। तो उसमें वैसा ही नुकसान होता है, जैसे छोटे बच्चे कभी आम की गुही को बो देते हैं जमीन में और दिन में चार दफे उखाड़कर देख लेते हैं कि अभी तक, अभी तक अंकुर नहीं निकला? अधैर्य, अंकुर कभी नहीं निकलेगा। यह चार दफे उखाड़ने में अंकुर कभी नहीं निकलेगा। अंकुर निकलने का मौका भी तो नहीं मिल पा रहा है, अवसर भी नहीं मिल पा रहा है।

जमीन में बीज को बोकर भूल जाना चाहिए, प्रतीक्षा करनी चाहिए। हां, पानी डालें जरूर, पर अब बीज को उखाड़-उखाड़कर मत देखते रहें--अभी तक बीज फूटा, नहीं फूटा! नहीं तो फिर कभी नहीं फूटेगा, बीज खराब ही हो जाएगा। तो ध्यान करके हर बार न पूछें कि अभी पहुंचे, कि नहीं पहुंचे। बोते जाएं, सींचते जाएं। जब अंकुर निकलेगा, पता चल जाएगा। जल्दी न करें, बार-बार उखाड़कर मत देखें।
एक सूफी फकीर हुआ बायजीद। अपने गुरु के घर बारह वर्षों तक था। बारह वर्षों तक उसने यह भी न पूछा कि मैं क्या करूं। बारह वर्ष बाद एक दिन गुरु ने कहा, बायजीद, किसलिए आया है, कुछ पूछता भी नहीं। तो बायजीद ने कहा, प्रतीक्षा करता हूं, जब आप पाएंगे कि मैं योग्य हूं, तो आप खुद ही कह देंगे।
यह संन्यासी का लक्षण है। बारह वर्ष! सांझ आकर पैर दाब जाता है, सुबह कमरा साफ कर देता है, चुपचाप बैठ जाता है, दिनभर बैठा रहता है। रात जब गुरु कह देता है कि अब मैं सो जाता हूं, तो चला जाता है। बारह वर्ष बाद गुरु पूछता है बायजीद, बहुत दिन हो गए तुझे आए, कुछ पूछता नहीं है! तो बायजीद कहता है, जब मेरी पात्रता होगी, जब आप समझेंगे कि क्षण आ गया कुछ कहने का, तो आप ही कह देंगे। मैं राह देखता हूं। और बायजीद ने कहा कि जो मैं पूछता उससे मुझे जो मिलता, वह इस राह देखने में अनायास मिल गया। अब मैं बिल्कुल शांत हो गया हूं। यह बारह वर्ष कुछ किया नहीं, बैठकर बस आतुर प्रतीक्षा की है। तो मैं एकदम शांत हो गया हूं। भीतर कोई विचार नहीं रहे हैं।
आतुरता विचार ला देती है। जल्दबाजी विचार पैदा करवा देती है। अगर प्रतीक्षा हो, तो विचार शांत हो जाते हैं। जल्दी कुछ हो जाए, इसी से मन में तूफान उठते हैं। कभी भी हो जाए, जब होना हो। और न भी हो, तो भी परमात्मा पर छोड़ देने का नाम प्रतीक्षा है। कोई शिकायत नहीं।
धैर्य उनकी गुदड़ी है।
कोई शिकायत नहीं। वह जो दिखा दे ठीक, वह जो न दिखाए ठीक। अंतहीन।
इसका यह अर्थ नहीं है कि अंतहीन हो जाती है बात। इतनी तैयारी हो, तो इसी क्षण घट जाती है बात; क्योंकि इतनी तैयारी वाले व्यक्ति के लिए अब और रोकने का कोई कारण नहीं है। जिसके पास धैर्य की गुदड़ी है, उसके पास सत्य का धन तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है।
उदासीन वृत्ति उनकी लंगोटी है।
उदासीन वृत्ति। थोड़ा समझ लें। साधारणतः जो हम उदासीन से समझते हैं,
वह अर्थ नहीं है। उदासीन से हम समझते हैं कि जो व्यक्ति, जहां-जहां वासनाएं रस लेती हैं, वहां-वहां अपने को उदास रखता है, दूर रखता है; रस नहीं लेता, विराग रखता है, विरस रहता है। जहां-जहां इंद्रियां मांग करती हैं, वहां-वहां अपने को रोक लेता है।
नहीं, उदासीन का यह अर्थ नहीं है। अगर व्यक्ति अपने को पॉजिटिवली, विधायक रूप से रोकता है, तो फिर उदासीन नहीं रहा। चुनाव शुरू हो गया। मेरे मन ने कहा कि यह बड़ा भवन मुझे मिल जाए, मैंने कहा कि नहीं दूंगा, मैं उदासीन हूं, मैं इस महल की तरफ देखूंगा ही नहीं। मैं सिर नीचा करके, आंख बंद करके गुजर जाऊंगा। मैं उदासीन नहीं रहा, मैंने पक्ष ले लिया। मेरे भीतर दो पक्ष हो गए। एक, जो मांग करता था कि यह महल मिल जाए, और एक जो कहता था कि नहीं, महल से क्या होगा? इन दो पक्षों में मैंने एक पक्ष ले लिया, तो मैं उदासीन न रहा। उदासीन का अर्थ है कि मन का एक कोना कहता है कि महल मिल जाए, मन का एक कोना कहता है कि नहीं लेंगे, क्या रखा है महल में--दोनों के प्रति जो दूर खड़ा रहे, तटस्थ रह जाए, न्यूट्रल हो जाए, चुनाव न करे, च्वायसलेस हो। मन की ये दोनों बात चलती रहें, वह द्वंद्व में से कुछ भी न चुने। पीछे खड़ा रह जाए।
उदासीनता अचुनाव है। उदासीनता का अर्थ है कि हम द्वंद्व में कोई भी चुनाव नहीं करते। मन का एक हिस्सा कहता है, क्रोध करो; मन का दूसरा हिस्सा कहता है, क्रोध जहर है। न हम मन के पहले हिस्से की सुनते हैं, न हम दूसरे हिस्से की सुनते हैं। हम दूर खड़े होकर दोनों हिस्सों को देखते हैं। न हम यह किनारा चुनते हैं, न वह किनारा चुनते हैं। हम कुछ चुनते ही नहीं। अचुनाव उदासीनता है। और प्रतिपल मन द्वंद्व खड़े करता है, क्योंकि मन का

स्वभाव द्वंद्व है--टु बी डुअल। मन एक से जी नहीं सकता। मन दो होकर ही जीता है।
आपने मन में कभी कोई ऐसी लहर न पाई होगी जिसकी विपरीत लहर मन तत्काल पैदा नहीं कर देता। जहां आकर्षण होता है, तत्काल विकर्षण वहीं पैदा हो जाता है। मन का एक हिस्सा कहता है, बाएं चलो; दूसरा फौरन कहता है, दाएं चलो। मन सदा ही द्वंद्व खड़ा करता है। मन का स्वभाव द्वंद्व है। अगर मन निर्द्वंद्व हो जाए, तो मर जाए; अगर द्वंद्व खो जाए, तो मन समाप्त हो जाए। अगर इस द्वंद्व में से आपने कुछ भी चुना, तो आप मन के साथ ही हैं। और जिसको आप चुनेंगे, उसके विपरीत जो है वह मौजूद रहेगा, वह मिटेगा नहीं। वह प्रतीक्षा करेगा आपकी कि ठहरो, थोड़े दिन में ऊब जाओगे उस चुनाव से, फिर मुझे चुन लोगे। यही तो हो रहा है पूरे वक्त।
एक स्त्री को आप प्रेम करते हैं या एक पुरुष को आप प्रेम करते हैं, मन
उस वक्त भी द्वंद्व में होता है। मन का एक हिस्सा कहता है कि ठीक है, बहुत प्रीतिकर है, साथ रहें। मन का एक कोने का हिस्सा कहता है कि कहां फंस रहे हो, किस उपद्रव में जा रहे हो, मुसीबत में पड़ोगे! फिर इसमें जो मेजर पार्ट होता है, जो हिस्सा वजनी मालूम पड़ता है उस क्षण वासना को, आप उसका चुनाव कर लेते हैं। दूसरा पड़ा रह जाता है।
थोड़े ही दिन में उस स्त्री या उस पुरुष के साथ रहकर दुख शुरू होते हैं, क्योंकि दूरी में सब आकर्षण है। पास आते ही डिसइल्यूजनमेंट, सारे आकर्षण गिरने शुरू हो जाते हैं। वह स्त्री, जो अप्सरा मालूम पड़ती थी, चार दिन साथ रहने के बाद साधारण स्त्री हो जाती है। बीच का सम्मोहन गिर जाता है। वह जिसके शरीर से सुगंध मालूम होती थी, उसके शरीर से भी पसीने की दुर्गंध आने लगती है। वे जो हाथ ऐसे मालूम पड़ते थे कि छू लेंगे तो शायद फूलों का स्पर्श होगा, अब ऐसा होता है कि ये हाथ भी ठीक हाथ हैं हड्डी और मांस के, और बात सब साधारण हो जाती है।
फ्रांस के एक बहुत विचारशील व्यक्ति आस्कर वाइल्ड ने एक बात अपनी डायरी में लिखी है जीवनभर के अनुभवों के बाद। लिखा है, देयर आर टू मिस्फारच्यून्स इन मैन्स लाइफ। वन इ.ज नाट टु गेट द वन, वन लव्स, एंड द अदर इ.ज टु गेट हिम ऑर हर। एंड द सेकेंड वन इ.ज द वर्स। दो ही दुर्भाग्य हैं मनुष्य के जीवन में। एक, जिसे प्रेम करते हैं, उसे न पा सकें। दूसरा, जिसे प्रेम करते हैं, उसे पा सकें। और दूसरा पहले से बदतर है। क्योंकि जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे अगर न पा सकें, तो सम्मोहन सदा के लिए बना रह जाता है। मजनू को पता नहीं है असली दुर्भाग्य का। असली दुर्भाग्य तब होता जब लैला मिल जाती। बच गए, असली दुर्भाग्य से बच गए। नहीं मिली, सपना कायम रहा, आशा जगती रही, वासना प्रज्वलित रही। मिल जाती, तो जैसे आग पर पानी पड़ जाए, ऐसी लैला मजनू पर पड़ जाती।
आस्कर वाइल्ड कहता है, और दूसरा पहले से बदतर है। दुर्भाग्य तो दोनों हैं, क्योंकि पहले में भी परेशानी है और दूसरे में भी परेशानी है। लेकिन फिर भी पहला बेहतर है, क्योंकि परेशानी में भी एक रस है, दूसरी परेशानी में रस भी नहीं है।
लेकिन मन दोनों ही बातें पैदा करता है। पहले कहता है, पाओ। पा लेने पर कहता है, क्या रखा है! यह जो क्या रखा है, यह पहले भी मौजूद था, सिर्फ यह माइनर पार्ट था, अल्पमतीय था, इसलिए दबा पड़ा रहा। यह प्रतीक्षा करेगा कि मेरा भी अवसर तो आएगा। तब मैं ऊपर उठ आऊंगा। और कहूंगा, देखो, पहले ही कहा था, सुना नहीं। अब, अब मुसीबत में पड़ गए हो।
मन द्वंद्व में जीता है। आप ऐसी कोई चीज नहीं चाह सकते, जिसके प्रति
एक दिन अचाह पैदा न हो। आप ऐसा कोई प्रेम नहीं कर सकते, जिसमें आपको किसी दिन घृणा न जन्म जाए। आप ऐसा कोई मित्र नहीं बना सकते, जो किसी दिन शत्रु न हो जाए। जो भी चाहा जाएगा, उसका भ्रम टूटेगा। आप ऐसी कोई चीज पा नहीं सकते, कि एक दिन ऐसा न लगे कि गले में फांसी लग गई। इतनी मेहनत करके जो हम पाते हैं, आखिर में हम पाते हैं, अपनी ही फांसी बना ली।
वोल्तेयर ने लिखा है कि वक्त था एक, जब मुझे कोई भी नहीं जानता था। तो रास्ते से मैं गुजरता था, तब बहुत पीड़ित होता था कि कोई नमस्कार भी नहीं

करता। मन में एक ही आकांक्षा थी कि कब वह दिन आएगा कि लोग मुझे भी जानेंगे और जहां से गुजर जाऊंगा, आंखें मेरी तरफ फिर जाएंगी।
वह दिन आ गया--दूसरे नंबर का दुर्भाग्य। वह दिन आ गया। तो वोल्तेयर की हालत यह हो गई कि उसको चोरी से पुलिस को छिपाकर उसके घर पहुंचाना पड़ता था। क्योंकि इतना लोग उसको जानने लगे और इतना मानने लगे कि वह घर कपड़े पहने हुए नहीं पहुंच सकता था। फ्रांस में ऐसा रिवाज है कि जिसे हम आदर करते हैं, उसके कपड़े के टुकड़े का ताबीज... । तो वह घर तक पहुंचते वक्त तक उसके कपड़े फट जाते थे सब। तब उसने कहा, हे भगवान, किसी तरह इनसे बचाओ। इससे तो पहली वाली हालत अच्छी थी। कम से कम सुरक्षित घर तो आ जाते थे। कभी भीड़ में वह लुच भी जाता, हाथ में चोट लग जाती, क्योंकि लोग कपड़े फाड़ते।
वह दिन फिर आ गया। वक्त बदलने में देर नहीं लगती, जैसा मौसम बदलने में देर नहीं लगती। लोगों के मनों का क्या भरोसा है, क्षण-क्षण में बदल जाते हैं। वह वक्त फिर आ गया, वोल्तेयर बदनाम हो गया। मरते वक्त वोल्तेयर को कब्र पहुंचाने तीन आदमी और--चार प्राणी--क्योंकि एक उसका कुत्ता भी था। तो उसको पहुंचाने चार प्राणी गए थे, तीन उसके मित्र और एक कुत्ता। लोग भूल चुके थे। मरते वक्त फिर वही पीड़ा थी। कि अब वह उतर आता है स्टेशन पर, कोई लेने नहीं आता। रास्ते से गुजरता है, कोई ख्याल नहीं करता। जब मरने की खबर सुनी, तभी अनेक लोगों ने कहा, अरे, वोल्तेयर अभी जिंदा था! हम तो समझते थे कि कभी का मर चुका होगा। बहुत दिनों से नाम नहीं देखा, सुना नहीं।
जो भी हो जाए, उसी से मन दूसरे पहलू पर लौटने लगता है। यश मिल जाए, तो
यश से परेशानी हो जाती है। यश न मिले, तो न मिलने से परेशानी होती है। धन मिल जाए, तो परेशानी देता है, धन न मिले, तो परेशानी होती है। इस संसार में ऐसी कोई भी चीज नहीं है, जो दोनों हालत में परेशानी न दे। और उसका कारण है कि मन सदा द्वंद्व में जीता है। एक को चुना कि दूसरा भी तैयार हो गया। जब यह थक जाएगा, तो दूसरा ऊपर आ जाएगा।
उदासीन का अर्थ है, चुनाव ही नहीं। इसलिए उदासीन धन्यभागी है, क्योंकि उदासीन दुखी नहीं हो सकता। वह जो आस्कर वाइल्ड ने दो विकल्प कहे, वह दोनों ही विकल्प नहीं चुनता। वह कहता है, हम मन का कोई भी विकल्प नहीं चुनते। हम मन में चुनाव ही नहीं करते। हम कहते हैं, मन, तुझे जो करना है, सोच। हम दूर ही खड़े हैं। हम तुझे न चुनेंगे। न यह, न वह। न पक्ष, न विपक्ष। हम तटस्थ हैं!
उदासीनता बड़ी अदभुत शांति है। क्योंकि जब आप मन का चुनाव ही नहीं करते, तो धीरे-धीरे दोनों द्वंद्व मर जाते हैं। चुनाव से ही जीते हैं, आपके सहयोग से ही जीते हैं। दोनों धीरे-धीरे सूख जाते हैं, उनको जल मिलना बंद हो जाता है। और जिस दिन मन का द्वंद्व सूख जाता है, उसी दिन मन भी सूख जाता है। इसलिए कहा ऋषि ने, उदासीनता उनकी लंगोटी है।
वे प्रतीक की तरह बात कर रहे हैं, ताकि ख्याल में आ जाए कि क्या है संन्यासी का रूप।
विचार उनका दंड। विचार दंडः।
उनके हाथ की जो लकड़ी है, वह विचार। लेकिन यहां विचार से थोड़ा समझ लें। विचार एक बात है और विचारों की भीड़ बिल्कुल दूसरी बात है। अगर एक विचार हो, तो हाथ की लकड़ी बन सकता है; और अगर बहुत विचार हों, तो हाथ की लकड़ी नहीं बनता, फिर सिर पर लकड़ी का गट्ठर बन जाता है। फिर वह सहारा नहीं रहता, बोझ हो जाता है। विचारों में नहीं है संन्यासी, विचार!
एक तो फर्क यह समझ लें कि हम सदा विचारों में होते हैं, विचार में नहीं। हमारे भीतर एक भीड़ होती है विचारों की। निर्जन, एकांत, अकेला विचार हमारे भीतर कभी नहीं होता। असंगत भीड़ होती है। एक से दूसरे पर छलांग लगाते रहते हैं। विपरीत भीड़ होती है। एक विचार यह और उसका उलटा भी वहीं मौजूद होता है, उसके पीछे ही खड़ा होता है। अनेक विचार साथ ही खड़े रहते हैं। वही तो हमारी विक्षिप्तता है, पागलपन है, इनसेनिटी है।
इतने विचारों के बीच हम सिर्फ दब जाते हैं। और जब विचार का आधिक्य हो जाता है, तो विवेक क्षीण हो जाता है। जैसे आकाश बदलियों में दब जाए, या किसी झील पर पत्ते ही पत्ते फैल जाएं और झील का जल दिखाई पड़ना बंद हो जाए, ऐसे ही हमारे भीतर जो विवेक है, चेतना है, वह विचारों की पर्तों में दब

जाती है। उसका हमें फिर पता ही नहीं चलता। बहुवचन में विचार नहीं--नाट थाट्स।
विचार दंड है।
संन्यासी अपनी चेतना के समक्ष एक विचार से ज्यादा को एक साथ नहीं आने देता। क्योंकि एक आए, तो ही उसकी परीक्षा हो सकती है। और एक आए, तो ही चेतना उसको जांच और परख सकती है। एक आए, तो चेतना निर्णय कर सकती है। एक आए, तो तत्काल दिखाई पड़ जाता है, ठीक या गलत। सोचना नहीं पड़ता। लेकिन एक फर्क और समझ लें।
यहां विचार से अर्थ थाट का भी नहीं है, थिंकिंग का है। एक तो विचार का अर्थ होता है विचार--आब्जेक्टिव। जैसे आपके भीतर एक विचार आया कि भूख लगी है, खाना खाना चाहिए; नींद आ रही है, सो जाना चाहिए। एक विचार आपके भीतर आया। यह विचार का आ जाना जरूरी नहीं है कि आप विचारवान हों कि आपके भीतर थिंकिंग की, विचारणा की क्षमता हो। क्योंकि जब आपको ख्याल आया कि भूख लगी, तब विचारवान जो है, वह इसी विचार से नहीं जीएगा। वह इस विचार पर भी विचार करेगा। एक दूसरी पर्त पर खड़े होकर विचार करेगा कि सच में भूख लगी? क्योंकि बहुत बार तो भूख सच में नहीं लगती, सिर्फ आदत से लगती है। अगर
एक बजे खाना खाते हैं और घड़ी ने एक का घंटा बजा दिया, बस विचार आ जाता है, भूख लगी। वह भूख सच्ची नहीं है। अगर घड़ी ने गलती से, बारह ही बजे हों और एक का घंटा बजा दिया हो, तो भी लग आती है। वह भूख सच्ची नहीं है। और अगर आप घंटेभर रुक जाएं--तो वह भूख, चूंकि सच्ची नहीं थी, सिर्फ हैबीच्युअल थी, आदतन थी--तो घंटेभर बाद आप पाएंगे, भूख मर गई। अगर भूख सच्ची हो, तो घंटेभर बाद और बढ़ जानी चाहिए। लेकिन झूठी भूख घंटेभर बाद मर जाएगी, क्योंकि मन तो सिर्फ यंत्रवत चल रहा है।
आपके भीतर जो विचार चलते हैं, वे आदतन हैं। वे आपकी चिंतना का परिणाम नहीं हैं। वे आपके होश से नहीं जन्मे हैं, आपकी पुरानी जड़ आदतों से, आपके अतीत और आपकी स्मृति की पैदाइश हैं--ए मेमोरी प्रोडक्ट। एक आदत का समूह बना हुआ है, वह रोज काम करता रहता है।
आप घर आते हैं, तो आपको सोचना थोड़े ही पड़ता है, विचार थोड़े ही करना पड़ता है कि अब बाएं घूमें, अब दाएं घूमें, अब अपने घर में जाएं, अब घर आ गया तो साइकिल का ब्रेक लगाएं। ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। आपकी खोपड़ी में हजार चीजें चलती रह सकती हैं। हाथ वक्त पर ब्रेक लगाता है, हाथ साइकिल को मोड़ देता है। बाएं घूम जाते हैं, दाएं घूम जाते हैं, घर के पास पहुंच जाते हैं। कभी आपने ख्याल किया है कि आपको साइकिल चलाते वक्त सोचना नहीं पड़ता कि अब कहां, अब किस तरफ--आदतन। जरूरी भी है, क्योंकि जिंदगी में अगर सभी चीजें सोचनी पड़ें, तो चलानी बहुत मुश्किल हो जाए, जिंदगी चलानी। अगर रोज-रोज सोचना पड़े कि यह अपना ही घर है! बाहर खड़े होकर अगर विचार करें, तो मुश्किल हो जाए। वैसे लोग भी हैं, जिनको रोज सोचना पड़ता है कि अपना ही घर है! मुल्ला नसरुद्दीन की जब शादी हुई, तो पत्नी पहले ही दिन बहुत परेशान
हो गई। और अपनी पड़ोसन से उसने कहा कि मैं तो बहुत दुखी हो गई हूं। उसने कहा, क्या हो गया पहले ही दिन? उसने कहा, जब खाना खाकर मुल्ला उठा तो उसने मेरे हाथ में टिप रख दी। तो उसकी पड़ोसन ने कहा, इसमें कोई ऐसी चिंता की बात नहीं। आदतन। बेचारा कुंवारा आदमी; अब तक होटल में ही खाता। पर उसकी पत्नी ने कहा कि नहीं, इससे भी उतनी चिंता न हुई। चिंता तो तब हुई, जब टिप रखने के बाद उसने मुझे चूम भी लिया। अगर टिप भी आदतन है और यह भी आदतन है, तो फिर खतरनाक मामला है।
हम जीते हैं ऐसे ही। सब जड़ हो जाता है। सब बंध जाता है। एक लीक हो जाती है, उस पर हम चलते हैं। बाहर की जिंदगी में ठीक भी है। काम करना मुश्किल होगा। लेकिन भीतर की जिंदगी में बहुत खतरनाक है, क्योंकि विचारणा कम होती चली जाती है। इसलिए बच्चे जितने विचारशील होते हैं, बूढ़े उतने विचारशील नहीं होते; यद्यपि बच्चों के पास विचार कम होते हैं और बूढ़ों के पास बहुत होते हैं।
इसलिए फर्क को ख्याल में ले लें। बूढ़े के पास विचार तो बहुत होते हैं, विचारशीलता कम हो गई होती है। क्योंकि सब विचार उसकी आदत बन गए होते हैं, अब उसे विचार करना नहीं पड़ता। विचार आ जाते हैं। वे नियमित हो गए हैं।

बच्चे के पास विचार तो बहुत कम होते हैं, इसलिए विचारशीलता बहुत होती है। फिर धीरे-धीरे विचारों की पर्तें जमती जाएंगी। वह भी कल बूढ़ा हो जाएगा, तब विचार करने की जरूरत न पड़ेगी। विचार रहेंगे उसके पास। जब जिस विचार की जरूरत होगी, वह अपनी स्मृति के खाने से निकालकर और सामने रख देगा।
ध्यान रहे, बूढ़े के पास अनुभव होता है, विचार होते हैं, लेकिन विचारशीलता कम होती चली जाती है। क्योंकि बहुत पत्ते झील पर इकट्ठे हो जाते हैं। बच्चा खाली झील की तरह है जिस पर पत्ते अभी नहीं हैं।
इसलिए अगर बच्चों को ही ध्यान सिखाया जा सके, तो इस जगत में क्रांति
हो सकती है, अन्यथा क्रांति नहीं हो सकती। क्योंकि ब.ूढ़े के साथ उलटी मेहनत करनी पड़ती है। जिंदगीभर उसने कचरा इकट्ठा किया है। इकट्ठा करने के पहले ही अगर उसको यह बोध आ जाता कि व्यर्थ इकट्ठा नहीं करना है, या इकट्ठा भी कर लेना है, तो उससे तादात्म्य नहीं करना है; और कितने ही विचार इकट्ठे हो जाएं, विचारशीलता को मरने नहीं देना है... ।
अपने विचार के प्रति भी तटस्थता का नाम विचारशीलता है। दूसरे के विचार के प्रति तो हम तटस्थ होते ही हैं। अपने विचार के प्रति भी तटस्थता का नाम विचारशीलता है। अपने विचार को भी पुनर्विचार करने की क्षमता का नाम विचारणा है। और प्रतिदिन, आदतवश नहीं, होशपूर्वक। क्योंकि कल का कोई विचार आज काम नहीं पड़ सकता है। सब बदल गया होता है, विचार थिर हो जाता है, जड़ हो जाता है। वह पत्थर की तरह भीतर बैठ जाता है। और जिंदगी तो तरल है, लिक्विड है, वह बदलती जाती है और हम कंकड़-पत्थर भीतर इकट्ठे करते चले जाते हैं।
रमजान का महीना था और मुल्ला नसरुद्दीन ने भी तय किया कि वह भी उपवास
कर ले। तो सोचा रोज-रोज हिसाब रखना पड़ेगा, कितने दिन हो गए। उपवास में रखना ही पड़ता है। नहीं तो आदमी मर जाए। आशा लगाए रखता है कि चलो, एक दिन चुका। अब इतने, पंद्रह दिन बचे, अब चौदह दिन बचे--गुजर ही जाएगा, गुजर ही जाएगा। पर इतनी तकलीफ उठाए, कौन हिसाब रखे; तो उसने एक मटकी रख ली और रोज उसमें एक कंकड़ डालता गया। जब भी जरूरत होगी, कंकड़ गिन लेंगे।
कोई पंद्रह दिन बीते होंगे उपवास के दिनों के और कोई यात्री राह से गुजरता हुआ, तीर्थयात्रा पर जाता हुआ नसरुद्दीन के द्वार पर रुका। और नसरुद्दीन से उसने पूछा कि मैं जरा भूल गया हूं, रमजान के कितने दिन निकल गए? तो नसरुद्दीन अपनी मटकी लाया। थोड़ा डरा भी, जब मटकी उसने उलटाई। यात्री से कहा कि तुम जरा बाहर बैठो, मैं गिनकर आता हूं। गिने, बड़ा हैरान हुआ। हुआ ऐसा कि उसके लड़के को भी यह देखकर कि बाप रोज कंकड़ डालता है मटकी में, लड़का भी कंकड़ ला-लाकर डालता चला गया। बाहर जाकर उसने कहा कि माफ करना भाई, पैंतालीस दिन हो गए हैं। उस आदमी ने कहा, पैंतालीस! महीने में पैंतालीस दिन होते हैं? नसरुद्दीन ने कहा, यह तो मैं बहुत कम करके बता रहा हूं। पत्थर तो डेढ़ सौ हैं। यह तो मैंने काफी कम करके बताए।
विचार भी ऐसे ही पत्थरों की तरह भीतर इकट्ठे होते चले जाते हैं। जिंदगी बहुत तरल है, विचार बहुत ठोस हैं। फिर आखिर में उन्हीं कंकड़-पत्थरों को गिनकर हम जिंदगी का हिसाब रखते हैं। और जैसा नसरुद्दीन के लड़के ने बहुत पत्थर डाल दिए, विचार सब आपके नहीं होते, आपके तो थोड़े ही होते हैं, बाकी तो दूसरे आप में डाल देते हैं। आखिर में आपके घड़े में जो पत्थर निकलते हैं, वे सब आपके भी नहीं होते हैं। सब डाल रहे हैं आपके घड़े में पत्थर। आखिर में गिनती आप करेंगे, समझेंगे अपने हैं। बाप बेटे के में डाल रहा है, पत्नी पति की खोपड़ी में डाल रही है, शिक्षक विद्यार्थी के, गुरु शिष्यों के। वे कंकड़-पत्थर इकट्ठे हो जाएंगे। उनका नाम विचार नहीं है। विचारों के संग्रह का नाम विचार नहीं है।
विचार एक शक्ति है--सोचने की, देखने की, निष्पक्ष होने की, अपने ही विचार के प्रति तटस्थ होने की। वह जो कल का विचार था, वह भी पराया हो गया, उसके प्रति भी पुनर्विचार की जो योग्यता है--संन्यासी का वह दंड है। विचार दंडः। वह सोचकर चलता है। सोचकर चलने का अर्थ, वह जड़ता से और आदत से नहीं जीता।
मुल्ला नसरुद्दीन पर एक मुकदमा था। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि आपकी उम्र क्या है? उसने कहा, चालीस वर्ष। मजिस्ट्रेट थोड़ा चौंका। उसने कहा कि चार

साल पहले भी तुम आए थे, तब भी तुम्हारी उम्र चालीस ही वर्ष थी? मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि मैं वचन का पक्का आदमी हूं, जो एक दफे कह दिया, कह दिया। असंगत मैं कभी नहीं होता--नेवर इनकंसिस्टेंट। जब अदालत के सामने कह दिया चालीस साल, तो अब तो बात खतम हो गई। अब तुम कभी भी पूछ लो--सोते से जगाकर--मैं चालीस साल का ही हूं। और तुम्हीं ने तो कसम दिलाई थी, ओथ पर रखा था मुझे कि सत्य ही बोलना। जब बोल चुके सत्य, तो बोल चुके।
ऐसी ही जड़ता हमारे भीतर पैदा होती है। सख्त हो जाती है। वह जो पांच साल की उम्र में सोचा था, वह पचास साल की उम्र में भी हमारे काम पड़ता है। आपको ख्याल नहीं है कि आप पचास साल की उम्र में भी कभी-कभी पांच साल के बच्चे जैसा व्यवहार करते हैं।
एक आदमी के मकान में मैंने आग लगी देखी। उस गांव में मैं मेहमान था। सामने के ही मकान में आग लग गई थी। वह आदमी तो होगा कम से कम पचास-पचपन का, लेकिन आग लगी देखकर वह छोटे बच्चों जैसा कूदने लगा, चिल्लाने लगा और रोने लगा और छाती पीटने लगा।
रिग्रेसन, इसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं, वह रिग्रेस कर गया। असल में छोटे बच्चे चिल्ला सकते हैं, कूद सकते हैं, अपने को मार सकते हैं, रो सकते हैं, और तो कुछ कर नहीं सकते। अब आग लग गई, तो पचपन साल के आदमी के लिए यह व्यवहार ठीक नहीं है--अगर विचारपूर्ण हो तो। विचार तो इस आदमी के पास बहुत होंगे। यह अपने बेटे को काफी ज्ञान दे रहा होगा, जो भी मिल जाता होगा उसको सलाह देता होगा। इसलिए हमारे पास दूसरों को देने के लिए बहुत सलाहें होती हैं। खुद पर मुसीबत आए, तब पता चलता है कि सलाह काम पड़ेगी नहीं, क्योंकि हम रिग्रेस कर जाते हैं फौरन। हम उस अवस्था में पहुंच जाते हैं, जिसका हमें पता ही नहीं।
अब यह आदमी पांच साल के बच्चे का व्यवहार कर रहा है। इस वक्त इसकी उम्र पांच साल से ज्यादा नहीं है। इस वक्त इसके भीतर वही हो रहा है, जो पांच साल में इसने सीखा होगा कि जब कोई मुसीबत की बात आ जाए और कुछ करते न बने, तो हाथ-पैर पटककर रोना-चिल्लाना चाहिए। बच्चे के लिए तो ठीक है, क्योंकि पांच साल का बच्चा जब हाथ-पैर पटककर रोता-चिल्लाता है तो वह परिणामकारी है। क्योंकि उसकी मां झुक जाती है, बाप राजी हो जाता है कि खोपड़ी मत खाओ, जो चाहिए वह ले लो। लेकिन अभी कोई बाप नहीं है यहां, कोई मां नहीं है। मकान में आग लगी है।
असहाय जरूर है वह आदमी, वैसा ही जैसा पांच साल का बच्चा होता है। उसको
एक खिलौना चाहिए। अब उसके पास कोई उपाय नहीं है, न पैसे हैं, न सुविधा है, वह कहां से लाए। वह चिल्लाता है, रोता है। मां-बाप परेशान हो जाते हैं। इस परेशानी से दो-चार रुपए खर्च करना ज्यादा सस्ता काम है। बार्गेनिंग हो जाती है। एकाध दफे डांटते हैं पहले। वे कोशिश करते हैं, पांच रुपए बच सकें तो बेहतर है। नहीं बचते, फिर राजी हो जाते हैं। यह बच्चा एक ट्रिक सीख जाता है। इसने एक ट्रिक सीख ली कि अगर कोई ऐसी अवस्था हो जहां कुछ न सूझे करते, वहां रोना-चिल्लाना, पैर पटककर भी काम होता है।
अब यह पचपन साल का आदमी है, मकान में आग लग गई है। अवस्था, परिस्थिति वही आ गई है, अब कुछ करते इसे बनता नहीं। वह पांच साल का बच्चा हो गया है। अब वह चिल्ला रहा है, रो रहा है, पीट रहा है। यह पांच साल में जो कंकड़ उसने इकट्ठे किए थे, पचपन साल में उपयोग कर रहा है।
नहीं, यह विचारपूर्वक नहीं है बात। नहीं तो वह भी सोचेगा, हाथ-पैर पटकने से क्या होगा! विचार तो हैं उसके भीतर बहुत। अब जब मकान में आग लगी है, तो बहुत ज्यादा होंगे। लेकिन अब किसी काम के नहीं हैं।
विचारपूर्वक होने का अर्थ है, अपने अतीत से निरंतर छुटकारा--डाइंग टु
द पास्ट, अपने अतीत के प्रति रोज मरते जाना। स्मृति तो इकट्ठी होगी, लेकिन अपने विचार को अलग रखना और अपनी स्मृति पर भी विचार बनाए रखना।
तो संन्यासी का दंड है विचार। वह चलता है स्मृति से नहीं, टटोलता है स्मृति से नहीं, मार्ग खोजता है स्मृति से नहीं, विचार से। जब भी कोई परिस्थिति होती है, वह सदा पुनर्विचार करने को, रिकंसीडर करने को राजी है। स्वभावतः, संन्यासी को असंगत होना पड़ेगा। अगर मुल्ला नसरुद्दीन संगत
है तो संन्यासी को असंगत होना पड़ेगा। परिस्थिति बदल जाएगी, तो विचार

बदलना पड़ेगा। नया क्षण होगा, तो नए विचार को जन्म देना पड़ेगा। आदत कहेगी, पुराने से काम चला लो; स्मृति कहेगी, तैयार है; रेडीमेड उत्तर है, दे दो। लेकिन विचार कभी रेडीमेड उत्तर नहीं देता। कोई तैयार विचार, विचार नहीं है, स्मृति है।
विचार सदा स्पांटेनियस है, सहज स्फूर्त, उसी क्षण में पैदा होता है, पूरी चेतना से पैदा होता है। एक क्षण में आप मुकाबला करते हैं चुनौती का, विचार जन्म लेता है। अगर आपने पुरानी स्मृति का ही उपयोग किया, तो विचार नहीं है, आप एक मरे हुए आदमी हैं। संन्यासी जीवंत है, वह प्रतिपल सहज स्फूर्त जीता है। इसका, इसका अर्थ, विचार उसका दंड है।
ब्रह्म-दर्शन उसका योग-पट्ट है।
ब्रह्म-दर्शन ही उसका सर्टिफिकेट है, उसका प्रमाणपत्र है--और कोई भी नहीं। ब्रह्म को देख लेना ही उसकी परीक्षा, ब्रह्म को देख लेना ही उसका परीक्षा-फल, ब्रह्म को देख लेना ही उसका प्रमाणपत्र, ब्रह्म को देख लेना ही उसका योग-पट्ट है। उससे कम पर उसका कोई राजी होने का सवाल नहीं है। ध्यान रहे, ब्रह्मसूत्र पढ़ लेने से नहीं, ब्रह्म के दर्शन से। ब्रह्म
के संबंध में शास्त्र पढ़ लेने से नहीं, ब्रह्म के दर्शन से। दर्शन से कम पर संन्यासी राजी नहीं है। इससे कम का कोई सवाल नहीं है।
श्वेतकेतु वापस लौटा ज्ञान लेकर, सब शास्त्र पढ़कर। लेकिन पिता ने उससे पूछा, तू सब पढ़ आया, लेकिन वह तूने जाना या नहीं, जिसे जान लेने से सब जान लिया जाता है? श्वेतकेतु ने कहा, यह क्या है? यह तो हमारे कोर्स में नहीं था। यह क्या बला है? हम सब सीखकर लौटे हैं। ज्योतिष तो हम जानते हैं, आयुर्वेद तो हम जानते हैं, संगीत तो हम जानते हैं, चारों वेद हम जानते हैं, उपनिषद हम पढ़कर आए हैं, ब्रह्म का पूरा ज्ञान लेकर आए हैं। लेकिन यह तो कोई सवाल ही समझ में नहीं आता कि उसको जानकर आए कि नहीं--उस एक को--जिसको जान लेने से सब जान लिया जाता है और जिसको न जानने से सब जाने हुए का कोई भी मूल्य नहीं है!
उस युवक ने कहा कि मैं तो बड़े गौरव से भरकर आ रहा था, बहुत प्रमाणपत्र लेकर आ रहा था और आपने तो सब पानी गिरा दिया। पिता ने कहा, तो तू वापस जा। तू जो बटोर लाया है, वह ज्ञान नहीं है। वह केवल ज्ञान की राख है। बेटे को वापस लौटा दिया।
वर्षों बाद बेटा वापस आया। दूर अपनी झोपड़ी की खिड़की से बाप ने देखा कि श्वेतकेतु वापस लौट रहा है। उसने अपनी पत्नी से कहा, पीछे का दरवाजा खोल दे, मैं भाग जाऊं। पत्नी ने कहा, क्या कहते हो! बेटा वापस आ रहा है। उसके पिता ने कहा, लेकिन वह उसे जानकर आ रहा है, जिसे मैंने भी अभी जाना नहीं। वह भी मैंने शास्त्र में पढ़ा था कि उस एक को जान, जिसको जानने से सब जान लिया जाता है। वह भी मैंने शास्त्र में पढ़ा था। और वह लड़का झंझटी है। मैं तो पूछा था ऐसे ही। वह चला ही गया वापस। अब वह जानकर लौट रहा है। उसकी चाल कहती है, उसके आसपास की हवाएं खबर ला रही हैं, उसका चेहरा कहता है, उसकी आंखें कहती हैं। उसके चारों तरफ जो आभामंडल है, वह कहता है। मैं भाग जाऊं, क्योंकि अब उससे पैर छुलाना ठीक न होगा। अब जब तक मैं न जान लूं, तब तक इस बेटे के दर्शन करना ठीक नहीं। भाग गया बाप पीछे के दरवाजे से। ब्रह्म-दर्शन... ।
उससे कम पर संन्यासी की तृप्ति नहीं है; शब्दों से नहीं, शास्त्र के सिद्धांतों से नहीं, ज्ञान की परीक्षाओं से नहीं। वेद की परीक्षा से कहीं वेद मिलता है? कि वाराणसी में बैठकर संस्कृत के श्लोक कंठस्थ कर लेने से कोई ज्ञान मिलता है? कितने पंडित नहीं हैं? हां, एक अकड़ जरूर मिल जाती है। अज्ञान तो भीतर होता है और पांडित्य अकड़ दे देता है कि मैं जानता हूं। और जब अज्ञान को यह ख्याल आ जाता है कि मैं जानता हूं, तो अज्ञान से भी बदतर स्थिति पैदा होती है। अज्ञान को यह पता रहे कि मैं नहीं जानता, तो अज्ञान विनम्र होता है, कभी न कभी टूट सकता है। अज्ञान को यह ख्याल आ जाए कि मैं जानता हूं, तो अज्ञान अहंकार से भर जाता है, अकड़ से मजबूत हो जाता है, टूटना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अज्ञानी तो ब्रह्म तक पहुंच भी जाए, पंडित बड़ी मुश्किल से पहुंच पाता है।

ब्रह्म-दर्शन ही--उससे कम नहीं--वही उसकी परीक्षा, वही उसका शास्त्र, वही उसका ज्ञान, वही उसका योग-पट्ट, वही उसका प्रमाण, बस वही सब कुछ है। ध्यान रखें दर्शन शब्द पर। अंग्रेजी में शब्द है फिलासॉफी। अब तो हम हिंदी से दर्शन को अनुवाद करते हैं, तो फिलासॉफी ही कहते हैं। या फिलासॉफी को हिंदी में अनुवाद करते हैं, तो दर्शन कहते हैं। वह ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शन फिलासॉफी नहीं है। फिलासॉफी का मतलब हैः विचार, चिंतन, मनन--दर्शन नहीं। दर्शन का मतलब है, देखना।
एक अंधा आदमी भी प्रकाश के संबंध में सोच सकता है, सुन सकता है। ब्रेल लिपि में लिखा गया हो, तो पढ़ भी सकता है। एक अंधा प्रकाश के संबंध में खूब चिंतन कर सकता है। और यह भी हो सकता है कि अंधा अगर ठीक और बुद्धिमान हो, तो प्रकाश के संबंध में कोई सिद्धांत भी खोज सकता है; प्रकाश के संबंध में कुछ आविष्कार भी कर सकता है। प्रकाश के संबंध में कुछ ऐसे सिद्धांत निर्मित कर सकता है जो कि प्रकाश की उलझन को सुलझाने में सहयोगी हो जाएं। कोई बाधा नहीं है। लेकिन अंधा दर्शन नहीं कर सकता। दर्शन और ही बात है। विचार तो खोपड़ी तक ही तैरते हैं, दर्शन हृदय तक पहुंच जाता है। और विचार तो सिर्फ छाया मात्र हैं, दर्शन प्रतीति है, अनुभव है। इसलिए जर्मन विचारक हरमन हेस ने सिर्फ पिछले पचास वर्षों में--न डा. राधाकृष्णन ने और न विवेकानंद ने और न रामतीर्थ ने, जिन लोगों ने भी भारतीय दर्शन को पश्चिम में पहुंचाने की कोशिश की है, उन्होंने नहीं--एक जर्मन विचारक हरमन हेस ने दर्शन के लिए फिलासॉफी शब्द का उपयोग करने से इंकार किया। और उसने कहा कि मैं नया शब्द गढूंगा, जो कि पश्चिम की भाषाओं में नहीं है। वह शब्द उसने गढ़ा फिलासिया।
फिलासॉफी में दो शब्द हैं--फिला और सॉफी। सॉफी का मतलब होता है ज्ञान
और फिला का अर्थ होता है प्रेम--ज्ञान का प्रेम। हरमन हेस ने एक नया शब्द बनाया, फिलासिया। फिला का अर्थ होता है, प्रेम और सिया का अर्थ होता है, टु सी--दर्शन का प्रेम।
भारत में फिलासॉफी जैसी चीज रही ही नहीं। विचार का प्रेम भारत में नहीं है। भारत में दर्शन की आकांक्षा है। देखे बिना, देखे बिना क्या होगा! कितना ही सुनो, कितना ही समझो, कितना ही कंठस्थ करो, देखे बिना क्या होगा! देखना पड़ेगा--ब्रह्म-दर्शन। तो संन्यासी की अभीप्सा है ब्रह्म-दर्शन।
श्रियां पादुकाः।
यह बड़ा अदभुत सूत्र है।
संपत्ति उनकी पादुका।
बड़ा अजीब है। संपत्ति का और संन्यासी से क्या लेना-देना। और सब तो ठीक है, ब्रह्म-दर्शन करो, ठीक है। संपत्ति से संन्यासी का क्या लेना-देना? वही सूचना है इसमें।
संपत्ति उनकी पादुका।
दो-तीन बातें हैं। एक, हम सब संपत्ति की पादुकाएं हैं, संपत्ति की जूतियां। संपत्ति चलती है, हम जूते का काम करते हैं। गुलाम संपत्ति के। संन्यासी ही मालिक हो सकता है संपत्ति का। संपत्ति को जूते की तरह पैर में डालकर चल सकता है। इसलिए कि संपत्ति की उसकी कोई मांग नहीं है।
सुना है मैंने, कबीर का बेटा था कमाल। कभी-कभी ऐसी बातें कह देता था कबीर से कि कबीर ने कहा कि बेहतर हो कि तू एक अलग झोपड़ा ही बना ले। क्योंकि ऐसे असमय में कह देता था कि कभी-कभी अकारण कठिनाई पैदा हो जाती। जैसे कबीर ने एक सूत्र कहा कि चलती हुई चक्की देखकर कबीर रोने लगा कि दो पाटों के बीच में जो भी पड़ गया, वह पिस गया। ठीक ही कहा था, बिल्कुल ठीक था। कमाल बोला कि नहीं, कमाल चलती चक्की देखकर खूब हंसा। दो पाट तो पीस रहे थे, लेकिन जिसने बीच के दंड का सहारा ले लिया था, वह बच गया।
यह झंझट अकारण है, यह भी ठीक है। कबीर बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। यह कमाल
भी बिल्कुल ठीक कह रहा है। जरूरी नहीं कि सत्य और असत्य में ही उपद्रव होता है। कई बार दो सत्यों में सीधा उपद्रव हो जाता है।
कबीर ने कहा कि बेटा, तू दूसरा ही झोपड़ा बना ले, क्योंकि यहां अकारण उपद्रव होता है। तो कमाल अलग रहने लगा। कबीर ने कह दिया, तो ठीक। उसने पास में ही एक झोपड़ा बना लिया। कुछ लोग कमाल को भी सुनने आते थे। आदमी कमाल का

ही था। कबीर ने ही तो नाम दिया था कमाल उसको, था वह कमाल का ही। और कबीर का बेटा अगर कमाल न हो, तो कबीर को ही तो ग्लानि उठानी पड़े। कबीर ने तो सिर्फ इसलिए कहा था कि उस झोपड़ी में कबीर कहते थे, व्यर्थ का विवाद खड़ा न हो और लोगों के मन में शंका न आए। तू अलग हो जा, यहां से लोग सुनकर तुझे भी सुन लेंगे। तेरी बात भी सुन जाएंगे।
मगर शिष्यों में तो विरोध शुरू हो गया। कोई कमाल के शिष्य हो गए, कोई कबीर के शिष्य हो गए। उपद्रव भी बना। कबीर के शिष्यों ने उड़ाना शुरू किया कि कमाल तो कोई ज्ञानी नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि लोग पैसा दे जाते, तो यह रख लेता है। कबीर को दो, तो वे तो नहीं रखते।
वह कबीर का ढंग है। शायद इसीलिए न रखते हों कि कहीं जो पैसा लेकर आया है, वह कबीर से टूट न जाए। क्योंकि अगर कोई पैसा लेकर आए, न रखो, तो बड़ा प्रसन्न होता है, बड़ा प्रभावित होता है। कहता है कि त्यागी है। लेकिन आग्रह करता है कि रखो। और दुखी मालूम पड़ता है कि आप मेरा इतना सा भी आग्रह नहीं मानते। अगर रख लो तो सुखी नहीं होता। चिंतित होकर जाता है कि कहीं चक्कर में तो नहीं पड़ गए। यह आदमी तो तत्काल रख लिया। आदमी का मन ऐसा है। कुछ भी करो, दुखी होगा। कबीर तो इंकार कर देते थे। तो बहुत लोग दुखी होते थे कि हमें कोई सेवा का अवसर नहीं देते। आदमी के मन का एक बड़ा दुख है। पशुओं की दुनिया में, पशुओं की जरूरतें पूरी हो जाएं, तो पशु तृप्त हो जाते हैं। उनकी जरूरतें पूरी हो जाएं--खाना मिल जाए, विश्राम मिल जाए, नींद मिल जाए, कामवासना तृप्त हो जाए--पशु तृप्त हो जाते हैं। दे हैव नीड्स, इफ दे आर फुलफिल्ड, दे आर फुलफिल्ड।
लेकिन आदमी में एक और अदभुत बात है। सब जरूरतें पूरी हो जाएं, तो भी आदमी तृप्त नहीं होता। एक बड़ी अदभुत जरूरत आदमी में है--ए नीड टु बी नीडेड। दूसरे लोगों को भी उसकी जरूरत मालूम पड़नी चाहिए--कि मैं किसी के काम पड़ रहा हूं, किसी के उपयोग में आ रहा हूं, मेरे बिना बड़ी गड़बड़ हो जाएगी। सब जरूरतें पूरी हो जाएं, तो भी एक जरूरत भीतर रह जाती है, वह यह है कि मेरी जरूरत भी दूसरों को होनी चाहिए। अगर ऐसा लगे कि मेरी जरूरत किसी को भी नहीं, तो जिंदगी बेकार है। भोजन है, कपड़ा है, नींद है, सब पड़ा रह गया। मेरी कोई जरूरत नहीं।
तो जब कोई आदमी आता है कबीर जैसे आदमी के पास और कबीर इंकार कर देते हैं कि नहीं भाई, मैं कुछ न लूंगा, तो वे भी करुणा से ही इंकार कर रहे हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि अगर वे ले लेंगे, तो यह आदमी परेशान जाएगा, हो सकता है रात सो न सके कि कहां के भोगी के पास पहुंच गए।
कमाल, कोई ले आता, तो रख लेता। कहता, बड़ी खुशी, रख जाओ। वह भी कृपा और करुणा है। क्योंकि इस आदमी को अगर ऐसा लगे कि कमाल इसके बिना न जी सकेगा, तो भी इसके भीतर एक फूल खिलने का उपाय बनता है। जिंदगी बहुत पहेली है।
तो कबीर के शिष्यों ने उड़ाना शुरू कर दिया कि कमाल तो बेईमान दिखता है, कोई संन्यासी नहीं दिखता। काशी का सम्राट एक दिन कबीर के पास आया था, तो शिष्य बड़े बेचैन थे कि कहीं दूसरे झोपड़े में न जाए। तो उन्होंने कहा कि चलिए-चलिए, सीधे जल्दी चलिए। पर उन्होंने कहा कि जरा यह कमाल को भी मिल लूं, कबीर का बेटा यहां रहता है। पर उन्होंने कहा, वह आदमी ठीक नहीं है। पैसे पर उसकी बड़ी पकड़ मालूम पड़ती है। सम्राट ने कहा, तो चलें, परीक्षा कर लें।
वह गया। हाथ में हीरे की बहुमूल्य अंगूठी थी, लाखों उसके दाम थे। सम्राट ने वह निकाली और कमाल से कहा कि यह रख जाता हूं। कमाल ने कहा, मर्जी। सम्राट थोड़ा चौंका, इतनी जल्दी! पहले न करना चाहिए, हां करना चाहिए, मना करना चाहिए। इतनी जल्दी! मन हुआ कि वापस अपनी अंगुली में डाल ले, लेकिन बड़ी बेइज्जती होगी। यह शिष्यों ने ठीक ही कहा था कि यहां मत जाना। अब फंस गए। तो जरा रुका, तो कमाल ने कहा कि रख ही दो, अब रुकते क्या हो? तो उसने पूछा कि कहां रखें? कमाल ने कहा, जहां मर्जी हो। तो उसने सनोलियों की झोपड़ी थी, उसमें खोंस दी अंगूठी।
सो नहीं सका होगा। एक दिन, दो दिन बड़ी बेचैनी रही कि कहां उलझ गए! कबीर आदमी अच्छा है। एक पैसा भी दो, तो कहता है कि नहीं, ले जाएं, क्या करेंगे, सब है। यह आदमी कैसा है। पंद्रह दिन बाद नहीं माना मन। वापस गया। देखें कि

क्या हुआ उस अंगूठी का! अब तक तो बिक गई होगी। नाच-गान पता नहीं क्या हो गया होगा। यह आदमी ही ऐसा दिखता है कि जरा रुके तो कहने लगा, रख ही दो, अब ठहरते क्या हो।
गया तो कमाल बैठा था। पूछा कमाल ने, फिर ले आए क्या अंगूठी? आदमी कैसे हो! अब नहीं सहा गया उससे भी। उसने कहा कि आदमी कैसे हो! तो कमाल ने कहा, कैसे आए? क्योंकि पिछली दफा अंगूठी लेकर आए थे, तो मैंने सोचा फिर। नहीं, उसने कहा, अंगूठी लेकर नहीं आए। यह पता लगाने आया हूं कि अंगूठी कहां है। उसने कहा, तुम जहां रख गए थे वहां देख लो। अगर कोई न ले गया हो, तो वहां होगी। अगर कोई ले गया हो, तो हमने कोई ठेका नहीं लिया था उसकी रक्षा का। सम्राट उठा, देखा, सनोलियों में अंगूठी अटकी है।
यह अर्थ है--संपत्ति संन्यासी की पादुका। मगर कोई अंगूठी ले भी जा सकता था। तब कमाल के संबंध में एक नासमझी सदा के लिए शेष रह जाती। लेकिन संपत्ति पादुका ही है। उसकी इतनी भी मालकियत संन्यासी स्वीकार नहीं करता कि इनकार भी करे। क्या करना है इनकार, या क्या करना है हां। मिट्टी है, तो है।
छोड़ने और पकड़ने दोनों में हम संपत्ति को मूल्य देते हैं। जब हम कहते हैं, संपत्ति चाहिए, तब भी मूल्य है। और जब हम कहते हैं कि नहीं, हम संपत्ति न छुएंगे, तब भी मूल्य है। संन्यासी के लिए कोई मूल्य ही नहीं है, निर्मूल्य हो गई बात। तुम कहते हो रख जाएं, तो कहता है रख जाओ। मिट्टी को इनकार भी क्या करना।
इतनी मालकियत संपत्ति की हो, तो ऋषि कहता है, तब संन्यासी है। पर पहचानना सदा मुश्किल है। क्योंकि एक-एक संन्यासी पर निर्भर करेगा कि वह क्या करे। वह उसकी अपनी निजी अभिव्यक्ति होगी। पर एक बात तय है कि संपत्ति उसके लिए मालकियत नहीं रखती, उसके ऊपर मालकियत नहीं रखती। संपत्ति उसे पजेस नहीं कर सकती।
और ध्यान रखें, हम सबको ख्याल होता है कि वी आर द पजेसर्स, हम संपत्ति
के मालिक हैं। लेकिन हम भ्रम में हैं। संपत्ति हमारी मालिक हो जाती है। क्योंकि जब आप रात सोते हैं, तो आपके तिजोरी के रुपए, चिंता में रातभर नहीं जगते, सोए रहते हैं। आप जगते हैं। मालिक कौन है? जब आपके हाथ से रुपया गिर जाता है, तो रुपया नहीं रोता कि मालिक मैं जिसका था, वह कहां गया। इतना भी नहीं रोता। आप रोते हैं। और मालिक आप हैं?
नहीं, जिसकी भी हम मालकियत करने की कोशिश करते हैं, वही हमारा मालिक
हो जाता है। द पजेसर इ.ज आलवेज द पजेस्ड। जो भी मालिक बनेगा, स्वामित्व ग्रहण करेगा, वह गुलाम हो जाएगा।
संन्यासी संपत्ति की मालकियत की बात ही नहीं करता। वह कहता है, संपत्ति है कहां? जिसको तुम संपत्ति कहते हो, अगर तुम्हारी शकल देखें तो विपत्ति मालूम पड़ती है। संपत्ति वालों की अगर शकल देखें, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि इनके पास विपत्ति है। संपत्ति तो बिल्कुल नहीं मालूम पड़ती। संपत्ति तो संन्यासी के पास मालूम पड़ती है। उसकी प्रफुल्लता, उसका आनंद, उसका खिला हुआ फूल जैसा व्यक्तित्व। न कोई चिंता, न कोई फिक्र, न कोई तनाव। संपत्ति तो उसके पास मालूम पड़ती है, पर है उसके पास कुछ भी नहीं। और जिनके पास सब कुछ है, वे बड़ी विपत्ति में घिरे मालूम पड़ते हैं।
संन्यासी के लिए, ऋषि कहता है, संपत्ति उसकी पादुका जैसी है।
उसे पता भी नहीं चलता। पैरों में पड़ी है, तो पड़ी है। उसका उपयोग कर लेता है पादुका का, लेकिन कभी उस पादुका को अपने सिर पर रखकर नहीं चलता। बोधिधर्म हिंदुस्तान से जब चीन गया, तो वह अपनी पादुका को एक को सिर
पर रखे था और एक को पैर में पहने हुए था। वह बहुत अनूठा संन्यासी था बोधिधर्म। चौदह सौ वर्ष पहले वह चीन गया भारत से। सम्राट उसके स्वागत को आया था। हजारों भिक्षु इकट्ठे हुए थे, क्योंकि भारत से बुद्ध की हैसियत का आदमी पहली दफा चीन आ रहा था--बोधिधर्म। बड़ा स्वागत का समारोह था।
लेकिन सम्राट बहुत बेचैन हुआ। संन्यासी भी बहुत हैरान हुए। एक-दूसरे
को देखने लगे कि यह क्या हो गया! यह आदमी तो पागल मालूम पड़ रहा है। एक जूता पैर में पहने था, एक सिर पर सम्हाले था। सम्राट से न रहा गया। थोड़ा ही मौका मिला, तो उसने कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं, इससे बड़ी मुश्किल हो रही है।

हम तो बड़ा प्रचार किए कि बहुत महान ज्ञानी आ रहा है। और यह आप क्या कर रहे हैं? इससे खबर पहुंच जाएगी कि पागल हैं।
तो बोधिधर्म ने कहा, सिर पर जो रखे हैं, वह तुम्हारे ख्याल से; और पैर में जो पहने हैं, वह अपने ख्याल से। सिर पर जो रखे हैं, वह तुम्हें याद दिलाने को कि तुम आदमी कैसे हो, तुम मुझको पागल कह रहे हो, और तुम दोनों रखे हो, और हम सिर्फ एक रखे हैं।
जूतियों को हम सिर पर रखे हैं, अगर संपत्ति को हम सिर पर रखे हैं। संपत्ति जहां होनी चाहिए, वहां होनी चाहिए। वह पैर का उपयोग है। जीवन की जरूरत हो सकती है, तो उसका उपयोग किया जा सकता है। लेकिन उसे मालिक नहीं बनाया जा सकता। पर भूल इसलिए हो जाती है कि हम मालिक होने जाते हैं और आखिर में गुलाम हो जाते हैं। जो मालिक होने जाएगा, वह गुलाम होने पर समाप्त होगा।
इसलिए संपत्ति के मालिक होने जाना ही मत। अपने मालिक हो जाना, संपत्ति गुलाम हो जाती है। इसलिए हम संन्यासी को स्वामी कहते हैं। किसी और का मालिक नहीं, अपना मालिक। और तो उसके पास कुछ है ही नहीं। अपना जो मालिक है, वह स्वामी है। संपत्ति उसके लिए गुलाम है, पादुका है।
परात्पर की अभीप्सा ही उनका आचरण है।
वह जो पार और पार--बियांड एंड बियांड--वह जो दूर और दूर फैला है और अतिक्रमण कर जाता है हमारी सारी सीमाओं का, उसको पा लेने की प्यास ही उनका आचरण है। वे इस भांति जीते हैं कि उनके उठने में, उनके बैठने में, उनके चलने में, उनके सोने में एक ही प्यास भीतर हृदय में धड़कती रहती है। और एक ही प्यास उनकी श्वास-श्वास में गूंजती रहती है। उनका होना सिर्फ एक ही बात के लिए है कि वह जो परात्पर ब्रह्म है, वह जो पार छिपा हुआ, और पार छिपा हुआ अज्ञात का लोक है, उससे मिलन हो जाए। वही उनका आचरण है। वही उनका चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, ओढ़ना--सब वही है।
कबीर ने कहा है कि मेरा ओढ़ना भी राम, मेरा बिछौना भी राम। सोता भी उसी पर, बैठता भी उसी पर। चलता भी उसी पर, चलता भी वही।
यह साधारण सा जो हमें आचरण दिखाई पड़ता है, आपने कभी ख्याल नहीं किया होगा, किसलिए? आप सुबह क्यों उठ आते हैं रोज? कौन सी आकांक्षा उठने को कहती है, उठो, चलो। क्यों रोज भोजन कर लेते हैं? कौन सी आकांक्षा कहती है कि शरीर को बचाओ? क्यों धन इकट्ठा करते हैं? कौन सी वासना कहती है कि धन के बिना नहीं चलेगा? आपके आचरण का क्या है आधार, क्या है केंद्र?
अगर हम एक शब्द में कहें तो काम, सेक्स। उसके लिए उठते हैं, चलते हैं, कमाते हैं, मकान बनाते हैं, धन, यश सब। अगर गहरे में खोजने जाएं, तो बस काम है। आदमी अपने को धोखा दे सकता है, लेकिन आदमी को छोड़ दें थोड़ी देर को, और जानवरों को देखें, और पशु-पक्षियों को देखें, तो कामवासना बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ेगी। आदमी धोखा देता है थोड़ा, इसलिए अस्पष्ट हो जाती है। लेकिन गहरे में उतरकर देखें, तो कामवासना ही हमारे भीतर चलती रहती है। उसी के लिए हम जीते हैं। सारी उधेड़बुन उसी के लिए है। वही हमारा आचरण है, काम ही हमारा आचरण है।
संन्यासी का आचरण राम है। वह भी उठता है सुबह, जैसे आप उठते हैं। लेकिन उसकी अभीप्सा, उसकी अभीप्सा उस परात्पर को पाने के लिए है। वह भी खाना खाता है, लेकिन आप जिस लिए खाना खाते हैं, उस लिए खाना नहीं खाता है। वह इसलिए खाता है कि यह शरीर साधन बन जाए उस परात्पर तक पहुंचने के लिए। वह भी रात सोता है। वह भी शरीर पर वस्त्र ढांक लेता है, सर्दी होती है। धूप होती है, तो छाया में बैठ जाता है। लेकिन सारी बातों के पीछे, सारे आचरण के पीछे एक ही अभीप्सा कि वह परात्पर का दर्शन कैसे हो जाए!
तो कई बार आपको लगता है संन्यासी भी आप ही जैसा खाना खाता, आप ही जैसा उठता, आप ही जैसे कपड़े पहनता, तो फर्क क्या है? फर्क भीतर है, फर्क जीवन के केंद्र पर है। फर्क उस बात में है कि किसलिए? फार ह्वाट? किसलिए जी रहे हैं?
अगर संन्यासी को पता चल जाए कि कोई परात्पर नहीं है, कोई है ही नहीं पार; बस यही उठना-बैठना, खाना-कमाना, दुकान, जीवन, मर जाना, तो संन्यासी की दूसरी सांस न चले फिर। बात ही खतम हो गई, बात ही समाप्त हो गई। अगर वह है, तो

जीने का कोई अर्थ है। अगर उसे पाया जा सकता है, तो जीवन का कोई प्रयोजन है।
अगर उस तक पहुंचा जा सकता है, तो जीवन जीवन है, अन्यथा जीवन मरने की एक लंबी प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
कुंडलिनी बंधः।
संन्यासी की जो शक्ति का मूल स्रोत है, वह कुंडलिनी है। जैसा मैंने कहा, हमारे जीवन की, हमारी चर्या की जो आधारभूत भित्ति है, वह कामवासना है। इसलिए हमारी शक्ति का जो स्रोत है, वह सेक्स सेंटर है, काम-केंद्र है। उसी से हमारी सारी शक्ति आती है। हमारे शरीर में जो ऊर्जा दौड़ती है, वह काम-केंद्र की ऊर्जा है। हमारी आंखों से जो शक्ति देखती है, वह कामवासना है। हमारे कानों से जो शक्ति सुनती है, वह कामवासना है। हमारे हाथों से जो शक्ति स्पर्श करती है, वह कामवासना है। हमारी शक्ति का केंद्र, हमारी शक्ति का मूल स्रोत काम-केंद्र है।
काम-केंद्र के बिल्कुल निकट कुंडलिनी का केंद्र है। उसके पास ही एक दूसरा सरोवर भी है। लेकिन उसको हमने छुआ भी नहीं है कभी। वही केंद्र संन्यासी के जीवन का आधार है। वहीं से वह शक्ति पाता है कुंडलिनी को जगाकर ही। वह एक दूसरे शक्ति आयाम में प्रवेश करता है।
और मजे की बात यह है कि जैसे ही कुंडलिनी जगती है, कामवासना की सारी शक्ति कुंडलिनी के केंद्र पर गिर जाती है और रूपांतरित हो जाती है, ट्रांसफार्म हो जाती है। क्योंकि कामवासना बहुत छोटा सा सरोवर है। बड़ा छोटा सा झरना है। झरना भी ऐसा है कि रोज-रोज उस शक्ति को हमें खाने से, पीने से, विश्राम से इकट्ठा करना पड़ता है। तब वह झरना थोड़ा सा भरता है बूंद-बूंद। और मजा है कि हम अजीब पागल हैं, बूंद-बूंद भरते हैं उसको और फिर उसको उलीच देते हैं। फिर उसको भरते हैं, फिर उसको उलीच देते हैं। फिर भरते हैं। इसके पीछे जो कुंडलिनी का, इससे ही बिल्कुल निकट, बिल्कुल इसके ही पड़ोस में जो बड़ा विराट केंद्र है, वह भोजन से नहीं बनता, वह पानी से नहीं बनता, वह विश्राम से नहीं बनता। वह परमात्मा का ही दिया हुआ है। तो काम-केंद्र के लिए तो हमें रोज अर्जन करनी पड़ती है शक्ति, उसके लिए अर्जन नहीं करनी पड़ती। गिवेन, वह मिली हुई है, वह हमारा स्वभाव है। संन्यासी के लिए वही ऊर्जा का स्रोत है।
कुंडलिनी बंधः।
वह उसी से जगाता, उसी को जीता। और जब वह शक्ति जग जाती है, तो यह काम-केंद्र का जो छोटा सा झरना है, यह उसमें अपने आप गिर जाता है और कामवासना भी रामवासना में रूपांतरित हो जाती है।
ध्यान में हम यहां उसकी ही कोशिश कर रहे हैं कि वह कुंडलिनी पर चोट पड़ जाए। जो मैं इतना आग्रह करता हूं कि जोर से श्वास की चोट करें, वह इसीलिए आग्रह करता हूं कि उस श्वास की चोट से कुंडलिनी के केंद्र का बंद द्वार टूट सकता है। जो आपसे कहता हूं, दिल खोलकर नाचें और कूदें, वह इसीलिए कहता हूं कि उस हलन-चलन में वह जो सोई हुई शक्ति, ऊर्जा है, वह कंपित होकर उठ सके। जो आपसे कहता हूं कि हुंकार करें, हू की आवाज करें पागल की तरह, तो हू की जितने जोर से आवाज होती है, उतने ही सेक्स सेंटर के निकट तक पहुंचती है, जहां कुंडलिनी का केंद्र है, जहां उस पर चोट पड़ती है।
श्वास से, शरीर की गति से, ध्वनि से, चोट करते हैं उस पर। वह टूट जाएगी, अगर आप चोट करते ही गए; हैमरिंग जारी रही, तो वह टूट जाएगी। और जिस दिन वह टूटेगी, उस दिन कामवासना तत्क्षण राम की यात्रा पर निकल जाती है। फिर यह शरीर लक्ष्य नहीं रह जाता, साध्य नहीं रह जाता, सिर्फ साधन हो जाता है।
जो दूसरों की निंदा से रहित हैं, वे जीवन-मुक्त हैं। परापवाद मुक्तो जीवनमुक्तः। जो दूसरों की निंदा से रहित हैं, वे जीवन-मुक्त हैं।
हमारे मन में निंदा का बड़ा रस है। उसका कारण है। असल में जब हम दूसरे
की निंदा करते हैं, तभी हमको लगता है कि हम भी हैं। जब हम दूसरे को नीचे गिरा देते हैं, तभी हमको लगता है कि हम ऊंचे हैं। जब हम दूसरे को बुरा सिद्ध कर देते हैं, तभी हमें लगता है कि हम भले हैं। जब हम दूसरे को चोर जाहिर कर देते हैं, तभी हमें लगता है कि हम अचोर हैं। हैं तो हम नहीं, इसलिए दूसरे की तरफ से हमें अपने को सिद्ध करना पड़ता है। जो है अचोर, वह दूसरे को चोर सिद्ध करके अपने को अचोर सिद्ध नहीं करता, वह है। जो ब्रह्मचर्य को

उपलब्ध है, वह दूसरे को व्यभिचारी सिद्ध करके अपने को ब्रह्मचारी सिद्ध नहीं करता, वह है।
निंदा में इसीलिए रस है। और प्रशंसा में बड़ी पीड़ा होती है। अगर कोई आपसे आकर कहे कि फलां व्यक्ति बड़ा साधु पुरुष है, धक से चोट लगती है कि ऐसा हो कैसे सकता है! मेरे रहते, और कोई दूसरा साधु पुरुष हो सकता है? जब अभी हम ही जमीन पर मौजूद हैं!
मुल्ला नसरुद्दीन मर रहा है। आखिरी घड़ी, उसके सब शिष्य इकट्ठे हो गए हैं। आंख बंद किए पड़ा है। मरते क्षण, शिष्य जितनी प्रशंसा कर सकते हैं, कर रहे हैं। एक शिष्य कह रहा है कि ऐसा ज्ञानी हमने कभी नहीं देखा। शास्त्र तो जीभ पर रखे थे। मुल्ला थोड़ी सी आंख खोलकर देखता है और आंख बंद कर लेता है। दूसरा शिष्य कहता है, ऐसा दानी भी हमने नहीं देखा। कोई भी आ जाए, सदा देने को तैयार था। मुल्ला थोड़ी सी आंख खोलकर फिर आंख बंद कर लेता है। तीसरा कहता है, इतना सेवा से भरा हुआ व्यक्ति हमने कभी नहीं देखा। मुल्ला फिर आंख खोलकर बंद कर लेता है। फिर वे सब चुप हो जाते हैं। कुछ और बचता भी नहीं बताने को।
तो मुल्ला कहता है कि एक चीज तुम छोड़े ही दे रहे हो। मुझसे ज्यादा विनम्र आदमी भी कोई नहीं था।
विनम्रता में भी अहंकार पुस जाता है। मुल्ला कहता है, मुझसे ज्यादा विनम्र आदमी भी कोई नहीं था, यह भी तो ख्याल करो। अब मुझसे ज्यादा विनम्र भी कोई नहीं था, यही तो अहंकार होगा। और क्या अहंकार हो सकता है?
दूसरे की प्रशंसा सुनकर चोट लगती है कि मुझसे भी आगे कोई! इसलिए हम प्रशंसा को कभी मानते नहीं, सुन भी लें, तो भी मानते नहीं। हम जानते हैं कि जरूर कहीं न कहीं कोई ट्रिक होगी, कहीं न कहीं कोई गड़बड़ होगी ही। पता नहीं चला होगा अब तक, लेकिन कहीं न कहीं कोई बात होगी, जो कल पता चल जाएगी और सब राज खुल जाएगा। लेकिन जब कोई निंदा करता है किसी की, तो देखें, हमारे मुंह में कैसा पानी आ जाता है। फिर हम बिल्कुल नहीं पूछते कि सच कह रहे हो, झूठ कह रहे हो, कोई प्रमाण है? और हम कभी नहीं सोचते कि यह आदमी जो कह रहा है, गलत भी हो सकता है, कभी न कभी पता चल जाएगा कि निंदा गलत थी। नहीं, यह ख्याल नहीं आता।
निंदा कोई करे, तो हम तत्काल मान लेते हैं। कोई कहे कि फलां व्यक्ति साधु, हम कभी नहीं मानते। हम कहते हैं, पता लगाकर देखेंगे। कोई कहे, फलां आदमी चोर, व्यभिचारी, बदमाश, बिल्कुल राजी हैं। बिल्कुल ठीक कह रहे हैं आप, हमें पहले ही पता था। बुराई तो होगी ही, उसमें कोई शक का सवाल ही नहीं है। भलाई संदिग्ध है सदा।
संन्यासी के लिए ऋषि कहता है, वे दूसरे की निंदा से रहित हैं। वे ही जीवन-मुक्त हैं।
इसका यह अर्थ नहीं है कि संन्यासी के सामने चोर हो, तो संन्यासी उसे चोर नहीं कहेगा। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि व्यभिचारी को संन्यासी व्यभिचारी नहीं कहेगा। अगर संन्यासी व्यभिचारी को व्यभिचारी न कहे, तब तो असत्य होगा उसका वक्तव्य। गलत को गलत न कहे, तो असत्य होगा। फर्क एक पड़ेगा, संन्यासी गलत को ही गलत कहेगा और उसमें कोई रस नहीं होगा उसे। रस नहीं होगा कि तुम गलत हो, तो उसको मजा आ जाए। तुम गलत हो, तो यह गणित की तरह गलत होगा कि दो और दो तीन नहीं होते। इसमें कोई रस नहीं है।
संन्यासी भी चोर को चोर ही कहेगा। लेकिन चोर को ही चोर कहेगा और कोई
रस नहीं लेगा इस बात में कि तुम चोर हो, तो उसे कोई रस आ रहा है; या तुम्हारे चोर होने से उसके अचोर होने में कोई सुविधा मिल रही है; या तुम्हारे असाधु होने से उसके साधु होने को कोई सहारा मिल रहा है। नहीं, इसमें कोई रस नहीं होगा।
वे पर निंदा से मुक्त होते हैं। अ अ है, ब ब है, अंधेरा अंधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। जो जैसा है, वैसा उसे देखते हैं। लेकिन कोई रस नहीं है इस बात में। एक फर्क जरूर पड़ता है और वह फर्क यह है कि दूसरे में जो भी भलाई दिखाई पड़े, उसकी चर्चा करने में वे जरूर रस लेते हैं। रस इसलिए लेते हैं कि जिसमें हम रस लें, उसके बढ़ने की संभावना हो जाती है।

अगर हम इस बात में रस लें कि दूसरा बेईमान है, तो हमें पता हो या न हो,
हम उसकी बेईमानी को बढ़ाने के लिए रास्ता बना रहे हैं। हमारा रस उसके लिए सहारा बनता है। अगर हम एक बेईमान में भी एक गुण खोज लेते हैं और कहते हैं, बेईमान कितना ही हो, लेकिन आदमी बड़ा सरल है या आदमी बड़ा सीधा है; बेईमान कितना ही हो, लेकिन आदमी बड़ा शांत है, तो हम उस आदमी की शांति को बढ़ने के लिए सहारा दे रहे हैं। और अगर शांति बढ़ जाए, तो बेईमानी टिक न सकेगी ज्यादा दिन। अगर सरलता बढ़ जाए, तो आदमी बेईमान कैसे रहेगा? तो हम उसकी बेईमानी मिटाने में भी सहयोगी हो रहे हैं।
हम जिस बात में रस लेते हैं, वह बढ़ती है, क्योंकि रस लेना पानी सींचना है। इसलिए निंदा में संन्यासी को कोई रस नहीं है, तथ्य में जरूर रस है। और जो शुभ है, उसको जरूर वह सींचने की कोशिश करता है।

आज इतना ही।
शेष कल।

अब हम ध्यान में प्रवेश करेंगे। पूरी शक्ति लगानी है।
दस मिनट तक श्वास, दस मिनट तक शरीर का नृत्य, दस मिनट तक हुंकार, फिर दस मिनट तक प्रतीक्षा।
दूर-दूर फैल जाएं। यहां सामने मेरे बहुत लोग इकट्ठे हो जाते हैं, तो उनमें आपस में धक्का लगता है और परेशानी होती है। और जिन लोगों को ख्याल है कि वे बहुत जोर से नाचेंगे-कूदेंगे, वे जरा बाहर मैदान में आ जाएं। और जिन लोगों को पता है कि वे दौड़ेंगे, वे तो बिल्कुल बाहर आ जाएं, क्योंकि दौड़कर वे कई लोगों को बाधा पहुंचाते हैं। अपने पर ख्याल कर लें और बाहर आ जाएं।
और बहुत घने कहीं भी खड़े न हों। इतना मैदान है, भर दें! कपड़े जिन्हें
भी अलग करने हों, जितने भी अलग करने हों, वे अलग कर दें, कोई चिंता न लें। और बीच में भी ख्याल कपड़े गिरा देने का हो, तो तत्काल गिरा दें। गिराते ही ध्यान में गति गहरी हो जाएगी।
आंख में पट्टियां बांध लें। आंख में पट्टियां बांध लें, दूर-दूर फैल जाएं। और देखें, दर्शक की तरह कोई बीच मैदान में न हो। किसी को देखना हो दूर पहाड़ी पर बैठ जाए। और जो देखने को बैठे हों, वे कृपा करके जरा भी बातचीत नहीं करेंगे, चुपचाप रहेंगे।
बांध लें पट्टियां। दूर-दूर हट जाएं। पूरे ग्राउंड को भर दें। जितना फासला होगा उतना अच्छा, कूदने-नाचने की सुविधा होगी। और कोई टकरा जाए, तो चिंता न लें। आप अपना काम करें, दूसरे को अपना करने दें।
शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
सातवां प्रवचन

अखंड जागरण से प्राप्त--परमानंदी तुरीयावस्था

शिवयोगनिद्रा च खेचरी मुद्रा च परमानंदी।
निर्गुण गुणत्रयम्।
विवेक लभ्यम्।
मनोवाग अगोचरम्।

निद्रा में भी जो शिव में स्थित हैं और ब्रह्म में जिनका विचरण है, ऐसे वे परमानंदी हैं।
वे तीनों गुणों से रहित हैं।
ऐसी स्थिति विवेक द्वारा प्राप्त की जाती है।
वह मन और वाणी का अविषय है।

निद्रा में भी जो प्रभु में स्थित हैं।
हम तो जागकर भी पदार्थ में ही स्थित होते हैं। निद्रा की तो बात बहुत दूर है, बेहोशी की तो बात बहुत दूर है। जिसे हम होश कहते हैं, वह भी होश नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि उस होश में भी हम पदार्थ के अतिरिक्त और कहीं स्थित नहीं होते। मन दौड़ता रहता है नीचे की ओर।
ऋषि कहता है, वे जो ज्ञान को उपलब्ध होते हैं, वे जो ज्ञान की तीर्थ-यात्रा पर निकलते हैं, वे जो स्वयं को जगाते हैं और विवेक में प्रतिष्ठित होते हैं, वे अपनी निद्रा में भी शिव में ही स्थित होते हैं। नींद में भी उनका होश नहीं जाता।
हमारा तो होश में भी होश नहीं होता। हम तो होश में भी सोए हुए ही होते हैं। हमारे जागरण को जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हम अपने जागरण में ऐसा सब कुछ करते हैं, जो केवल बेहोशी में ही किया जा सकता है। हमारे जागरण को इसलिए भी जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कैसा है यह जागरण जिसमें हमें इसका भी पता नहीं चलता कि मैं कौन हूं। इस जागरण को इसलिए भी जागरण नहीं कहा जा सकता कि कुछ भी पता नहीं चलता कि कहां से मैं आता हूं, कहां मैं जाता हूं, क्या है प्रयोजन इस जीवन का, क्यों है यह जीवन, क्या है यह जीवन! जैसे चौराहे पर हम किसी से पूछें कि कहां जाते हो और वह कहे, मुझे पता नहीं। और हम पूछें, कहां से आते हो, और वह कहे मुझे पता नहीं। और हम पूछें कि तुम कौन हो और वह कहे, यही तो मैं आपसे पूछना चाहता था। तो उस व्यक्ति को हम क्या कहेंगे? होश में? जागा हुआ? लेकिन हमारी भी उससे भिन्न हालत नहीं है।
सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन में यात्रा कर रहा था। टिकट चेकर ने उससे टिकट मांगी, तो वह अपनी सब जेबें तलाश गया। उसकी बेचैनी और उसकी पसीने-पसीने हालत को देखकर टिकट चेकर ने कहा कि रहने भी दें। जरूर होगी, जब इतनी उससे खोजते हैं तो जरूर होगी, चिंता न करें। नसरुद्दीन ने कहा कि तुम्हारे लिए चिंता नहीं कर रहा हूं, चिंता अपने लिए है। सवाल यह है कि मैं जा कहां रहा हूं? तुम्हारे लिए चिंता कर ही कौन रहा है! अगर टिकट खो गई, तो पता कैसे चलेगा कि मैं जा कहां रहा हूं।
लेकिन हमारी टिकट खोई ही हुई है। कुछ भी पता नहीं है। हालत हमारी ऐसी है। बेहोशी हमारी इतनी थिर है। होश का हमें कोई पता नहीं, इसलिए बेहोशी का भी पता नहीं चलता, क्योंकि पता हमेशा विपरीत से चलता है। अगर अंधेरा सतत हो और रोशनी कभी देखी ही न हो, तो अंधेरे का पता नहीं चलता। कहीं दीया दिख जाए जला हुआ, तब पता चलता है कि कैसे अंधेरे में हम जीते थे, वह अंधेरा था। अंधेरे को जानने के लिए प्रकाश को जानना जरूरी है। नहीं तो अंधेरे की पहचान नहीं होती।
स्मरण आता है मुझे और कि मुल्ला नसरुद्दीन ने पहली ही शादी की। पंद्रह या बीस दिन हुए होंगे, पत्नी बहुत उदास है और अपनी किसी सहेली से कह रही है कि बहुत मुश्किल हो गई। कल ही मुझे पता चला कि नसरुद्दीन शराब पीता

है। सहेली ने पूछा, क्या कल वह शराब पीकर आ गया था? उसकी पत्नी ने कहा, नहीं, कल वह बिना पीए आ गया। नहीं तो पता ही न चलता। शादी के पहले उससे मिलती थी, तब भी वह रोज पीए रहता था। तो मैं समझी कि यही उसका ढंग है। शादी के बाद भी पंद्रह दिन वह पीए रहता था, तो मैं समझी कि यही उसका ढंग है। कल वह बिना पीए आ गया और उलटी-सीधी बातें करने लगा। तब शक हुआ। मैंने पूछा कि क्या शराब पीकर आ गए हो? ऐसी बात तो तुम कभी नहीं करते। उसने कहा, क्षमा करना, आज मैं पीना भूल गया हूं।
हमारी नींद इतनी थिर है कि हमें यह पता भी नहीं चलता कि वह नींद है। हमारी बेहोशी हमारे खून और हमारी हड्डियों में भर गई है। जन्मों-जन्मों का सघन अंधकार है भीतर। पता ही नहीं चलता। इसलिए चुपचाप जीए चले जाते हैं और इसी को होश कहे चले जाते हैं। यह होश नहीं है, यह केवल जागी हुई निद्रा है।
निद्रा के दो रूप हैं--सोई हुई निद्रा और जागी हुई निद्रा। सोई हुई निद्रा का अर्थ है कि हम भीतर भी सो जाते हैं, बाहर भी सो जाते हैं। जागी हुई निद्रा का अर्थ है, भीतर हम सोए रहते हैं, बाहर हम जाग जाते हैं। ठीक ऐसे ही दो तरह के जागरण भी हैं। जैसे दो तरह की निद्राएं हैं, ऐसे दो तरह के जागरण भी हैं।
ऋषि उसी जागरण की बात कर रहा है। वह कह रहा है कि वे जो संन्यस्त हो जाते हैं, वे नींद में भी जागे रहते हैं। उनकी नींद भी प्रभु से ही भरी रहती है। वे कितने ही गहरी नींद में सो रहे हों, उनके भीतर कोई जागकर प्रभु के मंदिर पर ही खड़ा रहता है। वे स्वप्न भी नहीं देखते कोई और। वे विचार भी नहीं करते कोई और, एक में ही रम जाते हैं।
बुद्ध कहते थे, वे ऐसे हो जाते हैं, जैसे सागर का पानी कहीं से भी चखो,
और खारा। उन्हें कहीं से भी चखो, वे प्रभु से ही भरे हुए हैं। उनका स्वाद प्रभु ही हो जाता है।
इस सूत्र में कहा है, निद्रा में भी जो शिव में स्थित हैं-- शिवयोगनिद्रा च खेचरीमुद्रा च परमानंदी।
वे जो नींद में भी परम शिवत्व में ठहरे हुए हैं और ब्रह्म में जिनका विचरण है। उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, तो ब्रह्म में ही। जगत में नहीं, ब्रह्म में ही। लेकिन हम तो उन्हें जगत में चलते देखते हैं। हमने बुद्ध को चलते देखा है इसी जमीन पर, महावीर को चलते देखा है इसी जमीन पर। यही जमीन है, यहीं उनके भी चरण-चिह्न बनते हैं, इसी मिट्टी में, इसी रेत में, इन्हीं वृक्षों के नीचे उन्हें बैठे देखा। और यह सूत्र कहता है कि वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं।
वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं, क्योंकि जो हमें जमीन दिखाई पड़ती है, वह उन्हें ब्रह्म ही मालूम होती है। और जो हमें वृक्ष मालूम पड़ता है, वह भी उन्हें ब्रह्म की छाया ही मालूम होती है। और जो इस जमीन पर चलता है उनका शरीर, वह भी उन्हें ब्रह्म का ही रूप मालूम होता है। उनके लिए सभी कुछ ब्रह्म हो गया है।
जिसने अपने भीतर झांककर देखा, उसके लिए सभी कुछ ब्रह्म हो जाता है। और
जो अपने बाहर ही देखता रहा, धीरे-धीरे उसके भीतर भी पदार्थ ही रह जाता मालूम पड़ता है। जिसकी दृष्टि बाहर है, उसे भीतर भी आत्मा दिखाई नहीं पड़ेगी। जिसकी दृष्टि भीतर है, उसे बाहर भी आत्मा ही दिखाई पड़ती है।
वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं और ऐसे वे परम-आनंदी हैं।
अब जिसका ब्रह्म में विचरण हो और जिसकी निद्रा भी भगवत-चैतन्य में हो, वहां दुख कैसा! वहां दुख का प्रवेश कैसा!
पर एक बात समझ लें। वहां दुख भी नहीं होता और सुख भी नहीं होता। अन्यथा हमें भूल होती है सदा। जब इस सूत्र को हम पढ़ेंगे या ऐसे किसी भी सूत्र को पढ़ेंगे, तो हमें लगता है कि वहां सुख ही सुख होगा। लेकिन हमारा दुख भी वहां नहीं होता, हमारा सुख भी नहीं होता वहां, क्योंकि हम ही वहां नहीं होते। हमने जिसे दुख जाना है, वह तो होता ही नहीं; हमने जिसे सुख जाना है, वह भी नहीं होता। वहां दोनों ही शून्य हो जाते हैं। और तब जो प्रकट होता है, उसका नाम आनंद है।

आनंद सुख नहीं है। इसे ठीक से समझ लें। आनंद सुख नहीं है। आनंद सुख और दुख दोनों का अभाव है। असल में दुख की भी अपनी पीड़ा है और सुख की भी अपनी पीड़ा है। दुख तो दुख है ही, जो जानते हैं, वे कहते हैं, सुख भी दुख का ही एक ढंग है। दुख तो दुख है, सुख प्रीतिकर दुख है, जिसे हम चाहते हैं। बस, इतना ही फर्क है।
इसलिए कोई भी सुख किसी भी दिन दुख हो जाता है। हमारी चाह हट जाती है, दुख हो जाता है। और कोई भी दुख किसी भी दिन सुख बन सकता है। अगर हमारी चाह उससे जुड़ जाए, तो वह भी सुख बन सकता है।
सुख और दुख घटनाओं में नहीं होते, परिस्थितियों में नहीं होते, वस्तुओं में नहीं होते, सुख और दुख हमारे चाहने और न चाहने में होते हैं। जिसे हम चाहते हैं, वह सुख मालूम पड़ता है; जिसे हम नहीं चाहते, वह दुख मालूम पड़ता है। लेकिन कोई बाधा नहीं है कि जिसे हम अभी चाहते हैं, क्षणभर बाद चाहें, तो न चाह सकें। क्षणभर बाद नहीं चाह सकते हैं। ऐसी भी कोई बात नहीं है कि जिसे आज हम नहीं चाहते हैं, कल भी उसे नहीं चाहेंगे।
मुल्ला नसरुद्दीन की सास मर गई थी, मदर इन ला। तो बड़ा प्रसन्न था, बड़ा आनंदित मालूम हो रहा था। उसकी पत्नी ने कहा, कुछ तो शर्म खाओ। मेरी मां मर गई, तुम इतने प्रसन्न हो रहे हो! नसरुद्दीन ने कहा, इसीलिए तो प्रसन्न हो रहा हूं। उसकी पत्नी ने कहा कि कभी तो कुछ मेरी मां में तुमने अच्छा देखा होता! और अब तो वह मर भी गई। कुछ एकाध गुण तो कभी देखा होता! नसरुद्दीन ने कहा, गुण हो ही नहीं। मैंने बहुत कोशिश की तेरी बात मानकर देखने की, लेकिन जब हो ही नहीं, तो दिखाई कैसे पड़े।
उसकी पत्नी दुखी तो थी ही मां के मरने से, छाती पीटकर रोने लगी। और उसने कहा, मेरी मां ने ठीक ही कहा था। शादी के पहले उसने बहुत जिद की थी कि इस आदमी से शादी मत करो। नसरुद्दीन ने कहा, क्या कहती है? तेरी मां ने शादी से रोका था? काश, मुझे पता होता तो मैं उसे इतना बुरा कभी भी नहीं समझता। बेचारी! अगर मुझे पता होता, तो उसे बचाने की कोशिश करता। इतनी भली स्त्री थी, यह तो मुझे पता ही नहीं था।
अभी मर गई थी सास, तो सुख था, अब दुख हो गया।
वह जो चाह है भीतर, जरा सा संबंध कहीं से भी शिथिल कर ले, जोड़ ले, तो सब बदल जाता है। यह जो हमारा मन है, जिससे जुड़ जाता है, वहां सुख मालूम होता है। सुख एक भ्रांति है, जो उसके साथ मालूम पड़ती है जिससे जुड़ जाता है। दुख भी एक भ्रांति है, जो उसके साथ मालूम पड़ती है, जिससे टूट जाता है।
बुद्ध ने बहुत बार कहा है, बुद्ध ने बहुत बार कहा है कि प्रियजनों के मिलने में सुख है और बिछुड़ने में दुख। अप्रियजनों के मिलने में दुख है, बिछुड़ने में सुख। दोनों बराबर हैं। अनुपात तो बराबर है। प्रियजनों के मिलने में सुख है, बिछुड़ने में दुख। अप्रियजनों के मिलने में दुख है, बिछुड़ने में सुख। अनुपात तो बराबर है।
सुख भी एक तनाव है मन पर, जिसे हम पसंद करते हैं। दुख भी एक तनाव है मन पर, जिसे हम पसंद नहीं करते। सुख का तनाव भी आदमी को रुग्ण कर जाता है, दुख का तनाव भी रुग्ण कर जाता है। क्योंकि दोनों ही मनुष्य को बोझ से भर देते हैं। आनंद अतनाव है, तनावरहित अवस्था है, उत्तेजनाशून्य है, न वहां दुख है, न वहां सुख है।
फर्क समझ लें, प्रियजन से मिलने में सुख है, अप्रियजन से बिछुड़ने में सुख है। प्रियजन से बिछुड़ने में दुख है, अप्रियजन से मिलने में दुख है। आनंद कब होगा? जहां कोई भी नहीं बचता और सिर्फ मैं ही बच रहता हूं, सिर्फ चेतना ही बच रहती है। न किसी से मिलना और न किसी से बिछुड़ना। जहां स्वभाव में थिरता आ जाती है, वहां आनंद है।
ऋषि कहता है, ऐसे वे परमानंदी हैं।
वे परम आनंद में हैं, क्योंकि स्वभाव में जीते हैं, शिव में जीते हैं, प्रभु में जीते हैं, ब्रह्म में जीते हैं। वह जो आत्यंतिक सत्य है, उसमें जीते हैं। बाहर नहीं जीते, भीतर जीते हैं। वह जो भीतर में मूल स्रोत है, उससे ज.ुड़कर जीते हैं। वहां कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां कोई सुख नहीं। हमारा तर्क कुछ और है। हम कहते हैं, वहां कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां सुख ही सुख है। ऋषि कहते हैं, वहां कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां कोई सुख नहीं।

जहां सुख ही नहीं, वहां दुख नहीं हो सकता। और जहां दोनों नहीं हैं, वहां जो रह जाता है शेष, वह आनंद है। इसलिए आनंद को स्वभाव कहा है।
दुख भी दूसरे से मिलता है और सुख भी दूसरे से मिलता है, यह आपने ख्याल किया? मिलता आपको है, लेकिन मिलता दूसरे से है। सदा दूसरा निमित्त होता है। दुख भी दूसरे से, सुख भी दूसरे से। गाली भी कोई देता है, प्रशंसा भी कोई करता है। आनंद स्वयं से मिलता है, दूसरे से नहीं। दुख भी परतंत्र है, सुख भी परतंत्र है। दूसरा चाहे तो सुख खींच ले और दूसरा चाहे तो दुख खींच ले। वह दूसरे के हाथ में है, आप गुलाम हैं। लेकिन आनंद स्वतंत्र है। वह दूसरे के हाथ में नहीं। उसे दूसरा नष्ट नहीं कर सकता।
जो इस भांति जागकर जीता है कि प्रभु में ही उसका विचरण बन जाता है, वह परम आनंद में जीता है।
वे तीनों गुणों से रहित हैं। ऐसी अवस्था को उपलब्ध चेतनाएं निर्गुण गुणत्रयम्, तीनों गुणों से रिक्त, मुक्त, अतीत हैं।
तीन गुणों से सारा जगत निर्मित है। जो भी निर्मित है, वह तीन गुणों से निर्मित है। यह तीन का आंकड़ा बहुत कीमती है। और सबसे पहले, संभवतः भारत ने ही तीन के इस गणित को खोजा। नाम बदलते रहे हैं, लेकिन तीन की संख्या नहीं बदलती है।
भारतीय कहते रहे हैं, तीन गुण हैं--रज, तम, सत्व। उन तीन से मिलकर यह जगत बना। क्रिश्चियन्स कहते हैं, ट्रिनिटी है, त्रैत है जगत--गाड द फादर, होली घोस्ट एंड जीसस क्राइस्ट द सन। पिता परमात्मा और पवित्र आत्मा--दो और पुत्र क्राइस्ट--तीन, इन तीन से मिलकर सारा जीवन है। ये नाम अलग हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि जितना हम अस्तित्व में प्रवेश करते हैं, उतना ही पता चलता है कि तीन से मिलकर सारा अस्तित्व है। उनके नाम अलग हैं, वैज्ञानिक हैं। वे कहते हैं, इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान। उन तीन से मिलकर सारा जगत है।
लेकिन एक बहुत मजे की बात है कि चार कोई नहीं कहता, दो भी कोई नहीं कहता। वे क्या परिभाषाएं करते हैं, क्या नाम देते हैं, यह दूसरी बात है। युग बदलते हैं, शब्द बदलते हैं, परिभाषाएं बदल जाती हैं, लेकिन यह तीन की संख्या कुछ महत्वपूर्ण मालूम पड़ती है। यह थिर मालूम पड़ती है।
जगत एक त्रैत है, तीन से मिलकर बना है। लेकिन विज्ञान कहता है, बस इस तीन में सब समाप्त है। यहां उसकी भूल है। अभी उसे चौथे का पता नहीं है। क्योंकि इन तीन को जो जानता है, वह तीसरा नहीं हो सकता, तीन में नहीं हो सकता। इन तीन को जो जानता है और पहचानता है, वह चौथा ही हो सकता है--द फोर्थ।
हिंदू बहुत अदभुत रहे हैं शब्दों की खोज में। पुरानी कौम है और उसने बहुत अनुभव किए हैं और बहुत सी बातें खोजी हैं। तो हमने जो चौथे के लिए नाम रखा है, वह नाम नहीं रखा, क्योंकि नाम रखने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि पांचवां है नहीं। इसलिए चौथी अवस्था को हमने कहा, तुरीय। तुरीय का अर्थ होता है सिम्पली द फोर्थ--चौथी। उसका कोई नाम नहीं है। बस चौथी से काम चल जाएगा, उसके आगे कोई बात ही नहीं है।
अभी रूस के एक बहुत बड़े गणितज्ञ ने एक किताब लिखी है, पीड़ी.आस्पेंस्की ने, द फोर्थ वे--चौथा मार्ग। और आस्पेंस्की करीब-करीब घूम-घूमकर वहीं आ गया है, जहां तुरीय की धारणा आती है।
तीन से काम नहीं चलेगा, क्योंकि तीन से जो निर्मित है उसको जानने वाला
एक चौथा भी है, जो अलग मालूम पड़ता है। पदार्थ तीन से निर्मित है, यह सत्य है; जगत तीन से निर्मित है, यह सत्य है; लेकिन एक चौथा भी है जो जगत के भीतर भी होकर जगत के बाहर है--चेतना है, कांशसनेस है, बोध है--वह चौथा है। जो इस चौथे को जान लेता--निर्गुण गुणत्रयम्--वह तीन गुणों के पार हो जाता है।
द फोर्थ मस्ट बी नोन। उस चौथे को जाने बिना तीन के बाहर नहीं होता आदमी। और जब तक चौथे को नहीं जानता, तब तक तीन में से किसी एक के साथ अपना संबंध जोड़कर समझता है, यही मैं हूं। जन्मों-जन्मों तक यह भूल चलती चली जाती है। तीन में से हम किसी से अपने को जोड़ लेते हैं और कहते हैं, यही मैं हूं। और उसका हमें पता ही नहीं--जो कह रहा है, जो देख रहा है, जो जान रहा है-- उसका हमें कोई पता नहीं।

पता इसलिए नहीं चलता, जैसे कि किसी दर्पण के सामने सदा ही भीड़ गुजरती हो, सदा ही। दर्पण बाजार में लगा हो, एक पान वाले की दुकान पर लगा हो, भीड़ दिनभर गुजरती हो। कोई बैठा हुआ देखता हो, दर्पण कभी खाली न दिखे--सदा भरा रहे, सदा भरा रहे, सदा भरा रहे। उस आदमी ने कभी खाली दर्पण न देखा हो, तो क्या उसे पता चलेगा कि इस भीड़ की जो तस्वीरें निकलती हैं, इसके अलावा भी दर्पण कुछ है? कैसे पता चलेगा? वह जानेगा कि दर्पण इस भीड़ का नाम है, जो गुजरती रहती है। उसे दर्पण का कभी पता नहीं चलेगा। दर्पण का पता तो तभी चल सकता है, जब दर्पण खाली हो और भीड़ न गुजर रही हो। भीड़ में दब जाता है। इसे छोड़ें, और आसान होगा समझना।
फिल्म देखने गए हैं आप। पर्दा दिखाई नहीं पड़ता, जब तक फिल्म चलती रहती है। पर्दा दिखाई कैसे पड़ेगा, आवृत्त है, फिल्म दौड़ रही है, चित्र दौड़ रहे हैं। और बड़े मजे की बात है कि पर्दा चित्रों से ज्यादा वास्तविक है। लेकिन जो ज्यादा वास्तविक है, वह चित्रों में दब गया है। और चित्र कुछ भी नहीं है, सिर्फ धूप-छांव है। सिर्फ छाया और प्रकाश का जोड़ है। लेकिन तब तक न दिखेगा पर्दा आपको, जब तक द एंड न हो जाए, चित्र बंद न हो जाए। चित्र बंद हो, तो आप चौकेंगे कि फिल्म तो झूठ थी, झूठ के पीछे एक अलग सच्चाई थी। वह पर्दा है सफेद।
हमारा वह जो चौथा है अंक, वह जो हमारा वास्तविक स्वभाव है, वह जो तुरीय
है हमारे भीतर छिपा हुआ, उसका हमें तब तक पता नहीं चलेगा, जब तक हम विचारों की भीड़ और विचारों की फिल्म से दबे रहते हैं। जिस दिन विचार बंद हो जाते हैं, उसी दिन अचानक पता चलता है, मैं विचार नहीं, मैं तो कुछ और हूं। मैं शरीर नहीं, मैं तो कुछ और हूं। मैं मन नहीं, मैं तो कुछ और हूं। इसका तो मुझे पता ही नहीं था।
ऋषि कहता है, जो निद्रा में भी जागकर सोते हैं, ब्रह्म में जिनका आचरण है, विचरण है, परम आनंद में जो स्थिर हैं, वे चौथे को जान लेते हैं, वे तुरीय को पहचान लेते हैं, वे द फोर्थ को जानने वाले हो जाते हैं। वे तीनों गुणों के पार हो जाते हैं।
तीनों गुणों के पार हो जाते हैं, इसका अर्थ है कि अब वे अपना संबंध तीन गुणों से नहीं जोड़ते--सत, रज, तम से नहीं जोड़ते। अब वे जानते हैं कि हम पृथक हैं, भिन्न हैं, और हैं। हर स्थिति में जानते हैं। बूढ़े हो जाएं, तो वे जानते हैं कि जो बूढ़ा हो गया, वह तीन गुणों का जोड़ है, मैं नहीं। बीमार हो जाएं, तो वे जानते हैं, वह तीन गुणों का जोड़ है जो बीमार हो गया, मैं नहीं। मौत आ जाए, तो वे जानते हैं कि मौत में वही मिट रहा है जो जन्म में जुड़ा था-- तीन गुणों का जोड़--मैं नहीं। वे सदा ही अपने को पार, ट्रांसेंड, अतिक्रमण में देख पाते हैं--सदा, हर स्थिति में।
और जब ऐसा अनुभव हो कि हर स्थिति में कोई अपने को तीनों गुणों के पार देख पाए, तो उस अनुभव का सूत्र क्या होगा? कैसे यह अनुभव होगा? तो ऋषि कहता है, विवेक लभ्यम्। ऐसी जो स्थिति है, वह विवेक के द्वारा, अवेयरनेस के द्वारा, होश के द्वारा प्राप्त होती है।
विवेक लभ्यम्।
विवेक से बड़ी भ्रांति समझी जाती है। विवेक से हम जो अर्थ लेते हैं, वह
वह लेते हैं अर्थ, जो अंग्रेजी के शब्द डिसक्रिमिनेशन का है। आमतौर से भाषाकोशों में लिखा होता है, विवेक का अर्थ है, भेद करने की बुद्धि--द पावर आफ डिसक्रिमिनेशन। सच में वह परिभाषा या वह अर्थ विवेक का, बहुत ही सीमित अर्थ है और आंशिक अर्थ है।
विवेक का पूर्ण अर्थ हैः होश, अमूर्च्छा, अवेयरनेस। विवेक का अर्थ हैः अप्रमाद। विवेक का अर्थ हैः आत्म-स्मृतिपूर्वक जीना, सेल्फ रिमेंबरिंग जिसको गुरजिएफ ने कहा है।
गुरजिएफ कहता था कि रास्ते पर चलते हो, तो चलते वक्त चलने की क्रिया
भी होनी चाहिए और चल रहा हूं मैं, इसे जानने की शक्ति पूरे वक्त सक्रिय होनी चाहिए। देखते हो, तो देखने की क्रिया भी होनी चाहिए और मेरे भीतर छिपा है जो देखने वाला, उसका भी स्मरण बना रहना चाहिए कि मैं देख रहा हूं। देखने की क्रिया हो रही है, इसका भी बोध बना रहना चाहिए। क्रियाओं के जाल

के बीच में, केंद्र पर कोई जागा हुआ दीए की तरह चेतना खड़ी रहनी चाहिए और देखती रहनी चाहिए।
विवेक लभ्यम्।
तो ऐसे दीए का जो लाभ है, जो उपलब्धि है, जो फल है, जो परिणाम है, वह तीन गुणों के पार ले जाने वाला है।
हम अपनी क्रियाओं को समझें, तो ख्याल में आ जाएगा। कभी रास्ते के किनारे बैठ जाएं और रास्ते पर चलते हुए लोगों को जरा देखें। तो अनेक लोगों को देखेंगे अपने से ही बातचीत किए चलते जा रहे हैं। उनके चेहरे पर हाव-भाव आ रहे हैं। भीतर बहुत कुछ चल रहा होगा। रास्ता पार कर रहे हैं, लेकिन उन्हें पता नहीं कि वे रास्ता पार कर रहे हैं, क्योंकि भीतर चेतना तो किसी और बात में उलझी हुई है।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अधिकतम दुर्घटनाएं, जो सड़कों पर हो रही हैं, वे हमारी मूर्च्छा का परिणाम हैं। एक आदमी कार चलाए जा रहा है और भीतर खोया हुआ है। होश तो नहीं है उसे, खतरा होगा ही। इतने कम होते हैं, यही आश्चर्यजनक है। बहुत कम होते हैं, आदमियों को देखते हुए खतरे बहुत कम होते हैं, दुर्घटनाएं बहुत कम होती हैं।
अपने को भी ख्याल में लें। जब आप किसी से बात कर रहे होते हैं, तब बात होशपूर्वक करते हैं कि बात अलग चलती रहती है, भीतर कुछ और भी चलता रहता है और बेहोशी बनी रहती है! हमारी सारी क्रियाएं हम मूर्च्छा में चलाते हैं। अगर विवेक को जगाना है, उस विवेक को, जो लाभ बन जाता है आध्यात्मिक सिद्धि में, तो हमें एक-एक क्रिया के साथ होश को जोड़ना पड़े। भोजन कर रहे हैं, होशपूर्वक करें। होशपूर्वक का क्या अर्थ है? अर्थ कि कौर भी उठाएं तो हाथ ऊपर उठे, तो भीतर चेतना जाने कि अब हाथ ऊपर उठता है। कौर बांधें, तो चेतना जाने कि अब कौर बंधता है। मुंह में कौर जाए, चबाएं, तो चेतना जाने कि अब मैं चबा रहा हूं। छोटे से छोटा काम भी हो तो चेतना के जानते हुए हो। चेतना के अनजाने न हो पाए कोई काम।
कठिन है, बहुत कठिन है। एक सेकेंड भी होश से भरे रहना बहुत कठिन है। लेकिन प्रयोग से सरल हो जाता है। छोटे-छोटे प्रयोग करते रहें।
खाली बैठे हैं, आंख बंद कर लें, श्वास को ही देखते रहें कि श्वास का होश रखूंगा। आप बहुत हैरान होंगे कि एकाध सेकेंड होश नहीं रहता और दूसरी बात पर चला जाता है। श्वास भूल जाती है। फिर होश को लौटा लाएं, फिर श्वास को देखने लगें। घूमने निकले हैं, ध्यानपूर्वक कदम रखें--कि जानता रहूंगा, बायां पैर उठा, दायां पैर उठा; बायां पैर उठा, दायां पैर उठा। कहने को नहीं कह रहा हूं कि जब बायां उठे, तो आप भीतर कहें, बायां उठा और जब दायां उठे तो कहें, दायां उठा। अगर आप इस कहने में लग गए, तो पैर का होश खो जाएगा। आप इसमें लग जाएंगे।
मैं यह कहने को नहीं कह रहा हूं। फील इट--बायां उठ रहा है, तो भीतर अनुभव करें, बायां उठ रहा है। यह मुझे तो कहना पड़ रहा है, आपको कहने की जरूरत नहीं है। जब बायां उठे, तो आप सिर्फ जानें कि बायां उठा। जब दायां उठे तो जानें कि दायां उठा। दस-पांच कदम में ही आप पाएंगे कि हजार दफे भूल हो जाती है। एक पैर उठता है, दूसरा भूल ही जाता है। ख्याल ही नहीं रहता कि दायां कब उठ गया। तब आपको पता चलेगा कि कितनी मूर्च्छा है।
अपने चलते हुए पैर का भी पता नहीं है, तो और जिंदगी के और रास्तों का क्या पता होगा? क्षणभर को होश नहीं रख पाता हूं श्वास का, तो क्रोध का कैसे होश रख पाऊंगा! श्वास जैसी इनोसेंट क्रिया, जिसमें किसी का कुछ बनता- बिगड़ता नहीं, किसी से कुछ लेना-देना नहीं--निर्दोष बिल्कुल, निजी बिल्कुल--उसमें भी नहीं होश रह पाता। तो मैं कसमें लेता हूं कि अब क्रोध नहीं करूंगा, कैसे चलेंगी ये कसमें? कसम एक तरफ पड़ी रह जाएगी जब क्रोध आएगा, होश का पता ही नहीं रहेगा। क्रोध हो जाएगा, तब पीछे से पता चलेगा। और पीछे से तो दुनिया में सभी बुद्धिमान होते हैं। पीछे से दुनिया में सभी बुद्धिमान होते हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन कहता था, एक दिन लौट रहा था किसी सभा में भाषण करके। पत्नी से कहने लगा कि तीसरा भाषण सबसे जोरदार हुआ। पत्नी ने कहा, तीसरा भाषण? तुम्हारा अकेला तो भाषण ही था! मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, मेरा ही

तीसरा भाषण। उसकी पत्नी ने कहा, लेकिन तीसरा! एक कुल जमा तुमने भाषण दिया। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, पहले मेरी पूरी बात सुन लो। एक भाषण तो वह है, जो मैं घर से तैयार करके चला था कि दूंगा। एक वह है, जो मैंने दिया। और एक वह है, जो मैं अब सोच रहा हूं कि दिया होता। यह तीसरा, द बेस्ट, इसका कोई मुकाबला ही नहीं।
बेहोश आदमी ऐसा ही चल रहा है। जो कहना चाहता था, वह कहा नहीं। जो कहा,
वह कहना नहीं चाहता था। जो कहना चाहता था, वह अपने भीतर कह रहा है। यह सब चल रहा है, बेहोशी के कारण।
होश को जगाना हो, विवेक को जगाना हो, इस लाभ को पाना हो त्रिगुण के पार जाने का... त्रिगुण के पार जाए बिना अमृत की उपलब्धि नहीं है। क्योंकि तीन गुणों के भीतर तो मृत्यु ही मृत्यु है, चौथे में अमृत है। तो इसको साधना पड़े--उठते-बैठते, चलते-सोते साधना पड़े।
आप कितनी दफे सो चुके हैं जिंदगी में! आदमी साठ साल जीता है, तो कम से
कम बीस साल तो सोता है। आठ घंटे रोज सोए, तो साठ साल में बीस साल सोने में गुजर जाते हैं। बीस साल! अगर आप साठ साल के हैं, तो आप बीस साल सो चुके हैं। लेकिन कभी आपने नींद को आते देखा? कभी नींद को जाते देखा? कभी आपको पता है, बीस साल सोते हो गए, आपको यह भी पता नहीं कि नींद किस क्षण में आती है और कैसी होती है। यह भी पता नहीं है, नींद कब चली जाती है। अपनी ही नींद, लेकिन होश बिल्कुल नहीं! अपना ही जागरण, लेकिन होश बिल्कुल नहीं!
तो प्रयोग करें। रात सो रहे हैं, बिस्तर पर पड़े हैं। होश रखें, कब नींद
आ जाती है। जागते-जागते देखते रहें, कब नींद का धुआं उतरता है। कब नींद का अंधेरा भीतर छा जाता है। कब हृदय की धड़कनें शिथिल हो जाती हैं। कब श्वास तंद्रिल हो जाती है। कब भीतर सपने जगने लगते हैं। देखते रहें।
महीनों तक तो कोई पता नहीं चलेगा। सुबह ही आपको पता चलेगा कि अरे, नींद आ गई! लेकिन अगर प्रयास किया धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, तो किसी दिन अचानक अभूतपूर्व अनुभव होता है--जब कोई नींद को अपने ऊपर उतरते देख लेता है। और ध्यान रहे, जब आप नींद को अपने ऊपर उतरते देख लेते हैं, तो आप नींद में भी जागने में समर्थ हो जाते हैं। क्योंकि फिर क्या बात रही, नींद को हमने देखा, नींद उतर रही है--हम देख रहे हैं, हम जागे हुए हैं। नींद आ गई, उसने सब तरफ से घेर लिया और हम देख रहे हैं, तो हमारे भीतर कोई जागा हुआ है।
लेकिन अभी तो जागने में ही जागने की कोशिश करें। अभी नींद में जागने
की कोशिश से कोई फायदा न होगा। जो जागने में ही जागा हुआ नहीं, वह नींद में कैसे जागेगा! अभी जागने में ही जागें। जो भी करते हैं, उसको करते समय होश भी रखने की कोशिश करें। कोई भी काम कर रहे हैं छोटा-मोटा, तो होश साथ में रखने की कोशिश करें।
अभी मुझे सुन रहे हैं। तो मैं बोल रहा हूं, आप सुन रहे हैं। तो सारा होश मुझ पर मत रखें। सुनें, लेकिन सुनने वाले का भी ख्याल रखें, कोई सुन भी रहा है भीतर। कोई बोल रहा है बाहर, कोई सुन रहा है भीतर। दोनों के बीच शब्दों का आदान-प्रदान हो रहा है। लेकिन बोलने वाले में इतने सम्मोहित न हो जाएं, इतने खो न जाएं कि सुनने वाले का पता ही न रहे। क्योंकि असली तो सुनने वाला ही है। उसकी याद बनी रहनी चाहिए। डबल एरोड, चेतना का तीर दोनों तरफ होना चाहिए--इधर बोलने वाले की तरफ, उधर सुनने वाले की तरफ। दोनों तरफ होश रहे।
और तब जो आपकी समझ होगी, वह बहुत गहरी हो जाएगी। क्योंकि जब सुनने वाला सोया हुआ है, तो बोलने वाला क्या समझा पाएगा? और अगर सुनने वाला जागा हुआ है, तो बोलने वाला चुप भी रह जाए, तो भी समझा सकता है।
इसी संबंध में आपको कल के लिए खबर दे दूं कि दोपहर के जो तीस मिनट का मौन है, वह अकारण नहीं है। उस तीस मिनट में मैं आपसे मौन में बोलने की कोशिश कर रहा हूं। तो आप तीस मिनट रिसेप्टिव, ग्राहक होने की कोशिश करें। पंद्रह मिनट कीर्तन, पंद्रह मिनट आपकी जो मौज आए वह और फिर तीस मिनट आप अपने सब द्वार-दरवाजे खोलकर होशपूर्वक बैठ जाएं कि कोई आवाज किसी सूक्ष्म मार्ग से आए, तो मेरे दरवाजे बंद न हों।
तो मैं आपसे मौन में बोलने की कोशिश कल से शुरू करूंगा। आज आपका मौन ठीक जगह पर आ गया। तो कल से आप मौन में सिर्फ अपने को खुला रखें और शांत

रहें, तो बिना वाणी के आपसे थोड़ी बात हो सके। सच तो यह है कि जो महत्वपूर्ण है, वह वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसे तो मौन में ही कहा जा सकता है। और अगर वाणी का उपयोग भी किया जा रहा है, तो सिर्फ इसीलिए कि किसी तरह आपको वाणी के पार, मौन की क्षमता और मौन में समझने की योग्यता और पात्रता मिल जाए। ऋषि कहता है, विवेक लभ्यम्। विवेक से उपलब्ध होती वह स्थिति।
मनोवाग अगोचरम्। और वह स्थिति मन और वाणी का अविषय है।
वह स्थिति, जो विवेक से उपलब्ध होती है, न तो मन से जानी जा सकती है और
न वाणी से समझाई जा सकती है। वह इन दोनों के लिए अविषय है। इन दोनों का आब्जेक्ट नहीं है। इसे ठीक से समझ लें।
मन और वाणी का अविषय है वह स्थिति।
मन का अविषय कौन होता है? जो मन के पार है, वह मन का विषय नहीं बन सकता।
मन उसे देख सकता है, जो मन के सामने है। मन उसे नहीं देख सकता, जो मन के पीछे है। जैसा मैंने कहा, दर्पण उसे देख सकता है, जो दर्पण के सामने है। दर्पण उसे नहीं देख सकता, जो दर्पण के पीछे है। लेकिन दर्पण नहीं देख सकता दर्पण के पीछे जो है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि दर्पण के पीछे कुछ भी नहीं है। दर्पण का न देखना अस्तित्व का अभाव नहीं है। सिर्फ दर्पण की क्षमता की सूचना है।
मन हमारा दर्पण है जगत के लिए--जस्ट ए मिरर। यह जो चारों तरफ विराट पदार्थ का जगत है, इसे मिरर करने के लिए, इसे दिखाने के लिए, इसका प्रतिबिंब बनाने के लिए मन की फैकल्टी है, मन की इंद्रिय है। मन के अंग हैं फिर। आंख मन का एक द्वार है, जहां से रूप प्रवेश करता है, आकृति, रंग। कान दूसरा द्वार है, जहां से ध्वनि प्रवेश करती है, शब्द। हाथ, नाक, ये सब द्वार हैं। ये पांच इंद्रियां मन के द्वार हैं। मन इनका आधार है। ये मन के एक्सटेंशंस हैं। इनके द्वारा मन बाहर के जगत में जाता और जानता है। जरूरी है। मन की बड़ी उपयोगिता है।
लेकिन आंख बाहर देख सकती है, भीतर नहीं। कान बाहर सुन सकते हैं, भीतर नहीं। हाथ बाहर छू सकते हैं, भीतर नहीं। हाथ बाहर ही स्पर्श कर सकते हैं, भीतर नहीं। सब इंद्रियां बाह्य को विषय बना सकती हैं, लेकिन जो भीतर है, उसे विषय नहीं बना सकती हैं। मन के भी भीतर चेतना है। मन के भी पार पीछे चेतना है। वह अविषय है। वह मन के लिए... कोई उपाय नहीं है मन के पास कि उस चेतना को जान सके। और हमारी यही उलझन है। क्योंकि हम जगत में सारी चीजें मन से जान लेते हैं, तो हम सोचते हैं, मन से ही चेतना को, आत्मा को भी जान लेंगे।
कुर्सी को देख लेते हैं हम मन से, चट्टान को देख लेते हैं मन से, दुकान
को देख लेते हैं मन से। गणित पढ़ लेते हैं, भूगोल पढ़ लेते हैं, भाषा पढ़ लेते हैं मन से। विज्ञान के ज्ञाता हो जाते हैं मन से। तो एक भ्रांति पैदा होती है कि शायद, जब सभी कुछ मन से जान लिया जाता है--विश्वविद्यालय में जो भी पढ़ाया जाता है, सभी मन से जान लिया जाता है; कोई आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में वे तीन सौ साठ विषयों को पढ़ाते हैं, जिसमें सभी कुछ आ जाता है; वह सब मन से जान लिया जाता है--तो भ्रांति पैदा होती है कि फिर यह आत्मा और परमात्मा मन से न जाने जा सकेंगे! जब मन की इतनी क्षमता है, तो मन सब जान लेगा। और चूंकि मन अपने पीछे की चीजों को नहीं जान सकता है, इसलिए मन कह देता है, जिसे मैं नहीं जान सकता, वह नहीं है।
पश्चिम की कठिनाई यही हो गई है। पश्चिम ने मन से बहुत कुछ जाना है, पूरब से बहुत ज्यादा जाना है। पदार्थ में पश्चिम ने बहुत गति की है, बड़े रहस्य खोजे हैं। उसी से मुश्किल खड़ी हो गई है। क्योंकि जब वैज्ञानिक सोचता है कि परमाणु को जान सकता हूं मन से, अनंत दूरी पर जो तारा है, उसकी जानकारी ले सकता हूं मन से, तो यह आत्मा जो इतने पास कहते हैं लोग--मोहम्मद कहते हैं कि गले की जो नस है, कट जाए तो आदमी मर जाता है, आत्मा उससे भी पास है--तो जो इतनी पास है, उसे न जान सकेंगे? जान लेंगे। तो मन से वह कोशिश करता है। और जब नहीं जान पाता, तो निष्कर्ष देता है कि आत्मा नहीं है। लेकिन ऋषि कहते हैं, न जानने का कारण यह नहीं है कि आत्मा नहीं है, न जानने का कारण यह है कि आत्मा मन के लिए अगोचर है, अविषय है। नाट एन आब्जेक्ट फार द माइंड--मन के लिए विषय नहीं है।

इसे हम ऐसा समझें, तो हमें आसानी पड़ेगी। आंख देख लेती है, लेकिन सुन नहीं पाती। अगर कोई संगीत सुनने आंख लेकर पहुंच जाए, तो वह कहे, आंख मेरी बिल्कुल दुरुस्त है, चश्मा भी नहीं लगता, तो यह संगीत सुनाई क्यों नहीं पड़ रहा है? लेकिन आंख के लिए सुनना अविषय है। नाट एन आब्जेक्ट फार द आई। वह आंख का विषय नहीं है, उसमें आंख का कोई कसूर नहीं है। आंख के पास पकड़ने का उपाय ही नहीं है ध्वनि को। आंख पकड़ती है रंग को, रूप को, आकार को, प्रकाश को--साउंड को नहीं, ध्वनि को नहीं। उसके पास यंत्र नहीं है। आंख का कोई कसूर नहीं है। अविषय। ऐसे ही मन पकड़ता है पदार्थ को। चैतन्य उसके लिए अविषय है।
इसलिए ऋषि एक तो कारण यह है कि कहते हैं कि मन का अविषय है, अगोचर है।
मन को नहीं दिखाई पड़ेगा। इसलिए जो मन से खोजने चला, वह गलत साधन लेकर खोजने चला है। और अगर आत्मा नहीं मिलती, तो इससे आत्मा का न होना सिद्ध नहीं होता, इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि आप जो साधन लेकर चले थे, वह असंगत था, इररेलेवेंट था। उसका कोई जोड़ ही नहीं बनता था। उससे कोई संबंध ही नहीं जुड़ता था। उसके लिए कुछ और ही रास्ते खोजने पड़ेंगे।
ध्यान वही रास्ता है। जो मन नहीं करता, वह ध्यान कर पाता है। जो मन के लिए अविषय है, वह ध्यान के लिए विषय है। ध्यान उस नई शक्ति को भीतर जगाना है, जो मन से अतिरिक्त है--न आंख की है, न कान की है, न नाक की है, न हाथ की है, न शरीर की है, न मन की है। इन सब से अलग और भिन्न है। उस ध्यान से।
अगर हम ऐसा समझें तो आसानी हो जाएगी।
मैंने कहा, एक दर्पण लगा है। उसके सामने जो पड़ता है, वह दिखाई पड़ जाता है। हम दर्पण के पीछे एक और दर्पण लटका देते हैं, तो पीछे का जो है, वह भी दिखाई पड़ने लगता है। मन एक दर्पण है, पदार्थ को पकड़ने के लिए। ध्यान भी एक दर्पण है, परमात्मा को पकड़ने के लिए। ध्यान के बिना नहीं है। गोचर नहीं हो पाएगा।
और ऋषि इसलिए भी कहता है कि मन और वाणी का अविषय है, क्योंकि मन सोच सकता, जान नहीं सकता--इट कैन थिंक, बट इट कैन नाट नो। मन का अर्थ ही होता है, मनन की क्षमता--द कैपेसिटी टु थिंक। इसीलिए उसको मन कहते हैं। और इसीलिए मनुष्य को मनुष्य कहते हैं, वह जो सोच सकता।
मन का अर्थ हैः सोचने की क्षमता, विचारने की क्षमता। लेकिन ज्ञान और
ही बात है। सच तो यह है कि जहां हमें ज्ञान नहीं होता, वहां मन सब्स्टीट्यूट, परिपूरक का काम करता है। जहां ज्ञान नहीं होता, वहां हम सोचकर काम चलाते हैं। जहां ज्ञान होता है, वहां सोचकर काम करने की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। कि रह जाती है?
अंधा आदमी, कमरे के बाहर जाना है, तो वह पूछता है कि रास्ता कहां है? सोचता है, रास्ता कहां है? पता लगाता है, रास्ता कहां है? आंख वाला आदमी, जब उसे निकलना होता है, न सोचता... ख्याल करना, सोचता भी नहीं कि रास्ता कहां है। सोचता भी नहीं कि दरवाजा कहां है। पूछने का तो सवाल ही नहीं है, भीतर भी नहीं सोचता कि दरवाजा कहां है। आंख वाला आदमी, निकलना है--उठता है और निकल जाता है। आप उसको याद दिलाएं, तब शायद उसे ख्याल आए कि वह दरवाजे से निकला, अन्यथा दरवाजे का भी ख्याल नहीं आएगा। आंख जब देख सकती है, तो सोचने की कोई जरूरत नहीं रह गई।
जिसका भी ज्ञान होता है, वहां सोचने की जरूरत नहीं रह जाती। अज्ञान में सोचना चलता है। ज्ञान में सोचना बंद हो जाता है। ऐसा समझें कि अज्ञान के लिए मन उपाय है। अज्ञान के साथ जीना हो, तो मन चाहिए, बहुत सक्रिय मन चाहिए। ज्ञान में जिसे जीना है, ज्ञान जिसे उपलब्ध हुआ, उसके लिए मन की कोई भी जरूरत नहीं रह जाती। मन बेकार हो जाता है। उसे कचरेघर में डाला जा सकता है।
इसलिए भी ऋषि कहते हैं कि वह मन का विषय नहीं है, वह ज्ञान का विषय है। ज्ञान होता है चेतना को, विचार होते हैं मन को।
साथ ही ऋषि कहता है, वाणी का भी अविषय है वह।
शब्द से भी उसे कहा नहीं जा सकता। इसलिए दूसरे को जतलाने का कोई भी उपाय नहीं। नो वे टु कम्युनिकेट, संवाद करने का कोई उपाय नहीं। गूंगे का गुड़ हो जाता है। जिसे पता चल जाता है, वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है,

क्योंकि वह कहना चाहता है किसी को और कह नहीं पाता। हजार-हजार डिवाइस, हजार-हजार उपाय खोजता है कि जिनसे आपको कह दे। फिर भी पाता है कि सब उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, कहा नहीं जाता। वाणी का वह अविषय है, क्योंकि वाणी मन की शक्ति है। जिसको मन जान नहीं सकता, उसको मन कहेगा कैसे? अगर मन जान सकता, तो वाणी कह सकती।
इसलिए ध्यान रखें, मन जो भी जान सकता है, वाणी उसे कह सकती है। लेकिन जिसे मन जान ही नहीं सकता, वाणी उसे कहेगी कैसे? वाणी तो मन की ही दासी है। वह मन का ही एक हिस्सा है। इसलिए वाणी उसे कह नहीं पाती।
फिर भी उपनिषद तो कहा जाता है। वेद कहे जाते हैं। बुद्ध चालीस वर्ष तक सतत बोलते हैं। जीसस बोल-बोलकर फंस जाते हैं और सूली पर लटकते हैं। सुकरात से अदालत कहती है कि तू अगर बोलना बंद कर दे, तो हम तुझे माफ कर दें। सुकरात कहता है, बोलना कैसे बंद कर सकता हूं? आप फांसी ही दे दें, जहर ही पिला दें, वह चलेगा। बोलना बंद नहीं हो सकता। और यही सुकरात कहता फिरता है कि सत्य बोला नहीं जा सकता, और यही सुकरात बोलने के लिए मरने को तैयार है। मर जाता है, जहर पी लेता है। वह कहता है, बिना बोले रहूंगा कैसे! बोलूंगा तो ही, यह तो अपना धंधा है। सुकरात का शब्द है यह, सत्य को बोलना तो मेरा धंधा है। इसके बिना मैं जीऊंगा कैसे? और कहता फिरता है कि सत्य कहा नहीं जा सकता!
अदालत तो कोई गलती आग्रह नहीं कर रही थी। जब सुकरात खुद ही कहता है, सत्य नहीं कहा जा सकता, तो अदालत क्या बड़ी मांग कर रही थी? वह यही कह रही थी कि जो नहीं कहा जा सकता, कृपा करके मत कहो। जो कहा ही नहीं जा सकता, उसको कहने के चक्कर में क्यों पड़ते हो? और कह-कहकर मुसीबत में पड़ते हो! अदालत तक आ गए हो।
सुकरात ने कहा, वह कहा तो नहीं जा सकता, लेकिन उसे कहने से रुका भी नहीं जा सकता। क्योंकि जब मैं देखता हूं कि मेरे ही सामने कोई जा रहा है और गड्ढे में गिरेगा, मैं जानता हूं कि नहीं कहा जा सकता गड्ढा है, फिर भी मैं चिल्लाऊंगा। फिर भी मैं आवाज दूंगा। कौन जाने, किसी तरह संकेत मिल जाए। और न भी मिले संकेत, तो सुकरात ने कहा है, कम से कम इतनी तो तृप्ति होगी कि मैं चुपचाप नहीं खड़ा रहा था। जो मुझे करना था, वह मैंने किया था। अब अगर परमात्मा की मर्जी नहीं, अस्तित्व का नियम नहीं, तो मेरा कसूर नहीं, मेरी कोई जिम्मेवारी नहीं।
सत्य को जान लेने के बाद एक अल्टीमेट रिस्पांसिबिलिटी, एक आत्यंतिक जिम्मेवारी आदमी पर पड़ जाती है कि उसने जो जाना है, वह कह दे। कोई सुने तो ठीक, न सुने तो ठीक। सुनने वाला समझे तो ठीक, न समझे तो ठीक। जो कहा है, वह कहा जा सके तो ठीक, न कहा जा सके तो ठीक। लेकिन यह बोझ मन पर न रह जाए कि कुछ मैं जानता था, जिसे कोई और भी तलाश रहा था और मैंने उससे कहने का कोई उपाय न किया।
और कभी-कभी ऐसा हो जाता है, अगर बुद्धिमान हो कोई दूसरा सुनने वाला, तो नहीं कही जा सकती जो बात वाणी से, वह भी वाणी की असमर्थता और विवशता से कुछ-कुछ समझी जा सकती है। नहीं कही जा सकती जो शब्दों से, शब्दों के पीछे छिपी हुई कहने की आतुरता से, शब्दों के पीछे छिपी हुई करुणा से कहीं हृदय की कोई तंत्री झंकृत हो सकती है।
तो ऋषि कहता है, वह वाणी और मन दोनों के अतीत और अगोचर है और दोनों का विषय नहीं है। इसलिए जिसे उसे जानना हो, उसे वाणी के भी पार जाना पड़ता है, मन के भी पार जाना पड़ता है। और उस नए दर्पण को निर्मित करना पड़ता है, जिसका नाम ध्यान है। कहें, विवेक है। जो भी शब्द दें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। उस विवेक या उस ध्यान को जगाए बिना ऋषियों ने जिन सत्यों की बात कही है, वह हमारे कानों तक ही जाती है, प्राणों तक नहीं। हम उसे सुनते हुए मालूम पड़ते हैं और फिर भी बहरे रह जाते हैं।
जीसस बार-बार कहते थेः जिनके पास आंखें हों, वे देख लें; जिनके पास कान हों, वे सुन लें।
जो भी उनको सुनने आते थे, सभी के पास कान थे। सुनने कान वाले लोग आते हैं। जो भी उनके दर्शन को आते थे, उनके पास आंखें थीं। दर्शन को आंख वाले लोग आते हैं। और आंख वाले लोगों से ही जीसस का यह कहना कि आंखें हों तो देख

लो, कान हों तो सुन लो, बड़ा अजीब है। पर जरा भी गलत नहीं है। कान होने से ही सुना जा सकता अगर सत्य, तो अब तक सभी ने सुन लिया होता। और आंख होने से ही देखा जा सकता सत्य, तो अब तक सभी ने देख लिया होता। आंख और कान तो हमें जन्म से ही मिल जाते हैं। लेकिन एक और फैकल्टी, एक और हमारी अंतःप्रज्ञा की क्षमता जन्म से नहीं मिलती, उसे हमें जन्माना पड़ता है।
जन्म से तो हम कहें कि जीने के लिए जो उपयोगी हैं, वे यंत्र हमें मिलते हैं। जानने के लिए सत्य को, जीवन को जानने के लिए जो उपयोगी है, वह यंत्र तो हमें ही सक्रिय करना पड़ता है। वह बीज-रूप हमारे भीतर होता है, लेकिन उसे सक्रिय हमें करना पड़ता है। अन्यथा वह बीज की तरह पड़ा-पड़ा फिर खो जाता है। और जन्मों-जन्मों हमें मिलता है अवसर और हम चूकते चले जाते हैं।
वह बीज है ध्यान का, विवेक का। थोड़ा सा ही श्रम, थोड़ी प्रतीक्षा, थोड़ा धैर्य, थोड़ा साहस, थोड़ा संकल्प, थोड़ा समर्पण; और उस बीज से जीवन-अंकुर फूटना शुरू हो जाता है। और जिस व्यक्ति के भीतर ध्यान का अंकुर जन्म गया, बस वही कह सकता है कि जीवन में कोई सार्थकता पाई, अन्यथा जीवन सिर्फ अपने को व्यर्थ गंवाने से ज्यादा और कुछ भी नहीं है।
तो मन और वाणी के जो पार है, वह ध्यान से जाना जाता है।

आज इतना ही।

अब हम ध्यान में उतरेंगे। वह मन और वाणी के जो पार है, उसे जानने को चलेंगे। दो-तीन सूचनाएं, फिर आप उठें।
बहुत ठीक प्रयोग आप कर रहे हैं--शायद दस-पांच मित्रों को छोड़कर। लेकिन
वे जो दस-पांच हैं, वे भी व्यर्थ समय न चूकें। बड़े मजे की बात तो यह है कि आ ही गए हैं, खड़े ही हैं, समय जा ही रहा है, घंटा बीत ही जाएगा--चाहे ध्यान करिएगा कि नहीं करिएगा। जब आ ही गए हैं, खड़े ही हैं और ध्यान चल ही रहा है, तो आप क्यों किनारे पर खड़े रह जाते हैं? जब गंगा इतनी पास बहती हो, तो आप क्यों प्यासे रह जाते हैं?
तो कोई भी वंचित न रहे, कोई भी खड़ा न रहे। प्रयोग करके ही देख लें--न मिलेगा, तो खोएगा तो कुछ भी नहीं। नहीं भी पाया कुछ, तो खोने की कोई बात नहीं है। इसलिए कोई भी खाली न खड़ा रह जाए। फिर भी कोई बिल्कुल ही नासमझ हो, आंखें होते हुए आंख न हों, कान होते हुए कान न हों, तो वह दूर पहाड़ी पर हट जाए। वहां बैठे, यहां न खड़ा रहे।
दूसरी बात, पहले दो मिनट काफी गहरी श्वास ले लेनी है, ताकि शरीर से शक्ति जग जाए।
तीसरी बात, अपलक आंख--पलक झुकानी नहीं है--मुझे देखते रहना है।
चौथी बात, जिन लोगों को बहुत तीव्रता से करना है, वे आगे होंगे। और उसी मात्रा में पीछे होते चले जाएंगे। जिनको खड़े रहकर धीमे-धीमे करना है, वे बिल्कुल पीछे की कतार में होंगे। फिर यहां मेरे पास भी जो लोग खड़े हैं, वे भी थोड़ी जगह बनाकर खड़े होंगे तो कूद सकेंगे, नाच सकेंगे।
और आखिरी बात, जब मैं खड़ा हो जाऊं और आपको इशारा शुरू करूं, तो आपको हू
की आवाज, हू की चोट जोर से करनी है और नाचना है। जब मैं हाथ नीचे से ऊपर की तरफ उठाऊं, तो वह इशारा है कि आप अपनी पूरी शक्ति लगा दें। और जब मैं ऊपर ले जाऊं, तो आपमें जितनी ताकत हो उतनी लगा दें--आवाज, नाच... ।
और कभी-कभी बीच में जब हाथ मैं उलटे कर लूं और ऊपर से नीचे की तरफ लाऊं,
तब आप और भी जितनी शक्ति हो, वह इकट्ठी करके लगा दें। क्योंकि तब मैं आशा करता हूं कि अगर आपने पूरी शक्ति लगाई, तो आपमें से बहुतों के ऊपर शक्तिपात हो सकेगा। परमात्मा का ऊपर से स्पर्श मिल सकेगा।

निर्वाण उपनिषद
आठवां प्रवचन

स्वप्न-सर्जक मन का विसर्जन और नित्य सत्य की उपलब्धि

अनित्यं ज्जगद्यज्जनित स्वप्न जगभ्रगजादि तुल्यम्
तथा देहादि संघातम मोह गणजाल कलितम्।
तद्रज्जुस्वप्नवत कल्पितम्।
विष्णु विध्यादि शताभिधान लक्ष्यम्।
अंकुशो मार्गः।

जगत अनित्य है, उसमें जिसने जन्म लिया है, वह स्वप्न के संसार जैसा और आकाश के हाथी जैसा मिथ्या है।
वैसे ही यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त है। यह सब रस्सी में भ्रांति से कल्पित किए गए सर्प के समान मिथ्या है।
विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है।
अंकुश ही मार्ग है।

जगत अनित्य है।
अनित्य का अर्थ होता है, जो है भी और प्रतिक्षण नहीं भी होता रहता है।
अनित्य का अर्थ नहीं होता कि जो नहीं है। जगत है, भलीभांति है। उसके होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि यदि वह न हो, तो उसके मोह में, उसके भ्रम में भी पड़ जाने की कोई संभावना नहीं। और अगर वह न हो, तो उससे मुक्त होने का कोई उपाय नहीं।
जगत है। उसका होना वास्तविक है। लेकिन जगत नित्य नहीं है, अनित्य है। अनित्य का अर्थ है, प्रतिपल बदल जाने वाला है। अभी जो था, क्षणभर बाद वही नहीं होगा। क्षणभर भी कुछ ठहराहुआ नहीं है।
इसलिए बुद्ध ने कहा हैः जगत क्षण सत्य है। बस, क्षणभर ही सत्य रह पाता है। हेराक्लतु ने यूनान में कहा है, यू कैन नाट स्टेप ट्वाइस इन द सेम रिवर, एक ही नदी में दो बार उतरना संभव नहीं है। नदी बही जा रही है। ठीक ऐसे ही कहा जा सकता है, यू कैन नाट लुक ट्वाइस द सेम वर्ल्ड, एक ही जगत को दोबारा नहीं देखा जा सकता। इधर पलक झपकी नहीं कि जगत दूसरा हुआ जा रहा है। इसलिए बुद्ध ने तो बहुत अदभुत बात कही है। बुद्ध ने कहा कि है शब्द गलत है। है का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। सभी चीजें हो रही हैं। है की अवस्था में तो कोई भी नहीं है। जब हम कहते हैं, यह व्यक्ति जवान है, तो है का बड़ा गलत प्रयोग हो रहा है। बुद्ध कहते थे, यह व्यक्ति जवान हो रहा है। गति है, प्रोसेस है। स्थिति कहीं भी नहीं है। एक आदमी को हम कहते हैं, यह बूढ़ा है। कहने से ऐसा लगता है कि बूढ़ा होना कोई स्थिति है, जो ठहर गई है, स्टेगनेंट है। नहीं, बुद्ध कहते थे, यह आदमी बूढ़ा हो रहा है। है की कोई अवस्था ही नहीं होती। सब अवस्थाएं होने की हैं।
पहली बार जब बाइबिल का अनुवाद बर्मी भाषा में किया जा रहा था, तो बहुत कठिनाई हुई। क्योंकि बर्मी भाषा बर्मा में बौद्ध धर्म के पहुंचने के बाद धीरे-धीरे विकसित हुई है, तो बौद्ध चिंतन की जो आधारशिलाएं हैं, वे बर्मी भाषा में प्रवेश कर गईं। तो बर्मी भाषा में "है" शब्द के लिए कोई ठीक-ठीक शब्द नहीं है। जो भी शब्द हैं, उनका मतलब होता है, हो रहा है। अगर कहें नदी है, तो बर्मी भाषा में उसका जो रूपांतरण होगा, वह होगा कि नदी हो रही है। और सब तो ठीक था, लेकिन बाइबिल के अनुवाद करने में ईश्वर का क्या करें? गॉड इ.ज, ईश्वर है। बर्मी भाषा में करें, तो उसका हो जाता है कि ईश्वर हो रहा है। बड़ी अड़चन थी।
और बुद्ध कहते थे, कुछ भी नहीं है, सब हो रहा है। और ठीक कहते थे। यह वृक्ष आप देखते हैं; हम कहेंगे, वृक्ष है। जब तक आप कह रहे हैं, तब तक वृक्ष हो गया कुछ और। एक नई कोंपल निकल आई होगी। एक पुरानी कोंपल और पुरानी पड़ गई होगी। एक फूल थोड़ा और खिल गया होगा। एक गिरता फूल गिर गया होगा। जड़ों ने नए पानी की बूंदें सोख ली होंगी, पत्तों ने सूरज की नई किरणें पी ली होंगी। जब

आप कहते हैं, वृक्ष है, जितनी देर आपको कहने में लगती है, उतनी देर में वृक्ष कुछ और हो गया। है जैसी कोई अवस्था जगत में नहीं है। सब हो रहा है-- जस्ट ए प्रोसेस।
उपनिषद यही कह रहे हैं।
उपनिषद का ऋषि कह रहा है, जगत अनित्य है।
नित्य कहते हैं उसे, जो है, सदा है। जिसमें कोई परिवर्तन कभी नहीं, जिसमें कोई रूपांतरण नहीं होता। जो वैसा ही है, जैसा सदा था और वैसा ही रहेगा।
निश्चित ही, जगत ऐसा नहीं है। जगत है अनित्य। लगता है कि है, और बदला
जा रहा है, भागा जा रहा है। जगत एक दौड़ है--एक गत्यात्मकता, एक क्षणभंगुरता। लेकिन भ्रांति बहुत पैदा होती है। भ्रांति बहुत पैदा होती है, सभी चीजें लगती हैं, है। शरीर लगता है, है। वह भी एक धारा है, प्रवाह है। अगर वैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहता है, सात साल में आपके शरीर में एक टुकड़ा भी नहीं बचता वही जो सात साल पहले था। सात साल में सब बह जाता है, शरीर नया हो जाता है। जो आदमी सत्तर साल जीता है, वह दस बार अपने पूरे शरीर को बदल लेता है। एक-एक सेल बदलता जाता है--प्रतिपल।
आप सोचते हैं कि आप एक दफा मरते हैं, आपका शरीर हजार दफे मर चुका होता है। एक-एक शरीर का कोष्ठ मर रहा है, निकल रहा है शरीर के बाहर। भोजन से रोज नए कोष्ठ निर्मित हो रहे हैं। पुराने कोष्ठ बाहर फेंके जा रहे हैं--मल के द्वारा, और-और मार्गों से शरीर अपने मरे हुए कोष्ठों को बाहर फेंक रहा है। आपने ख्याल नहीं किया होगा, नाखून काटते हैं, दर्द नहीं होता; बाल काटते हैं, दर्द नहीं होता। आपने ख्याल नहीं किया होगा कि ये डेड पार्ट्स हैं, इसलिए दर्द नहीं होता। अगर ये शरीर के हिस्से होते, तो काटने से तकलीफ होती। ये मरे हुए हिस्से हैं।
शरीर के भीतर जो कोष्ठ मर गए हैं, उनको फेंका जा रहा है बाहर--बालों के द्वारा, नाखूनों के द्वारा, मल के द्वारा, पसीने के द्वारा। प्रतिपल शरीर अपने मरे हुए हिस्सों को बाहर फेंक रहा है और भोजन के द्वारा नए हिस्सों को जीवन दे रहा है। शरीर एक सरिता है, लेकिन भ्रम तो यह पैदा होता है कि शरीर है।
आज से तीन सौ साल पहले तक पता भी नहीं था कि शरीर के भीतर खून गति करता है। तीन सौ साल पहले तक ख्याल था कि शरीर के भीतर खून भरा हुआ है। क्योंकि शरीर के भीतर जो खून की गति है, उसका हमें पता तो चलता ही नहीं। और शरीर में खून नदी की तेज धार की तरह चल रहा है। जो आपके पैर में था, वह क्षणभर बाद आपके सिर में पहुंच जाता है। तीव्र परिभ्रमण चल रहा है खून का। उस परिभ्रमण का भी उपयोग यही है कि वह आपके मरे हुए सेल्स को शरीर के बाहर निकालने के लिए स्रोत का काम करता है, धारा का काम करता है। वह मरे हुए हिस्सों को बाहर फेंकने की कोशिश में लगा रहता है।
इस जगत में भ्रांति भर पैदा होती है कि चीजें हैं। इस जगत में कोई चीज क्षणभर भी वही नहीं है, जो थी। सब बदला चला जा रहा है। इस परिवर्तन को ऋषि ने कहा है, अनित्यता।
इस अनित्यता को कहने का कारण है, क्योंकि अगर हमें यह स्मरण आ जाए कि जगत का स्वभाव ही अनित्य है, तो हम जगत में कोई भी ठहरा हुआ मोह निर्मित न करें। अगर जगत का स्वभाव ही अनित्य है, अगर सब चीजें बदल ही जाती हैं, तो हम आग्रह छोड़ देंगे चीजों को ठहराए रखने का। जवान फिर यह आग्रह न करेगा कि मैं जवान ही बना रहूं, क्योंकि यह असंभव है। यह हो ही नहीं सकता। असल में जवानी सिर्फ बूढ़े होने की तरफ एक रास्ता है, और कुछ नहीं। जवानी सिर्फ बूढ़े होने की कोशिश है, और कुछ भी नहीं। जवानी बुढ़ापे के विपरीत नहीं, उसी की धारा का अंग है। दो कदम पहले की धारा है, बुढ़ापा दो कदम बाद की। उसी सरिता में जवानी का घाट भी आता है, उसी सरिता में बुढ़ापे का घाट भी आ जाता है।
अगर हमें यह ख्याल में आ जाए कि इस जगत में सभी चीजें प्रतिपल मर रही हैं, तो हम जीने का जो आग्रह है पागल, वह भी छोड़ दें। क्योंकि जिसे हम जन्म कहते हैं, वह मृत्यु का पहला कदम है। असल में जिसे मरना नहीं है, उसे जन्मना नहीं चाहिए। उसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। जन्मे, कि

मरेंगे। जन्मे, उसी दिन मरने की यात्रा शुरू हो गई। द फस्ट स्टेप हैज बीन टेकन। जन्म मृत्यु का पहला कदम है, मृत्यु जन्म का आखिरी कदम है। अगर इसे प्रवाह की तरह देखेंगे, तो कठिनाई न होगी। अगर स्थितियों की तरह देखेंगे, तो जन्म अलग है, मौत अलग है। जवानी अलग है, बुढ़ापा अलग है।
लेकिन ऋषि कहता है, जगत एक अनित्य प्रवाह है। यहां जन्म भी मृत्यु से जुड़ा है और जवानी भी बुढ़ापे से जुड़ी है। यहां सुख दुख से जुड़ा है। यहां प्रेम घृणा से जुड़ा है। यहां मित्रता शत्रुता से जुड़ी है। और जो भी चाहता है कि चीजों को ठहरा लूं, वह दुख और पीड़ा में पड़ जाता है।
आदमी की चिंता यही है कि जहां कुछ भी नहीं ठहरता, वहां वह ठहराने का आग्रह करता है। अगर मुझे यश है, तो मैं सोचता हूं, मेरा यश ठहर जाए। अगर मेरे पास धन है, तो मैं सोचता हूं, मेरे पास धन ठहर जाए। अगर मेरे पास जो भी है, मैं चाहता हूं वह ठहर जाए। अगर मुझे कोई प्रेम करता है, तो मैं चाहता हूं, यह प्रेम चिर हो जाए। सभी प्रेमी की यही आकांक्षा है कि प्रेम शाश्वत हो जाए। इसलिए सभी प्रेमी दुख में पड़ते हैं। क्योंकि इस जगत में कुछ भी शाश्वत नहीं हो सकता, प्रेम भी नहीं।
यहां सभी बदल जाता है। जगत का स्वभाव बदलाहट है। इसलिए जिसने भी चाहा
कि कोई चीज ठहर जाए, वह दुख में पड़ेगा। क्योंकि हमारी चाह से जगत नहीं चलता। जगत का अपना नियम है। वह अपने नियम से चलता है।
अब हम बैठ गए एक वृक्ष के नीचे और सोचने लगे कि यह हरी पत्ती सदा हरी
रह जाए, तो हम मुश्किल में पड़ेंगे, इसमें पत्ती का कोई कसूर नहीं। इसमें वृक्ष का कोई हाथ नहीं। इसमें जगत की व्यवस्था ने कुछ भी नहीं किया। हमारी चाह ही हमें दिक्कत में डाल देती है कि पत्ती सदा हरी रह जाए। पत्ती तो हरी है ही इसीलिए कि कल वह सूखेगी। उसका हरा होना सूखने की तरफ यात्रा है, सूखने की तैयारी है।
अगर हम हरी पत्ती में सूखी पत्ती को भी देख लें, तब हमें पता चलेगा कि जगत अनित्य है। अगर हम पैदा होते बच्चे में भी मरते हुए बूढ़े को देख लें, तब हमें पता चलेगा कि जगत अनित्य है। अगर हम जगते हुए प्रेम में उतरता हुआ प्रेम भी देख लें, तब हमें समझ में आएगा कि जगत अनित्य है। सब चीजें ऐसी ही हैं। लेकिन हम क्षण में जीते हैं, क्षण को देख लेते हैं और उसको थिर मान लेते हैं, आगे-पीछे को भूल जाते हैं। वह आगे-पीछे को भूल जाने से बड़ा कष्ट, बड़ी चिंता पैदा होती है।
हमारी चिंता, मनुष्य की चिंता का मूल आधार यही है कि जो रुक नहीं सकता, उसे हम रोकना चाहते हैं। जो बंध नहीं सकता, उसे हम बांधना चाहते हैं। जो बच नहीं सकता, उसे हम बचाना चाहते हैं। मृत्यु जिसका स्वभाव है, उसे हम अमृत देना चाहते हैं। बस, फिर हम चिंता में पड़ते हैं। एंग्जाइटी, चिंता यही है कि मैं जिसे प्रेम करता हूं, वह प्रेम कल भी ठहरेगा या नहीं! कल जिसे मैंने प्रेम किया था, वह आज बचा है कि नहीं बचा! कल जिसने मुझे आदर दिया था, वह आज भी मुझे आदर देगा कि नहीं देगा! कल जिन्होंने मुझे भला माना था, वे आज भी मुझे भला मानेंगे कि नहीं मानेंगे! बस, चिंता यही है।
इसलिए जब-जब दुनिया में पदार्थवाद का आग्रह बढ़ जाता है, तो चिंता बढ़ जाती है। पश्चिम अगर आज ज्यादा चिंतित है पूरब की बजाय, तो उसका और कोई कारण नहीं है।
पूरब में परेशानी ज्यादा है--भूख है, गरीबी है, अकाल है, बाढ़ है, सब है। पश्चिम में अकाल भी खो गया, बीमारी भी कम हो गई, उम्र भी लंबी मालूम पड़ती है, धन भी ज्यादा है, सुविधा भी है, स्वास्थ्य भी है, लेकिन चिंता ज्यादा है। होना तो यही चाहिए था कि पश्चिम में चिंता कम हो जाती, पूरब में चिंता ज्यादा होती। गणित से तो यही लगता है कि ऐसा होना चाहिए था। भुखमरी नहीं रही, बीमारी नहीं रही, सुविधा हो गई। कोई आदमी काम न करे, तो भी जी सकता है। बीस-पच्चीस साल बाद पश्चिम में कोई काम नहीं करेगा, क्योंकि सारे यंत्र आटोमेटिक हुए चले जाते हैं। और प्रत्येक मुल्क, जहां आटोमेटिक यंत्र काम करने लगेंगे, अपने विधान में यह नियम बना लेगा, जैसा हम कहते हैं कि स्वतंत्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है, ठीक बीस साल के भीतर पश्चिम के विधानों में, कांस्टीट्यूशंस में यह सूत्र आ जाएगा कि धन प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है बिना श्रम के। तो

जन्मसिद्ध अधिकार होना भी चाहिए! जब धन बहुत होगा, तो उसका क्या मतलब है? और जब धन मशीनें पैदा कर देंगी, तो आदमी बिना श्रम के धन पा सके, यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो जाने वाला है।
लेकिन चिंता बढ़ती चली जाती है। और मैं मानता हूं, जिस दिन मशीनें सारा काम ले लेंगी, उस दिन आदमी इस मुश्किल में पड़ जाएगा--कम से कम पश्चिम में-- कि उस आदमी को बचाना मुश्किल हो जाएगा। कारण क्या है? कारण एक है कि पश्चिम की दृष्टि पदार्थ पर है, और वह सोचता है कि पदार्थ के जगत में थिरता मिल जाए। वह थिरता मिल नहीं सकती। वह मिल नहीं सकती, वह असंभव है।
ऋषि कहते हैं, जगत अनित्य है। इसलिए जगत में नित्य को बनाने की चेष्टा पागलपन है। अनित्यता की स्वीकृति समझ है, प्रज्ञा है। और जो व्यक्ति यह जान ले कि जगत अनित्य है, जान ले, सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; अनुभव की पाठशाला से सीख ले कि जगत अनित्य है... । और चारों तरफ पाठशाला खुली है। सब तरफ अनित्यता है और आदमी अदभुत है कि वह नित्य मानकर जी रहा है। कुछ भी नहीं बचता, सब बदल जाता है। फिर भी अंधापन अदभुत है। आंखें हम बंद किए बैठे हैं। जहां चारों तरफ प्रवाह चल रहा है, वहां हम सपने संजोए बैठे हैं बीच में कि सब बच रहेगा, सब बच रहेगा। ऋषि कहता है, आंख खोलो और तथ्य को देखो।
जगत अनित्य है। उसमें जिसने जन्म लिया, वह स्वप्न के संसार जैसा है। स्वप्न और जगत को साथ-साथ रखना भारतीय मनीषा की खोजों में से एक है। दुनिया में किसी ने भी कहने की ठीक-ठीक हिम्मत नहीं की है कि जगत स्वप्नवत है--जस्ट ए ड्रीम। कहना मुश्किल भी है। कोई भी बता सकता है कि गलत कह रहे हैं आप। एक पत्थर उठाकर आपकी खोपड़ी पर मार दे, तो पता चल जाएगा कि जगत स्वप्नवत नहीं है। इसके लिए कोई बहुत तर्क देने की जरूरत नहीं है। एक पत्थर उठाकर खोपड़ी पर मार देना जरूरी है कि जो आदमी कह रहा था, जगत स्वप्नवत है, वह लट्ठ लेकर आ जाएगा कि आप यह... । खून बहने लगेगा, खोपड़ी में दर्द शुरू हो जाएगा। अगर जगत स्वप्नवत है, तो क्यों परेशान हो रहे हैं? बड़े हिम्मतवर लोग थे, जिन्होंने कहा, जगत स्वप्नवत है। और कहा तो कुछ जानकर कहा।
दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिए। पहली बात तो यह कि स्वप्नवत जब
हम किसी चीज को कहते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि जो नहीं है। यह गलत है। स्वप्न भी है--ऐ.ज मच ऐ.ज एनीथिंग। स्वप्न भी है, स्वप्न का भी अस्तित्व है, स्वप्न एक्झिस्टेंशियल है। स्वप्न नहीं है, ऐसा नहीं, स्वप्न भी है। स्वप्न का भी स्थान है। स्वप्न का भी होना है। स्वप्न का नान-एक्झिस्टेंस नहीं है, उसका अन-अस्तित्व नहीं है, वह भी है।
और स्वप्न की एक खूबी है कि जब वह होता है, तो प्रतीत होता है कि सत्य है। स्वप्न का स्वभाव है कि जब होता है, तो प्रतीत होता है कि सत्य है। कभी आपको स्वप्न में पता चला कि जो मैं देख रहा हूं, वह स्वप्न है? अगर किसी दिन आपको पता चल जाए, तो आप ऋषि हो गए। स्वप्न में पता चलता है कि जो मैं देख रहा हूं, वह सत्य है। हां, स्वप्न टूट जाता है, तब पता चलता है कि वह स्वप्न था। स्वप्न के भीतर कभी पता नहीं चलता कि वह स्वप्न है। अगर पता चल जाए, तो स्वप्न उसी वक्त टूट जाएगा। अगर पता चल जाए, तो स्वप्न उसी वक्त टूट जाएगा। स्वप्न के चलने की अनिवार्य शर्त यही है कि आपको पता चले कि जो आप देख रहे हैं, वह सत्य है। नहीं तो स्वप्न नहीं चल सकता। स्वप्न का प्राण इसमें है कि जो है, वह सत्य है।
जब आप रात स्वप्न देखते हैं--बड़े एब्सर्ड सपने आदमी देखते हैं--बड़े बेहूदे स्वप्न, लेकिन फिर भी शक नहीं आता।
लियो टाल्सटाय ने लिखा है कि मैं एक ही सपना हजार दफे कम से कम देख चुका। जागता हूं, तब मैं कहता हूं, कैसा बेहूदा! यह हो कैसे सकता है! लेकिन जब मैं फिर सोता हूं, फिर किसी दिन वही सपना देखता हूं, तो सपने में बिल्कुल याद नहीं रहता। सपने में बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है।
लियो टाल्सटाय ने लिखा है कि मैं एक सपना देखता हूं कि एक बड़ा रेगिस्तान है। और यही सपना बार-बार दोहरता है। उस रेगिस्तान में दो जूते चलते चले जा रहे हैं--सिर्फ जूते! पैर नहीं हैं, आदमी नहीं है! और टाल्सटाय कहता है, मैं इतनी दफे देख चुका हूं यह, फिर भी जब देखता हूं, तो वह शक भी नहीं पैदा होता, नो डाउट--बिल्कुल ठीक लगता है कि जूते चल रहे हैं। सुबह

जागकर बड़ी बेचैनी होती है कि ये जूते चल कैसे सकते हैं, जब आदमी भीतर नहीं है। और मन में बहुत घबड़ाहट भी होती है कि यह मामला क्या है? यह स्वप्न बार-बार दोहरता क्यों है? और वे चलते ही चले जाते हैं, और अंतहीन रेगिस्तान है और वे दो जूते हैं, और कोई भी नहीं है। और वे चलते ही चले जाते हैं। तो टाल्सटाय जब बिल्कुल घबड़ा जाता है, घबड़ा जाता है उनको देख-देखकर, तो नींद टूट जाती है। बहुत बार देखने के बाद भी जब फिर देखता है, तो फिर वह सत्य ही मालूम होता है।
जब स्वप्न में आप होते हैं, तो स्वप्न नहीं होता वह, वह सत्य ही होता है। और अगर आपको स्मरण आ जाए कि यह स्वप्न है, उसी क्षण फिल्म टूट जाएगी। सफेद पर्दा हो जाएगा। आप बाहर आ गए। जागकर सुबह पता चलता है कि वह स्वप्न था।
लेकिन ऋषि कहते हैं कि वह छोड़ो, वह तो स्वप्न था ही--जागकर सुबह जो दिखाई पड़ता है, वह भी स्वप्नवत है। हम कहते हैं, यह तो कम से कम मत कहो। यह तो काफी सच मालूम पड़ता है। यह मकान, यह परिवार, यह मित्र, यह पत्नी, यह बेटे, यह धन--यह सब एकदम सत्य मालूम पड़ता है। इसको तो स्वप्न मत कहो!
लेकिन ऋषि कहते हैं, एक और जागरण है--विवेक लभ्यम्--वह जो विवेक से उपलब्ध होता है। एनादर अवेकनिंग; एक और जागरण है। जब तुम उसमें जागोगे, तब तुम पाओगे कि वह जो तुम जागकर देख रहे थे, वह भी एक स्वप्न था।
स्वप्न स्वप्न है, यह जानने के लिए अवस्था बदलनी चाहिए, तभी तो कंपेरिजन, तुलना हो सकती है। रात सपना देखते हैं, सत्य मालूम होता है; सुबह जागकर पता चलता है, असत्य था। सुबह जागकर जिसे देखते हैं, ऋषि कहते हैं, हम एक और जागरण तुम्हें बताते है, वहां जागकर तुम्हें पता चलेगा, वह भी स्वप्नवत था।
स्वप्नवत कहने का अर्थ है, एक तुलना। यह नहीं है इसका मतलब कि सिर में लट्ठ मार देंगे, तो नहीं फूटेगा, खून नहीं बहेगा। सपने में भी सिर में लट्ठ मारने से सिर टूट जाता है और खून बहता है--सपने में भी। सपने में भी कोई छाती पर चढ़ जाता है, छुरा भोंकने लगता है, तो छाती कंपने लगती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, हृदय धड़कने लगता है और सपने से जागने के बाद भी थोड़ी देर तक धड़कता रहता है। पता भी चल जाता है कि यह सब सपना था, कोई छाती पर चढ़ा नहीं, तकिया ही रखे हुए थे अपना। जाग गए हैं, लेकिन अभी भी हृदय की धड़कन तेज है और खून की गति तेज है, रक्तचाप बढ़ा हुआ है। सपने में कोई मर गया था--रो रहे थे जार-जार होकर। सपना टूट गया, पता चल गया कि जो मर गया वह सपने में था, लेकिन आंखें अभी भी आंसू बहाए चली जाती हैं।
इतना गहरा घुस जाता है सपना भी! लेकिन पता चलता है अवस्था-परिवर्तन पर, नहीं तो पता नहीं चलता। तुलना चाहिए पता चलने के लिए।
आइंस्टीन कहा करता था मजाक में कि सारा जगत रिलेटिव--मजाक में तो कहता
ही था, उसका अनुभव भी यही था--कि जगत एक रिलेटिविटी है, एक तुलना है। जब भी आप कुछ कहते हैं, तो उसका अर्थ है तुलना। सीधी कोई बात नहीं कही जा सकती है। आप कहते हैं, फलां आदमी लंबा है। इसका कोई मतलब नहीं है, जब तक आप यह नहीं बताते, किससे लंबा। यह बिल्कुल बेमानी है, इस वक्तव्य में कोई अर्थ नहीं हैं। आप कहते हैं, फलां आदमी गोरा है। यह वक्तव्य बिल्कुल बेकार है, जब तक आप यह नहीं बताते, किससे।
मुल्ला नसरुद्दीन निकल रहा है रास्ते से। एक मित्र मिल गया है। उसने पूछा कि ठीक तो हो नसरुद्दीन? तो नसरुद्दीन ने पूछा, विद हूम इन कंपेरिजन? किसकी तुलना में? किस तुलना में पूछते हैं? वह आदमी तो हैरान हुआ, क्योंकि साधारण सा सवाल था सुबह का कि कैसे हैं! कहना था, अच्छा हूं। लेकिन नसरुद्दीन ने कहा, किसकी तुलना में? क्योंकि गांव में मुझसे भी ज्यादा अच्छी हालत में लोग हैं, मुझसे भी बुरी हालत में लोग हैं, पूछ किसकी तुलना में रहे हो?
सारे वक्तव्य इस जगत में तुलनात्मक हैं, रिलेटिव हैं, सापेक्ष हैं।
जब हम कहते हैं, यह आदमी मर गया, तब भी असल में हमें पूछना चाहिए, किस हिसाब से? क्योंकि मुर्दे के भी नाखून बढ़ते हैं और बाल बड़े होते हैं। कब्र में रखे हुए मुर्दे के नाखून बड़े हो जाते हैं और बाल बड़े हो जाते हैं। सिर घुटाकर रखो, तो फिर बाल बढ़ जाते हैं। अगर बाल बढ़ने को कोई जीवन का लक्षण

समझता हो, तो यह आदमी मरा नहीं है अभी। अगर आप सोचते हों कि इसके शरीर में प्राण हो, तो मरा हुआ नहीं है।
एक-एक आदमी के शरीर में कोई सात करोड़ जीवाणु हैं। जब आप मरते हैं, तो जीवाणुओं की संख्या एकदम बढ़ जाती है। अगर उनके प्राण का हम हिसाब रखें, तो यह आदमी अब और भी ज्यादा जीवन से भरा है, जितना पहले था। पहले सात ही करोड़ थे, मरते से ही सड़ना शुरू होता है, जीवाणु और बढ़ जाते हैं। अगर हम उन जीवाणुओं से पूछें कि तुम जिस बस्ती में रहते थे, वह मर गई? तो वे कहेंगे, क्या कह रहे हैं! बढ़ गई, मर नहीं गई। संख्या बढ़ रही है जीवन की। उन कोष्ठों को, जो आपके भीतर हैं, उनको आपका तो पता ही नहीं है।
गुरजिएफ एक बहुत अदभुत बात कहा करता था। वह कहता था, यह हो सकता है कि जैसे हमारे शरीर में सात करोड़ कोष्ठ, जीवित कोष्ठ बसे हुए हैं और उन्हें हमारा कोई पता नहीं, ऐसा हो सकता है कि मनुष्य का पूरा समाज भी किसी और एक वृहत्तर शरीर में सिर्फ एक जीव-कोष्ठ की तरह बसा हो और हमें उसका कोई पता नहीं। इसकी संभावना हो सकती है।
गुरजिएफ यह भी कहता था--और वह बहुत समझदार लोगों में एक था इन पचास सालों में--वह यह भी कहता था, यह भी हो सकता है कि जैसे जीव-कोष्ठ हमारे भीतर बसा है, तो वी आर जस्ट फूड टु दोज सेल्स, वह जो हमारे भीतर कोष्ठ हैं, उनके लिए हम भोजन से ज्यादा नहीं हैं। हम उनके लिए क्या हैं, सिर्फ भोजन। वे हमारा भोजन करते हैं और जीते हैं। गुरजिएफ कहता था, यह हो सकता है कि हम इस पृथ्वी पर जहां बसे हुए हैं--और इस पृथ्वी को हम भोजन से ज्यादा तो कुछ समझते नहीं--हो सकता है, हम सिर्फ एक पृथ्वी की बड़ी काया के शरीर में जीव-कोष्ठ हों और हमें इस पृथ्वी की आत्मा का कोई भी पता न हो, और हमें इस पृथ्वी के व्यक्तित्व का और चेतना का कोई भी पता न हो।
गुरजिएफ यह भी कहता था कि हर चीज किसी के लिए भोजन होती है, तो आदमी के साथ अपवाद क्यों हो? हर चीज किसी के लिए भोजन है, आदमी भी किसी का भोजन होना चाहिए। तो वह तो बहुत मजेदार बात कहता था। वह कहता था, आदमी चांद का भोजन है। इधर जब आदमी मरता है, तो हम समझते हैं मर गया, सिर्फ चांद उसका भोजन कर लेता है।
वह तो मजाक में कहता था। लेकिन यह बात सच है, हो सकती है, क्योंकि इस जगत में सभी चीज भोजन है। एक फल लगता है वृक्ष पर, आपका भोजन बन जाता है। एक जानवर दूसरे जानवर का भोजन कर लेता है। तो आदमी किसी और वृहत्तर जीवन का भोजन तो नहीं है?
किस हिसाब से हम कह रहे हैं, इस पर सब निर्भर करेगा। सारे वक्तव्य सापेक्ष हैं। इस सापेक्षता से भरे हुए जगत में कोई चीज नित्य नहीं हो सकती, ऐब्सल्यूट नहीं हो सकती। सब बदलता हुआ है।
आइंस्टीन कहता था कि अगर हम सारे के सारे लोग एक साथ लंबे हो जाएं, सारी चीजें एक साथ लंबी हो जाएं, मैं छह फीट का हूं, मैं जिस वृक्ष के पास खड़ा हूं, वह साठ फीट का है, मैं बारह फीट का हो जाऊं, वृक्ष एक सौ बीस फीट का हो जाए, पहाड़ भी दुगना लंबा हो जाए, आसपास जितना है, वह सब एक क्षण में दुगना हो जाए किसी जादू के असर से, तो किसी को भी पता नहीं चलेगा कि कुछ भी बदलाहट हो गई। क्योंकि अनुपात थिर रहेगा, प्रपोर्शन पुराना रहेगा। पता ही नहीं चलेगा। पता इसलिए चल सकता है कि मैं लंबा हो जाऊं और वृक्ष उतना ही रहे, पहाड़ उतना ही रहे, पास में खड़ा हुआ आदमी उतना ही रहे। तो पता चलेगा, नहीं तो पता नहीं चलेगा। पता ही चलता है इसलिए कि अनुपात डांवाडोल हो जाता है, नहीं तो पता नहीं चलता।
हमारे बीच जो लोग जाग जाते हैं विवेक में, उनको पता चलता है। बड़ी अड़चन
हो जाती है उन्हें कि ये सारे लोग सोए हुए चल रहे हैं, सपने में जी रहे हैं। मगर उन्हें पता चलता है, हमें पता नहीं चलता। हम सब सपने में एक से ही जी रहे हैं। इसलिए हमारे बीच जब भी कोई व्यक्ति जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी पैदा होती है। हम घसीट-घसीटकर उसको भी सुलाने की पूरी कोशिश करते हैं कि तुम भी सो जाओ। हम उसे भी समझाते हैं कि सपने बड़े मधुर हैं, बड़े मीठे हैं। बुद्ध घर छोड़कर गए, तो अपने पिता का राज्य छोड़कर चले गए। क्योंकि पिता
के राज्य में उपद्रव होगा, आज नहीं कल पीछा किया जाएगा। तो वे पड़ोसी के राज्य में चले गए। पड़ोसी सम्राट को पता चला कि मित्र का बेटा संन्यासी हो

गया है, उसे बड़ी पीड़ा हुई। वह खोज-पता लगाकर आया। वह बुद्ध के पास बैठा और उसने कहा कि देखो, अभी तुम जवान हो, अभी तुम्हें जीवन का अनुभव नहीं। यह तुम क्या पागलपन कर रहे हो? कोई फिक्र नहीं, अगर पिता से नाराज हो या कोई और अड़चन है, मेरे घर चलो। अपनी बेटी से तुम्हारा विवाह किए देता हूं और आधा राज्य दिए देता हूं।
बुद्ध ने कहा, मैं यही सोचकर वहां से भागा कि कोई मेरा पीछा न करे। आप यहां भी मौजूद हैं। जैसा कि कहना चाहिए था, उस वृद्ध को, उसने कहा, तू अभी नासमझ है, अभी तुझे जिंदगी का कोई पता नहीं है। वापस लौट चल।
बुद्ध जहां-जहां गए, वहीं पीछा किया गया। कोई न कोई समझदार जरूर आ जाता और कहता कि चलो, सो जाओ। हम इंतजाम किए देते हैं।
जब भी कोई आदमी जागने की दिशा में चलेगा, चारों तरफ से पंजे पड़ जाएंगे, आक्टोपस की तरह। सब तरफ से हाथ उसको पकड़ने लगेंगे कि सो जाओ। सब तरह के प्रलोभन इकट्ठे हो जाएंगे, वे कहेंगे, सो जाओ। क्योंकि जब भी कोई आदमी हमारे बीच जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी होती है, क्योंकि वह नई वैल्यूज, नए मूल्य हमारे बीच उतारना शुरू कर देता है। वह कहता है, तुम सपने में हो। वह कहता है, तुम सोए हो। वह कहता है, तुम होश में नहीं हो। वह कहता है, यह अनित्य है संसार। यह सब खो जाने वाला है। यह सब मिट जाने वाला है।
अब कोई आदमी, जो मकान बना रहा है, उससे कहो अनित्य है यह संसार, तो उसकी जान निकाले ले रहे हो। वह मानने को राजी नहीं हो सकता कि जो इतने खंडहर पड़े हैं, ऐसा ही उसका मकान भी किसी दिन खंडहर की तरह पड़ा रह जाएगा। वह मानने को राजी नहीं हो सकता।
मैं पिछले दो-तीन वर्ष पहले मांडू में था। एक साधना-शिविर था वहां। पूछा तो पता चला कि मांडू की आबादी सिर्फ छह सौ साल पहले सात लाख थी; और अब, मोटर स्टैंड पर जो तख्ती लगी है, उसमें नौ सौ तेरह। मैं बहुत हैरान हुआ। सात लाख की आबादी का नगर, और सात लाख की आबादी के खंडहर फैले पड़े हैं। एक-एक मस्जिद है, जिसमें दस-दस हजार लोग एक साथ नमाज पढ़ सकें। आज तो दस आदमी भी पढ़ने वाले नहीं हैं। इतनी बड़ी धर्मशालाएं हैं कि दस-दस हजार लोग इकट्ठे ठहर सकें। नौ सौ तेरह आदमी उस बस्ती में हैं! चारों तरफ खंडहर फैले हुए हैं, लेकिन जो आदमी उस बस्ती में अपना झोपड़ा बना रहा है, वह नहीं देखता कि पीछे बड़े भारी महल का खंडहर पड़ा है। वह इस झोपड़े को इसी रस से बना रहा है कि सदा बना रहेगा।
जागा हुआ आदमी आपको वे बातें याद दिलाने लगता है, जो दुखद मालूम पड़ती हैं। दुखद इसलिए मालूम पड़ती हैं कि उन बातों को समझकर आप जैसे जीते थे, वैसे ही जी नहीं सकते। आपको अपने को बदलना ही पड़ेगा। और बदलाहट कष्ट देती मालूम पड़ती है। हम बदलना नहीं चाहते। हम जैसे हैं, वैसे ही रहना चाहते हैं। क्योंकि बदलने में श्रम पड़ता है और जैसे हैं, वैसे बने रहने में कोई श्रम नहीं है।
ऋषि कहते हैं, जगत अनित्य है। उसमें जिसने जन्म लिया, वह स्वप्न में जन्म लिया, स्वप्न के संसार जैसा, आकाश के हाथी जैसा।
जैसे कभी आकाश में बादल घिर जाते हैं, आप जो चाहें, बादल में बना लें, चाहे हाथी देख लें। छोटे बच्चे चांद में देखते रहते हैं, बुढ़िया चर्खा कात रही है। आपकी मर्जी, आप जो प्रोजेक्ट कर लें। चाहें तो आकाश में रथ चलते देखें, हाथी देखें, सुंदरियां देखें, अप्सराएं देखें, जो आपको देखना हो। बादलों में कुछ भी नहीं है। आपकी आंखों में सब कुछ है। बादल तो सिर्फ निपट बादल हैं। आप उनमें जो भी बना लें।
पश्चिम में मनोविज्ञान ने इस प्रोजेक्शन, इस प्रक्षेपण के बाबत बहुत
सी नई खोजें की हैं। मनोविज्ञान को जो थोड़ा भी समझते हैं, उन्होंने अगर मनोविज्ञान की किताबें देखी हों, तो वहां स्याही के कई धब्बे भी चित्रों में देखे होंगे। मनोवैज्ञानिक उन धब्बों का उपयोग करते हैं। वे लोगों को-- सिर्फ स्याही के धब्बे, जिनमें कुछ नहीं है, कुछ बनाए नहीं गए, सिर्फ स्याही के धब्बे हैं, जैसे कि ब्लाटिंग पेपर पर बन जाते हैं--वह दे देते हैं मरीज को और उससे कहते हैं, देखो इसमें किसका चित्र है! मरीज उसमें कोई चित्र खोज लेता है। तो वह उसकी खोज मरीज के बाबत खबर देती है, वह चित्र कुछ नहीं है।

कहते हैं, मुल्ला नसरुद्दीन भी एक मनोवैज्ञानिक के पास गया। मन बेचैन था, अशांत था। सलाह लेने गया था। तो मनोवैज्ञानिक ने जानना चाहा कि उसकी बेचैनी, अशांति जिस मन से पैदा हो रही है, उसके बीज क्या हैं। तो उसने उसे कई धब्बों के चित्र दिए। एक धब्बे का चित्र दिया, कहा कि जरा गौर से देखो, क्या दिखाई पड़ता है? उसने कहा, एक स्त्री मालूम पड़ती है। रखो। मनोवैज्ञानिक उत्सुक हो गया, क्योंकि रस्ते पर बात पकड़ गई। क्योंकि आदमी की अधिक बीमारी स्त्री, स्त्री की अधिक बीमारी पुरुष। और तो कोई ज्यादा बीमारियां नहीं हैं। पकड़ गया, रस्ते पर है आदमी, ठीक जवाब दिया है।
दूसरा ब्लाटिंग पेपर दिया धब्बों वाला। पूछा, क्या है? उसने कहा कि अरे, यह स्त्री तो बिल्कुल नग्न मालूम पड़ती है। मनोवैज्ञानिक... बिल्कुल ट्रेक पर है आदमी, जल्दी रस्ता निकल आएगा। तीसरा दिया। कहा, क्या मालूम पड़ता है? नसरुद्दीन ने कहा, क्या कहना पड़ेगा? यह स्त्री कुछ न कुछ गड़बड़ काम कर रही है--समथिंग नैस्टी।
मनोवैज्ञानिक ने कहा कि तुम्हारी बीमारी पकड़ में आ गई। तुम्हारे दिमाग में क्या चल रहा है, वह मुझे पता चल गया। नसरुद्दीन ने कहा, मेरे दिमाग में? ये चित्र तुम्हारे हैं कि मेरे? ये तुमने बनाए हैं कि मैंने? तुम्हारा दिमाग खराब मालूम पड़ता है। नसरुद्दीन ने कहा कि आज तो मैं जल्दी में हूं, कल फिर आऊंगा। लेकिन, कैन यू लेंड मी दी.ज पिक्चर्स फार ए डे? क्या एक दिन के लिए दे सकते हो उधार? जरा रात को देखेंगे और मजा लेंगे।
आकाश में देखे गए हाथियों जैसा है यह संसार। खाली बादल हैं, स्याही के धब्बे, उनमें जो हम देखना चाहें, वह देख लेते हैं। जो हमें दिखाई पड़ता है, वह है नहीं। वह हम देखते हैं। वह हम अपने ही भीतर से फैलाते हैं। वह हमारे ही मन का फैलाव है। और हम पर ही निर्भर है सब।
जिस जगत में हम रहते हैं, वह हमारी सृष्टि है, हमारा सृजन है। और हमें
उस जगत का तो कोई पता ही नहीं है, जो हमारे मन के पार, हम से भिन्न, हमारे सृजन के बाहर है। वह तो केवल उसे ही पता चलता है, जिसका मन मिट जाता है। क्योंकि जब तक मन है, तब तक प्रोजेक्टर है। वह भीतर से काम करता रहता है। एक व्यक्ति के चेहरे में आप सौंदर्य देख लेते हैं। आपको पता है, उसी
के चेहरे में कुरूपता देखने वाले लोग मौजूद हैं? एक व्यक्ति में आप सब गुण देख लेते हैं। और आपको पता है कि उसके भी दुश्मन हैं और सब दुर्गुण देखने वाले मौजूद हैं? जो आप देख रहे हैं, वह व्यक्ति तो सिर्फ निमित्त है, आकाश के बादलों जैसा, जो आप देख रहे हैं वह आपका फैलाव है। फिर रोज दुख होता है, क्योंकि वह व्यक्ति जैसा है वैसा ही है। आपके फैलाव के अनुसार जी नहीं सकता। अब आपने कुछ मान रखा है, वह आज नहीं कल टूटेगा। फिर झंझट शुरू होगी। आप एक्सपेक्टेशंस बना लेते हैं।
एक आदमी मुस्कुराकर मेरे पास आता है, प्रशंसा की बातें कहता है। मैं सोचता हूं, बहुत भला आदमी है। फिर रात को वह मेरे पैसे लेकर नदारद हो जाता है। मैं सोचता हूं कि एक भला आदमी और ऐसा काम क्यों किया? अब उसकी मुस्कुराहट, उसकी प्रशंसा पर मैंने कुछ आरोपित कर लिया। वह आरोपित की अपेक्षा शुरू हो गई। उस आदमी से मैं अपेक्षा नहीं करता कि वह चोरी करेगा। चोरी वह आदमी करेगा, वह उस आदमी के भीतर की बात है कि वह क्या करेगा। बादल में आपने हाथी देखा, कितनी देर तक वह हाथी रहेगा, कहना मुश्किल है। थोड़ी देर में बादल बिखरेगा, कुछ और बन जाएगा। तब आप रोते-चिल्लाते नहीं रहेंगे कि मैंने तो हाथी देखा था, यह बहुत धोखा हो गया।
सब हमारी अपेक्षाएं हमें धोखे में डाल देती हैं। क्योंकि वह आदमी तो वही है, जो है। हम कुछ सोच लेते हैं। और फिर हम परेशानी में पड़ते हैं, क्योंकि वैसा वह सिद्ध नहीं होता। इसलिए जब तक मन है, तब तक हमें गलत आदमी ही मिलते रहेंगे, क्योंकि हम गलत देखते ही रहेंगे। हम वह देखते रहेंगे, जो वहां है ही नहीं।
यह जो हम जाल फैला लेते हैं चित्त का, यही हमारा स्वप्नवत संसार है।
मन संसार है। मन के पार उठ जाना संसार के पार उठ जाना है। मन स्वप्न है। मन के पार उठ जाना स्वप्न के पार उठ जाना है।

वैसे ही यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त है। यह सब रस्सी में भ्रांति से कल्पित किए गए सर्प के समान मिथ्या है। तद्रज्जुस्वप्नवत कल्पितम्।
जैसे राह पर पड़ी हो रस्सी और कोई सांप देख ले। कठिन नहीं है सांप देखना रस्सी में। भयभीत आदमी तत्काल देख लेता है। भयभीत आदमी सांप के लिए तैयार रहता है कि कहीं दिख जाए। रस्सी दिखी कि वह भागा। लेकिन रस्सी में भी सांप दिखे, तो दौड़ तो लगवा ही देता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पसीना तो छूट ही जाता है। छाती तो धड़कने ही लगती है। घबड़ाहट तो फैल ही जाती है। हाथ-पैर तो कंपने ही लगते हैं। रस्सी में देखा गया सांप भी काम तो वही कर देता है, जो असली सांप करता है। क्या फर्क है?
कोई फर्क नहीं है, जहां तक आपका संबंध है। रस्सी का जहां तक संबंध है, वहां तक रस्सी बेचैन हो सकती है कि यह आदमी कैसा है, देखकर भाग रहा है। हम सिर्फ रस्सी हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन गांव के बाहर जा रहा था। मित्रों ने कहा, उस रास्ते
से न गुजरो। वहां डाकेजनी चलती है। रास्ता निर्जन हो गया है। और कोई जाता नहीं। लेकिन जाना जरूरी था। काम कुछ ऐसा था कि मुल्ला ने कहा, जाना तो पड़ेगा ही। लेकिन ज्यादा मैं कुछ लेकर नहीं जा रहा हूं। मैं और मेरा गधा, हम दोनों जा रहे हैं। पर उन लोगों ने कहा कि गधा भी छीना जा सकता है। तो मित्र ने एक तलवार दे दी कि तुम तलवार ले जाओ। कोई मौका आ जाए, काम पड़ जाए। नसरुद्दीन तलवार लेकर चले। डरे हुए तो थे ही कि कोई गधा न छीन ले। इसका आदमी को डर कम होता है कि खुद न मर जाए। इसका ज्यादा डर होता है कि उसका गधा न छिन जाए, मकान न छिन जाए, धन न छिन जाए। यह न हो जाए, वह न हो जाए। खुद के खोने का इतना डर नहीं होता, क्योंकि खुद की कीमत का कोई पता नहीं होता। मकान की कीमत का पक्का पता है, गधे की कीमत का पक्का पता है। नसरुद्दीन अपनी नंगी तलवार लिए हुए बिल्कुल तैयार कि जैसे ही कोई हमला करे... । देखा कि दूर से एक आदमी चला आ रहा है। समझ गया कि अब आई मुसीबत। रास्ता निर्जन है, कोई राहगीर निकलता नहीं। तो राहगीर तो हो नहीं सकता, डाकू ही हो सकता है। नसरुद्दीन के हाथ में नंगी तलवार देखकर उस आदमी ने भी अपनी तलवार खींचकर निकाल ली, क्योंकि वह भी डरा हुआ था। गांव वालों ने उससे भी कहा था कि तलवार ले जा, रास्ता खतरनाक है, निर्जन है। जब उसने तलवार निकाली, नसरुद्दीन ने कहा, भाई, ठहर! मुझ पर दो चीजें हैं, यह गधा है और तलवार है। क्या तू चाहता है, लूट ले। हम खुद ही तुझे दिए देते हैं। उस आदमी ने सोचा कि... उसने सोचा कि मुफ्त कुछ मिल रहा है, तो उसने सोचा, तलवार महंगी चीज है। कहा, गधा तुम्हीं रखो, तलवार मुझे दे दो। उसने कहा, तुम तलवार ले लो।
नसरुद्दीन ने तलवार दे दी। काम करके जब घर वापस लौटे, तो मित्र ने कहा, ठीक रहा, कोई दिक्कत तो नहीं आई? नसरुद्दीन ने कहा, तलवार बड़ी काम आई। पूछा, तलवार कहां है? कहा, वह तो काम आ गई। वह आदमी गधा छीनने के लिए बिल्कुल तैयार था, तो मैंने तलवार उसको देकर अपना गधा बचा लिया। प्रोजेक्शंस हैं। चौबीस घंटे हम वह देख रहे हैं, जो हम देखना चाहते हैं। रस्सियों में सांप देख रहे हैं। और प्रोजेक्शन उलटे भी होते हैं। सांपों में भी रस्सी देखी जा सकती है। तुलसीदास की कहानी तो हम सबको पता है। ऐसा नहीं कि हम रस्सी में ही सांप देखते हैं, हम सांप में भी रस्सी देख लेते हैं। वक्त-वक्त की बात है। मन के प्रक्षेपण का सवाल है। और तुलसीदास भागे हुए चले जा रहे हैं पत्नी से मिलने। तीन दिन हो गए हैं, तीन दिन से नहीं मिले हैं, बड़े बेचैन हैं।
तो कथा कहती है कि नदी में उतर गए। बाढ़ की आई हुई नदी, वर्षा के दिन। एक लाश का सहारा लेकर, जो नदी में बह रही थी, पार हुए। यह सोचकर कि कोई लकड़ी का टुकड़ा बहा जा रहा है, इसके सहारे पार हो गए। लाश दिखाई न पड़ी होगी! पानी में सड़ गई लाश से दुर्गंध न आई होगी! पत्नी की सुगंध इतनी भरी होगी नाक में कि लाश की दुर्गंध बाहर रह गई होगी! पत्नी से मिलने की आतुरता इतनी तीव्र रही होगी कि क्या है हाथ में, इसे देखने की फुर्सत न मिली होगी! सामने के दरवाजे से तो जा न सकते थे, क्योंकि अभी तीन ही दिन तो पत्नी को अपने मायके

गए हुए थे, लोग क्या कहते? पीछे के रास्ते से मकान में घुसे। देखा रस्सी लटकी है। पकड़ा और चढ़ गए। वह रस्सी नहीं थी, सिर्फ सांप लटकता था।
लेकिन मन कल्पना करता ही है। कल्पना ही मन की क्षमता है। इसलिए मन से कभी सत्य नहीं जाना जा सकता, केवल कल्पनाएं ही की जा सकती हैं। इस मन के द्वारा जो भी हम जानते हैं, वह रस्सी में देखे गए सर्प की भांति है। इसलिए जो नहीं है, वह दिखाई पड़ता है। जो नहीं है, वह सुनाई पड़ता है। जो नहीं है, उसका स्पर्श होता है। और हम जीए चले जाते हैं अपने ही भ्रमों को पाल-पोसकर, अपने चारों तरफ अपना ही भ्रम-जाल खड़ा करके हम जीए चले जाते हैं। सत्य से हमारा कोई संबंध नहीं हो पाता।
ऋषि कहते हैं, संन्यासी तो उसकी खोज पर निकला है जो है, वह नहीं जो उसका मन कहता है, है। दो में से एक ही चुनना पड़े। अगर जो है, दैट व्हिच इ.ज, उसे जानना है, तो मन को छोड़ना पड़े। और अगर मन को पकड़ना है, तो कल्पनाओं के जाल के अतिरिक्त कुछ भी कभी नहीं जाना जाता।
विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है।
लक्ष्य है सत्य। उसे ही पाना है, जो है। क्योंकि जो है, उसे पाकर ही दुख का विसर्जन है, चिंता का अंत है, पीड़ा की समाप्ति है, दुख का निरोध है।
जो है, उसे जानकर ही मुक्ति है, स्वतंत्रता है। जो है, उसे जानकर ही सत्य के साथ ही अमृत का अनुभव है, मृत्यु की समाप्ति है।
लेकिन उसे जो है, उसके अनेक नाम हो सकते हैं। होंगे ही। बिना नाम दिए हमारी बात चलनी मुश्किल हो जाती है।
इसलिए ऋषि कहता है कि शताभिधान लक्ष्यम्।
वह जो अनंत-अनंत नाम वाला है, सैकड़ों नाम वाला है--कोई उसे ब्रह्म कहता, कोई उसे ब्रह्मा कहता, कोई उसे विष्णु कहता, कोई राम कहता, कोई रहीम कहता, कोई कुछ और कहता, कोई कुछ और कहता--वह जो सैकड़ों नाम वाला सत्य है।
नाम तो उसका कोई भी नहीं है, इसीलिए तो सैकड़ों नाम हो सकते हैं।
ध्यान रखें, अगर उसका कोई एक नाम हो, तो फिर सैकड़ों नाम नहीं हो सकते।
नाम उसका कोई भी नहीं है इसलिए कोई भी नाम से काम चल जाता है। वह तो अनाम है। लेकिन मनुष्यों ने अलग-अलग भाषाओं में, अलग-अलग युगों में, अलग-अलग अनुभवों में बहुत-बहुत नाम उसे दिए हैं। इंगित उनका एक है। इशारा एक है।
शब्द ही अलग-अलग हैं।
लेकिन बड़ा उपद्रव पैदा हुआ। बड़ा उपद्रव पैदा हुआ, क्योंकि नाम के आग्रह इतने गहन हो गए कि जिसका नाम था, उसकी हमें चिंता ही न रही। राम वाला उससे लड़ रहा है, जो कहता है, उसका नाम रहमान है। तलवारें चल जाती हैं। अल्लाह वाला उसकी हत्या कर रहा है, जो कहता है, उसका नाम भगवान है। असल में मन वाले लोग झूठे परमात्मा भी खड़े कर लेते हैं, रस्सी में सांप देखने लगते हैं, नाम में ही सत्य देखने लगते हैं।
नाम सिर्फ नाम है, इशारा है। और सब इशारे बेकार हो जाते हैं, जब वह दिख जाए, जिसकी तरफ इशारा है। अगर मैं उंगली उठाऊं और कहूं कि वह रहा चांद और आप मेरी उंगली पकड़ लें और कहें कि मिल गया चांद, तो वैसी झंझट हो जाएगी। उंगली बेकार है। इशारा पर्याप्त है। उंगली छोड़ दें, चांद को देखें। तो चांद को कोई देखता नहीं, उंगली पहले दिखाई पड़ती है। नाम पकड़ में आ जाते हैं।
लेकिन इस भूमि पर जिन्होंने जाना, उन्होंने बहुत पहले ही नामों के खतरे की घोषणा की। वह खतरा अभी भी दूसरे लोग नहीं समझ पाए। उन्होंने निरंतर यह कहा कि उसके सैकड़ों नाम हैं। सब नाम उसके हैं। सभी नाम उसके हैं। कोई भी नाम दे दो, चलेगा। कोई भी नाम पर्याप्त नहीं है और कोई भी नाम कामचलाऊ है, सहयोग दे सकता है।
यही वजह हुई कि हिंदू धर्म कन्वर्टिंग रिलीजन नहीं हो सका। यही वजह बनी कि हिंदू धर्म दूसरे धर्म के व्यक्ति को अपने धर्म में बदलने की चेष्टा से नहीं भर सका। कोई कारण नहीं था। क्योंकि जब सभी नाम उसके हैं, तो जो अल्लाह कहता है, वह भी वही कहता है, जो राम कहने वाला कहता है। जो कुरान से उसकी तरफ इशारा लेता है, वह भी वही इशारा लेता है, जो वेद से उसकी तरफ इशारा लेता है। इसलिए कुरान को प्रेम करने वाले को वेद के प्रेम की तरफ

लाने की नाहक चेष्टा व्यर्थ है। अगर कुरान काम कर रहा है, तो पर्याप्त है।
काम उसी का हो रहा है। अगर बाइबिल काम करती है, तो काम पर्याप्त है।
हिंदू-दृष्टि से ज्यादा उदार दृष्टि पृथ्वी पर पैदा नहीं हो सकी।
लेकिन वही हिंदुओं के लिए मुसीबत बन गई। बन ही जाने वाली थी। इस सोए हुए जगत में जागे हुए लोगों की बात अगर सोए हुए लोग उपयोग में लाएं, तो बहुत मुसीबत बन सकती है।
सभी नाम उसके हैं। कोई संघर्ष नहीं, कोई विरोध नहीं। सभी इशारों से काम चल जाएगा। ऋषि कहता है, ब्रह्म कहो, विष्णु कहो, शिव कहो, जो भी कहो, लक्ष्य वह एक है, जो है। उसे जानना है, जो परिवर्तित नहीं होता, जो शाश्वत है, नित्य है। जो कल भी वही था, आज भी वही है, कल भी वही होगा। जो न नया है, न पुराना है। क्योंकि जो नया है, वह कल पुराना पड़ जाएगा। जो पुराना है, वह कल नया था। जो परिवर्तित होता है, उसे हम कह सकते हैं--नया, पुराना। लेकिन जो नित्य है, वह न नया है, न पुराना। वह पुराना नहीं पड़ सकता, इसलिए उसे नया कहने का कोई अर्थ नहीं है। वह सिर्फ है।
वह जो है मात्र, उसे जानना ही लक्ष्य है। लेकिन उसे जानने के लिए वह जो
हम कल्पनाएं फैलाते हैं, उन्हें तोड़ देना पड़े, गिरा देना पड़े। हम सब भरी हुई आंखों से देखते हैं जगत को, खाली आंखों से देखना पड़े। हम सब भरे हुए मन से देखते हैं जगत को, खाली मन से देखना पड़े। हम धारणाएं लेकर पहुंचते हैं जगत के पास, विद कंसेप्शंस, और उन धारणाओं के पर्दे में से देखते हैं। फिर जगत वैसा ही दिखाई पड़ने लगता है, जैसा धारणाएं उसे बताती हैं कि वह है। अगर उसे देखना है--अस्तित्व को, सत्य को, जैसा है, तो शून्य होकर जाना पड़े, मौन होकर जाना पड़े। खाली होकर जाना पड़े, नग्न होकर जाना पड़े। सारे वस्त्र धारणाओं के त्याग कर देने पड़ें। सारे वस्त्र विचारों के अलग कर देने पड़ें। निर्विचार और मौन और शून्य जो खड़ा हो जाता है, वह सत्य के अनुभव को उपलब्ध हो जाता है--उस सत्य के, जो नित्य है, जो शाश्वत है, सनातन है।
और अंतिम सूत्र में ऋषि इसमें कहता है, अंकुशो मार्गः। और अंकुश ही मार्ग है।
किस बात पर अंकुश? इस मन पर--जो फैलाव करता है, जो प्रक्षेपण करता है--
इस पर अंकुश ही मार्ग है। इस मन को रोकना, इस मन को ठहराना, इस मन को न चलने देना, इस मन को गतिमान न होने देना, इस मन को सक्रिय न होने देना ही मार्ग है। बड़े छोटे सूत्रों में बड़ी अमृत सूचनाएं हैं।
अंकुशो मार्गः।
इतना छोटा सा, दो शब्दों का सूत्र। इस मन पर, यह जो स्वप्नों को जन्माने वाला हमारे भीतर छिपा हुआ मन है, इस पर अंकुश ही मार्ग है। धीरे- धीरे, धीरे-धीरे इस मन को विसर्जित कर देना ही सिद्धि है।
एक झेन फकीर हुआ लिंची। जब वह अपने गुरु के पास गया तो उसने कहा, मैं
मन को कैसा बनाऊं कि सत्य को जान सकूं? तो गुरु बहुत हंसने लगा। उसने कहा, मन को तू कैसा भी बना, सत्य को तू न जान सकेगा। तो उसने पूछा कि क्या मैं सत्य को जान ही न सकूंगा? गुरु ने कहा, यह मैंने नहीं कहा। सत्य को तू जान सकेगा, लेकिन कृपा कर मन को छोड़। नो माइंड इ.ज मेडिटेशन। मन का न हो जाना ध्यान है। तू मन को बनाने की कोशिश मत कर कि ऐसा बनाऊं, अच्छा बनाऊं, बुरा बनाऊं। यह रंग दूं, वह रंग दूं। साधु का बनाऊं, संत का बनाऊं। किसका मन बनाऊं?
मन से नहीं होगा, क्योंकि मन कैसा भी होगा, तो प्रक्षेपण करेगा। अच्छा
मन अच्छे प्रक्षेपण करेगा, बुरा मन बुरे प्रक्षेपण करेगा। लेकिन प्रक्षेपण जारी रहेगा। प्रोजेक्शन जारी रहेगा। मन ही न हो, तो हमारे और जगत के बीच, हमारे और सत्य के बीच जो-जो जाल है, वह तत्काल गिर जाता। हम वही देख पाते हैं, जो है।
जिसे मैं ध्यान कह रहा हूं, वह भी नो माइंड, अ-मन, वह भी मन को फेंक देना है, हटा देना है। अंकुशो मार्गः। अंकुश से ही यात्रा शुरू करनी पड़ेगी पहले तो, धीरे-धीरे, धीरे-धीरे। वृक्ष के पास खड़े हैं, वृक्ष को देखें सब धारणाओं को छोड़कर। न तो मन को कहने दें, बड़ा सुंदर है, क्योंकि वह पुरानी धारणा है, उसको बीच में मत आने दें। न मन को कहने दें कि यह क्या कुरूप सा

वृक्ष है। मन को न कहने दें। मन को कहें कि तू चुप रह, तू मौन रह, मुझे वृक्ष को देखने दे। तू बीच में मत आ।
बैठे हैं, धूप पड़ रही है। मन कहेगा, बड़ी तकलीफ हो रही है। मन को कहें कि
तू चुप रह। मुझे जरा धूप को अनुभव करने दे कि क्या हो रहा है। मन कहेगा, बड़ा आनंद आ रहा है धूप में। तो कहना, तू जरा चुप रह, तू बीच में मत आ। धूप और मुझे सीधा मिलने दे। और तब बड़े फर्क पड़ेंगे। तब धूप में एक और ही बात शुरू हो जाएगी। तब धूप जैसी है, वैसी ही अनुभव में आएगी। तब यह बीच में मन व्याख्या न करेगा।
ये सारी व्याख्याएं हैं। और एक दफा फैशन बदल जाए, तो व्याख्याएं बदल जाती हैं। अभी पूरब में सफेद चमड़ी का भारी मोह है कि सफेद चमड़ी बड़ी सुंदर चमड़ी है। पश्चिम में सफेद चमड़ी बहुत है। तो जो बहुत ज्यादा है, उसका मूल्य तो होता नहीं, न्यून का मूल्य होता है हर समय। जो कम है, उसका मूल्य होता है। तो पश्चिम में सुंदरी वह है, जो चमड़ी पर थोड़ी सी श्यामलता ले आए। तो सुंदरियां लेटी हैं समुद्रों के तट पर, धूप ले रही हैं। थोड़ा सा चमड़ी में श्यामवर्ण प्रवेश कर जाए। बड़ा कष्ट धूप में लेटकर उठा रही हैं। लेकिन कष्ट नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि मन कह रहा है, सौंदर्य पैदा हो रहा है, धूप से सौंदर्य आ रहा है।
जिस चीज में मन रस ले ले, वहां सौंदर्य मालूम पड़ने लगता है, सुख मालूम पड़ने लगता है। जिसमें विरस हो जाए, वहां तकलीफ शुरू हो जाती है। फैशन के बदलने के साथ सब बदल जाता है।
ऐसी कौमें हैं, जो स्त्रियों का सिर घुटवा देती हैं। वे कहती हैं, घुटा हुआ सिर बहुत सुंदर है। वे कहती हैं, जब तक सिर घुटा न हो, तब तक स्त्री के चेहरे का पूरा सौंदर्य पता ही नहीं चलता, बाल की वजह से सब ढंक जाता है। असली सौंदर्य तो तभी पता चलता है, जब सिर घुटा हुआ हो, साफ-सुथरा हो, स्वच्छ। बाल भी कहां की गंदगी! तो स्त्रियां सिर घुटाती हैं। ऐसी कौमें हैं, जो मानती हैं, बिना बाल के सौंदर्य नहीं हो सकता, तो स्त्रियां विग लगाती हैं, झूठे बाल ऊपर से लगा लेती हैं। इस वक्त विग का बड़ा धंधा है पश्चिम में, क्योंकि बाल!
हमारी मौज है, हमारे मन का ही सारा खेल है। जैसा हम पकड़ लें, बस वैसा ही मालूम होने लगता है। ऋषि कहता है, इस मन पर अंकुश रखना पड़े, इस मन को धीरे- धीरे विसर्जित करना पड़े और वह क्षण लाना पड़े, जहां हम कह सकें, अब कोई मन नहीं। इधर रह गई चेतना, उधर रह गया सत्य। जहां मन नहीं, चेतना और सत्य का मिलन हो जाता है। वहीं आनंद है। और वहीं नित्य की प्रतीति और अनुभूति है।

आज इतना ही।

अब हम ध्यान की तैयारी में जाएंगे। दो-तीन बातें ख्याल में ले लें।
मन को फेंक डालना है पूरा--अंकुशो मार्गः। लेकिन मन तभी फेंका जा सकता है, जब आप पूरी त्वरा और पूरी शक्ति से उसको फेंकने में लगें।
दस मिनट श्वास ऐसी लेनी है कि सारे शरीर का रोआं-रोआं शक्ति से भर जाए
और नाचने लगे। फिर दस मिनट नृत्य, नाचना-कूदना, आनंदित होना। वह भी ऐसा करना है कि बिल्कुल पागल--पागल से कम में नहीं चलेगा।
फिर दस मिनट हू की हुंकार। वह भी ऐसी करनी है कि पूरी घाटी भर जाए हुंकार से।
और दूर-दूर फैल जाएं। जितने दूर फैल जाएंगे उतना सुखद है। और जिन लोगों को पता है कि वे तेजी से दौड़ते हैं, वे बिल्कुल पीछे चले जाएं। दूसरों को धक्का देना उचित नहीं है। फिर पीछे लगे तो बात अलग, पर पहले से तो इंतजाम ऐसा करें कि दूसरे को कोई बाधा न पहुंचे।
शक्ति पूरी लगानी है। आंख बंद कर लें। कपड़े जिन्हें अलग करने हों अलग
कर दें, बीच में भी ख्याल आ जाए, तो तत्काल अलग कर दें। सब संकोच, सब मन के आवरण छोड़कर, हृदयपूर्वक सब शक्ति लगा देनी है।
आंख बंद कर लें। पट्टियां बांध लें। पट्टियां जिनके पास नहीं हैं, वे
भी पट्टियां शीघ्र प्राप्त कर लें। क्योंकि वे अपना समय खराब कर रहे हैं,

पूरा फायदा उन्हें नहीं होगा। आंख खुली नहीं रखनी है। और अगर पट्टी नहीं है तो आंख बंद कर लें, चालीस मिनट फिर खोलनी नहीं है चाहे कुछ भी हो।
शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
नौवां प्रवचन

साधक के लिए शून्यता, सत्य योग, अजपा गायत्री और विकार-मुक्ति का महत्व

शून्यं न संकेतः।
परमेश्वर सत्ता।
सत्यसिद्धयोगो मठः।
अमरपदं न तत स्वरूपम्।
आदिब्रह्म स्व-संवित्।
अजपागायत्री विकारदंडो ध्येयः।
मनोनिरोधिनी कन्था।

शून्य संकेत नहीं है।
परमेश्वर की सत्ता है।
सच्चा और सिद्ध हुआ योग (संन्यासी का) मठ है।
उस आत्मस्वरूप के बिना अमरपद नहीं है।
आदि ब्रह्म स्व-चेतन है।
अजपा गायत्री है। विकार-मुक्ति ध्येय है।
मन का निरोध ही उनकी कन्था है।

शून्य संकेत नहीं, परमेश्वर की सत्ता ही है।
जिन्होंने भी जाना है, उन्होंने परमेश्वर को या तो पूर्ण कहा है, या शून्य कहा है। ये दो ही उपाय हैं। परमात्मा के संबंध में कोई संकेत करने के ये दो ही उपाय हैं। या तो हम कहें वह पूर्ण है, या हम कहें वह शून्य है। उलटे मालूम पड़ते हैं। पूर्ण और शून्य से ज्यादा विरोधी और क्या होगा? इसलिए जो जानते नहीं, वे अगर पूर्ण को मानते हैं, तो शून्य का विरोध करते हैं। न जानने वाले यदि शून्य को मान लेते हैं परमात्मा का स्वरूप, तो पूर्ण का विरोध करते हैं।
लेकिन शून्य या पूर्ण दो उपाय हैं उसके संबंध में कुछ कहने के। या तो
कह दो कि वह सभी कुछ है, या कह दो कि वह कुछ भी नहीं है, सभी से खाली है। या तो इनकार कर दो उस सब का, जो हमें ज्ञात है और कह दो, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं। इस सबके बाद जो बच रहता है, वही है। यह शून्य का मार्ग है। या कहो, यह भी वही है, वह भी वही है, सब कुछ वही है। यह पूर्ण का मार्ग है।
यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह किस मार्ग को प्रीतिकर समझेगा। गिलास आधा भरा हो, तो कोई कह सकता है, आधा भरा; कोई कह सकता है, आधा खाली। विपरीत वक्तव्य हैं दोनों। और जिन्होंने न देखा हो गिलास, वे इस पर विवाद भी कर सकते हैं कि हम आपस में विरोधी हैं। तुम कहते हो, आधा खाली; हम कहते हैं, आधा भरा। अब निश्चित ही भरा और खाली विपरीत सत्य हैं। लेकिन जिन्होंने देखा है, वे कहेंगे, ये आधे भरे गिलास को कहने के दो ढंग हैं।
और जब हम परम सत्ता के संबंध में कुछ कहने चलते हैं, तो अति में ही बात करनी पड़ेगी, एक्सट्रीम पर ही बात करनी पड़ेगी, सीमांत पर बात करनी पड़ेगी। या तो इनकार कर देना पड़ेगा उस सब का, जिसे हम जानते हैं, जो संसार है, स्वप्नवत। कह देना पड़ेगा कि यह वहां कुछ भी नहीं है।
बुद्ध से कोई पूछता था, कैसा है सत्य? तो बुद्ध कहते थे, जो भी तुम जानते हो, वैसा जरा भी नहीं है। जो भी तुम पहचानते हो, वह काम नहीं पड़ेगा। जो भी तुमने सुना है, समझा है, अनुभव किया है, वह वहां काम नहीं आएगा। और जैसा सत्य है, उसको कहने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जिस तरह भी हम उसे कहेंगे, उसमें तुम्हारे सुने हुए, समझे हुए शब्दों का ही उपयोग करना पड़ेगा। इसलिए बुद्ध कहते थे, मुझे चुप रहने दो, मुझे मजबूर मत करो उसके संबंध में कुछ कहने को। और अगर कोई बहुत मजबूर ही करता, तो वे कहते, शून्य है। पहले तो वे इनकार करते वक्तव्य देने से कि मैं कुछ न कहूंगा, मुझे चुप

रह जाने की आज्ञा दो। अगर कोई नहीं ही मानता और जिद किए चला जाता, तो बुद्ध कहते, वह शून्य है।
लेकिन जब हम सुनते हैं, कोई कहे परमात्मा शून्य है, तो लगता है शायद वह
कह रहा है, परमात्मा नहीं है। लेकिन अगर "नहीं है" कहना था, तो शून्य के प्रयोग करने की कोई जरूरत ही न थी। सीधा ही कहा जा सकता था, नहीं है। जो नहीं है, उसे नहीं है कहने में कौन सी बाधा थी? जो है, उसे चाहे प्रकट न भी किया जा सके, लेकिन जो नहीं है, उसके संबंध में तो वक्तव्य दिया ही जा सकता है।
लेकिन बुद्ध कहते हैं, वह शून्य है। "है" से इनकार नहीं करते। है निश्चित ही, लेकिन शून्य है। और शून्य कहने का कारण यह है, ताकि हम अपने मन की कोई भी धारणाएं, वे जो हमारी कैटेगरीज आफ इन्टेलेक्ट हैं, हमारी बुद्धि की जो धारणाएं हैं, उन सबको छोड़कर उसकी तरफ चलना। अपने को छोड़कर चलें उसकी तरफ।
परमात्मा को शून्य कहने का अर्थ है कि केवल वे ही उसे जान पाएंगे जो शून्य होने की तत्परता दिखाएंगे। जब वे बिल्कुल शून्य हो जाएंगे, तो जान पाएंगे उसे। क्योंकि तब उन दोनों का एक सा स्वभाव मिल जाएगा। एक हारमनी, एक एफीनिटी, दोनों के बीच एक संवाद शुरू हो जाएगा। शून्य है, यह कहने का यह अर्थ है कि वहां कोई शब्द नहीं, कोई ध्वनि नहीं, वहां कोई रस नहीं। इंद्रियां जो भी जानती और पहचानती हैं, उनमें से वहां कुछ भी नहीं। फिर भी वह है।
शून्य कहने का एक कारण और है। यह बहुत गहन है। पर ख्याल में ले लेना जरूरी है, क्योंकि हम गहन यात्रा पर ही निकले हैं। अगर कोई परमात्मा को पूर्ण कहे, तो यह भी सोचा जा सकता है कि और भी पूर्णतर हो सकता है। कितना ही पूर्ण हो, थोड़ा और पूर्ण होने में कौन सी असुविधा है? पूर्णतर हो सकता है। पूर्ण में और भी कुछ होने का उपाय बना रहता है। लेकिन और शून्य नहीं हो सकता। जब कोई कहता है, परमात्मा शून्य है, तो आखिरी बात आ गई। दो शून्य छोटे और बड़े नहीं हो सकते। शून्य यानी शून्य। वहां कोई है ही नहीं।
अगर मैं कमरे में मौजूद हूं, तो भिन्न भी हो सकता हूं। मेरी मौजूदगी भिन्न भी हो सकती है। जैसा अभी हूं, कल उससे अन्यथा भी हो सकता हूं। लेकिन कमरे में मेरी गैर-मौजूदगी है, ऐब्सेंस है, वह भिन्न नहीं हो सकती कभी भी। इट विल रिमेन द सेम। ऐब्सेंस में कैसे फर्क पड़ेगा? शून्य सदा थिर होगा। होगा तो पूर्ण भी सदा थिर, लेकिन शून्य ज्यादा तर्कयुक्त है। पूर्ण के साथ हम सोच सकते हैं और भी पूर्णताएं हैं, लेकिन शून्य के साथ और भी शून्यताएं नहीं सोची जा सकतीं। शून्य का अर्थ ही है कि जो बिल्कुल खाली है। अब और खाली कैसे होगा! तो बुद्ध ने शून्य का प्रयोग किया है।
यह उपनिषद का ऋषि भी कहता है, शून्यं न संकेतः।
यह कहता है कि जब हम कहते हैं, परमात्मा शून्य है, तो तुम ऐसा मत सोचना
कि हम केवल संकेत करते हैं। यह बड़ी हिम्मत का वक्तव्य है। ऋषि कहता है, यह मत सोचना कि हम सिर्फ संकेत करते हैं शून्य से, और परमात्मा शून्य नहीं है। नहीं, हम कहते हैं, परमेश्वर सत्ता। शून्य ही परमेश्वर की सत्ता है। सत्ताएं दो तरह की हो सकती हैं--पॉजिटिव, विधायक; निगेटिव, नकारात्मक। लेकिन जहां-जहां नकार होता है, वहां-वहां विधेय होता है। जैसे बिजली जल रही है, तो उसमें एक निगेटिव पोलेरिटी है, एक पॉजिटिव पोलेरिटी है। उसमें ऋण विद्युत भी है, धन विद्युत भी है। अगर दो में से एक हट जाए, तो बिजली बुझ जाए। दोनों का सर्किट, दोनों का वर्तुल चाहिए, तो बिजली जलती है। स्त्री है, पुरुष है। एक नकारात्मक है, एक विधायक है। दो में से एक हट जाए, तो जीवन की यात्रा बंद हो जाती है।
जगत में जिस चीज का भी अस्तित्व है, उसमें एक विधायक और एक नकारात्मक हिस्सा संयुक्त रूप से, जैसे बैलगाड़ी के दो चाक या आदमी के दो पैर, ऐसे जिस चीज की भी सत्ता है, उसके दो पैर हैं; एक नकार है, एक विधेय है।
लेकिन परमात्मा अगर नकार है, तो विधेय कौन होगा फिर? फिर तो हमें एक परमात्मा और सोचना पड़े। और इसीलिए कुछ धर्मों ने परमात्मा के साथ शैतान को भी सोचा हुआ है। वह नंबर दो का परमात्मा है, बुरा परमात्मा। लेकिन है वह, और मिट नहीं सकता। क्योंकि उनको ख्याल में आया है कि सत्ता तो विभाजित

है। अगर परमात्मा शुभ है, तो उसके विपरीत अशुभ की भी सत्ता होनी चाहिए, इसलिए शैतान को बना ही लेना पड़ा।
सिर्फ भारत एक देश है, जहां हमने परमात्मा के विपरीत किसी सत्ता को निर्मित नहीं किया। ईसाइयत भी शैतान के बाबत सोचती है, इस्लाम भी शैतान के बाबत सोचता है, यहूदी भी शैतान के बाबत सोचते हैं, पारसी भी शैतान के बाबत सोचते हैं। सिर्फ इस देश में कुछ लोगों ने बिना शैतान के और परमात्मा के होने की संभावना को स्वीकार किया है। फिर अगर परमात्मा को स्वीकार करना है बिना शैतान के... और शैतान के साथ स्वीकार करना कोई स्वीकार करना नहीं है, क्योंकि फिर एक कांस्टैंट कांफ्लिक्ट है, जिसका कोई अंत नहीं होगा। शैतान और परमात्मा का कभी अंत नहीं हो सकता। वह विरोध चलता ही रहेगा। सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन जिस दिन मरा, मौलवी उसे पश्चात्ताप करवाने आया है। और मुल्ला से कहता है, पश्चात्ताप करो, परमात्मा से क्षमा मांगो और मरते वक्त शैतान को इनकार करो। मुल्ला बिल्कुल चुप रहा। आंख खोलकर उसने देखा जरूर, फिर आंख बंद कर लीं। मौलवी ने कहा, तुमने सुना नहीं? ज्यादा देर नहीं है, आखिरी घड़ी है। क्षण दो क्षण की श्वास है। परमात्मा को स्वीकार करो और शैतान को इनकार करो। मुल्ला ने कहा कि आखिरी वक्त में मैं किसी को भी नाराज नहीं करना चाहता। क्योंकि पता नहीं, आगे की यात्रा किस तरफ हो! मैं चुप ही रहूंगा। जिस तरफ चला जाऊंगा, उसी की प्रशंसा कर दूंगा। मगर अभी तो कुछ पक्का नहीं है। तो ऐसे डेलिकेट मोमेंट में, मुल्ला ने कहा, ऐसे नाजुक क्षण में जिद मत करो। अभी कुछ पक्का नहीं है, शैतान की तरफ जाऊं कि परमात्मा की तरफ जाऊं। और किसी को नाराज करना ठीक भी नहीं। जिंदगी की बात और थी, अब तो यह आखिरी क्षण है, तो चुप ही मुझे मर जाने दो।
अगर शैतान और परमात्मा का अस्तित्व है साथ-साथ, तो यह अस्तित्व सदा ही द्वंद्व होगा, और द्वंद्वातीत होना असंभव है। इसलिए ऋषि नहीं कहते कि अस्तित्व द्वंद्व है। ऋषि कहते हैं, जगत द्वंद्व है--जगत, जो हमें दिखाई पड़ता है वह। लेकिन जो है, वह निर्द्वंद्व है।
उस निर्द्वंद्व को कैसे प्रकट करें? कहें विधेय, पॉजिटिव? कहें निषेध, निगेटिव? तो मुश्किल हो जाएगी, द्वंद्व खड़ा हो जाएगा। तो दो ही उपाय हैं उसको प्रकट करने के। या तो कह दें दोनों, अर्थात पूर्ण--एक साथ। और या कह दें दोनों नहीं, अर्थात शून्य। ये दो उपाय हैं। या तो परमात्मा को कह दें पूर्ण। उसका अर्थ यह हुआ कि जो भी इस जगत में है, सभी परमात्मा है। इससे बड़ी परेशानी पश्चिम में, खासकर ईसाई विचारकों को होती है। वे कहते हैं, फिर बुराई का क्या होगा? बुराई है, बीमारी है, मृत्यु है, दुख है, इसका क्या होगा? क्या यह भी परमात्मा है?
जो कहता है, पूर्ण है परमात्मा, वह यह भी स्वीकार कर रहा है कि बुराई है, वह भी परमात्मा है। वह जो चोर है, वह भी परमात्मा है। चोर परमात्मा है, है परमात्मा ही।
ईसाइयत को बड़ी कठिनाई पड़ी इस बात को समझने में। क्योंकि अगर चोर भी परमात्मा है और अगर राम भी रावण हैं, तो फिर आदमी के लिए विकल्प क्या है? आदमी क्या चुने? क्या बुरा है?
इस जगत में कोई बुराई नहीं है। अगर सभी परमात्मा है, तो फिर बुराई नहीं है। अकाल आता है, बाढ़ आती है, लोग मर जाते हैं, युद्ध होता है। सिर्फ हिंदुओं ने हिम्मत की कि वह भी परमात्मा है।
यह हिम्मत बहुत अदभुत है। समझ के थोड़े पार भी है। क्योंकि हमारा भी मन कहता है कि इसे इनकार करो। अच्छाई को परमात्मा से जोड़ दो, बुराई को अलग करो। लेकिन ऋषि कहते हैं, बुराई को फिर कहां रखोगे? फिर तुम्हें शैतान निर्मित करना पड़ेगा। बुराई को रखोगे कहां? बुराई भी परमात्मा है।
असल में अगर बुराई भी परमात्मा है, तो बुराई बुराई हो नहीं सकती अंततः। वह सिर्फ हमारे देखने की भूल होगी या पूरा पर्सपेक्टिव न होगा, पूरी बात दिखाई न पड़ रही होगी। एक घटना घटती है, पैर में कांटा चुभ जाता है, आप कहते हैं, यह तो सीधी बुराई है। दुख हो रहा है, पीड़ा हो रही है।
हसन नाम का सूफी फकीर एक रास्ते से गुजर रहा है। पत्थर से चोट लग गई और पैर से खून बहने लगा, तो उसने हाथ जोड़कर आकाश की तरफ परमात्मा को धन्यवाद

दिया कि तेरी बड़ी कृपा है। उसके शिष्य तो बहुत हैरान हुए। उन्होंने कहा, यह कृपा है! तो अकृपा क्या होती है? पैर में पत्थर लग गया है, खून बह रहा है; अगर यह कृपा है, तो हमें छुट्टी दो। हम सब परमात्मा की कृपा को खोजने निकले हैं और तुम्हारे पीछे इसीलिए चल रहे हैं। अगर यह कृपा है, तो हम वापस लौट जाएं।
तो हसन ने कहा कि जो इसमें कृपा न देख पाएगा, उसे कृपा कभी भी न मिल सकेगी। और फिर मैं तुमसे कहता हूं कि आज मुझे फांसी होनी चाहिए थी, लेकिन उसकी कृपा है कि सिर्फ पैर में एक पत्थर लगकर मैं बच गया हूं। कर्म तो मेरे ऐसे थे कि आज फांसी निश्चित थी। नियति तो मेरी फांसी की थी, लेकिन उसकी कृपा है।
और ऐसा मत सोचना कि हसन को फांसी लगती, तो हसन न कहता कि तेरी बड़ी कृपा है। तो भी यही कहता। क्योंकि और बड़ी फांसियां हो सकती हैं। फांसी से भी बड़ी फांसियां हो सकती हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन ने इकट्ठी चार शादियां कर ली थीं। जिस जगह वह रहता था, उस जगह का कानून इसे फांसी के योग्य मानता था। अदालत में हाजिर होना पड़ा। मजिस्ट्रेट ने कहा कि जुर्म तो तुमने बहुत भयंकर किया है। फांसी ही इसकी सजा है। लेकिन मुल्ला, हम तुम्हें फांसी नहीं देते। हम तुम्हें माफ करते हैं और यह दंड देते हैं कि चारों स्त्रियों के साथ जाकर रहो। मुल्ला ने कहा, यह फांसी से भी बदतर है। इससे तो तुम फांसी दे दो, बड़ी कृपा होगी। फांसी से बदतर स्थितियां हो सकती हैं। अगर हसन को फांसी भी लगती, तो
वह कहता, तेरी बड़ी कृपा है। नहीं, सवाल यह नहीं है कि कौन सी बात हुई है। सवाल इस हृदय का है, जो हर जगह परमात्मा को देख लेता है।
ऋषि कहते हैं कि वह परमात्मा या तो पूर्ण है, सभी कुछ वही है, क्षुद्रतम से लेकर विराटतम तक वही है। एक तो यह रास्ता है। दूसरा रास्ता यह है कि इसमें से कुछ भी वह नहीं है। निर्वाण उपनिषद का ऋषि तो कहता है, वह शून्य है। और इस पर जोर देने का कारण है। और मेरा भी झुकाव इस बात का है कि परमात्मा को पूर्ण न कहा जाए, शून्य ही कहा जाए। यह जानते हुए कि पूर्ण भी कहा जा सकता है, फिर भी मेरा अपना झुकाव भी यही है कि परमात्मा को शून्य ही कहा जाए। क्यों? वह मैं आपको कहूं।
क्योंकि जैसे ही हम परमात्मा को पूर्ण कहते हैं, हमारे अहंकार को परमात्मा के साथ मिटाना मुश्किल हो जाता है। वह बढ़ता है। क्योंकि लगता है, परमात्मा को पाकर हम पूर्ण हो जाएंगे। लेकिन जब कहा जाता है, परमात्मा शून्य है, तो उसका अर्थ है कि परमात्मा को पाना हो, तो हमको मिटना पड़े और शून्य होना पड़े।
इसलिए साधक की दृष्टि से परमात्मा को शून्य कहना ही उचित है। दर्शन
की दृष्टि से पूर्ण भी कहा जा सकता है, लेकिन साधक की दृष्टि से पूर्ण कहना बहुत खतरनाक है। क्योंकि साधक बहुत नाजुक हालत में है। सवाल यही है कि अहंकार मिट जाए, तो वह परमात्मा को पा ले, जो पूर्ण है या शून्य है, जो भी है। लेकिन पूर्ण परमात्मा की कल्पना के साथ अपने को मिटाने का ख्याल नहीं आता, बल्कि और अपने बड़े हो जाने का ख्याल आता है। ऐसा लगता है कि परमात्मा को पाकर हम और भी मजबूत, और भी विराट, और भी अमृत, और भी दुख के पार; लेकिन हम बच रहेंगे। मैं बच रहूंगा।
तो हमारा अहंकार कह सकता है, अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं। और इसलिए अक्सर ऐसा हो जाता है कि अहं ब्रह्मास्मि की घोषणा करने वाले साधु- संन्यासी अति अहंकार से पीड़ित हो जाते हैं। अहंकार उनके रोएं-रोएं पर लिख जाता है। उसका कारण है। वक्तव्य अगर परमात्मा के पूर्ण होने का स्वीकार किया जाए, तो उस पूर्ण के साथ स्वयं को जोड़ने में शून्य होना कठिन पड़ेगा। इसलिए साधक को ध्यान में रखकर ऋषि कहता है कि शून्य उसका स्वभाव है।
और जब तक तुम शून्य न हो जाओ, तब तक उसे न पा सकोगे। यद्यपि जो पा लेते हैं, वे उसे पूर्ण भी कह सकते हैं, कोई अंतर नहीं पड़ता। लेकिन जिन्होंने नहीं पाया है, उनकी तरफ से अगर ध्यान रखना हो, तो शून्य कहना ही उचित है। क्योंकि परमात्मा को वही बताना उचित है, जो हमें बनना हो। परमात्मा को ऐसा कोई भी संकेत देना खतरनाक है, जो हमारे मिटने में बाधा बन जाए। मिट जाना

है, खाली हो जाना है, तो ही हम उससे भर पाएंगे। तो जो हमें हो जाना है, परमात्मा को वही कहना उचित है।
इसलिए शून्य प्रेफरेबल है, चुनाव योग्य है। और ऋषि ने शून्य को ही चुना और कहा कि यह शून्य संकेत नहीं है, ऐसा मत मानना कि हम सिर्फ इशारा करते हैं शून्य से उस परमात्मा का, जो कि पूर्ण है। यह कहा कि वह शून्य ही है, इशारा भी नहीं करते। उसका स्वभाव शून्य है। यह स्वभाव शून्य है, यह और भी एक-दो दिशाओं से समझ लेना चाहिए।
असल में सारा अस्तित्व शून्य से पैदा होता है और शून्य में ही लीन होता है। एक बीज है वृक्ष का, तोड़ें और खोजें कि वृक्ष उसमें कहां छिपा है! कहीं भी न मिलेगा। पीस डालें, कहीं वृक्ष न मिलेगा। फिर भी इसी बीज से वृक्ष पैदा होता है। यही बीज टूटकर जमीन में बिखर जाता है और अंकुर निकलता है और वृक्ष बन जाता है। लेकिन बीज में खोजने से वृक्ष कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता था।
कहां से आता है यह वृक्ष? शून्य से आता है। बीज में तो सिर्फ इस वृक्ष
की ब्लू-प्रिंट होती है, वृक्ष नहीं होता। बीज में तो सिर्फ नक्शा होता है कि वृक्ष कैसा होगा। जस्ट ए ब्लू-प्रिंट, ए बिल्ट-इन प्रोग्रैम। जैसे कि कोई आर्किटेक्ट एक मकान बनाता है और अपनी फाइल में एक नक्शा दबाकर चलता है। आप उसके नक्शे में रहने की कोशिश मत करना। वह नक्शा सिर्फ ब्लू प्रिंट है। वह सिर्फ रूपरेखा है; जैसा कि मकान बन सकेगा, उसकी सिर्फ रूपरेखा है। बीज में वृक्ष नहीं होता, बीज में सिर्फ रूपरेखा होती है। वृक्ष तो शून्य से आता है, बीज रूपरेखा देता है और वृक्ष निर्मित होता है।
आप जब पैदा होते हैं, तो आपके पिता और मां से आप पैदा नहीं होते, जस्ट ए ब्लू प्रिंट इ.ज गिवेन। मां और बाप सिर्फ ब्लू प्रिंट देते हैं, रूपरेखा देते हैं कि नाक कैसी होगी, आंख कैसी होगी, बाल का रंग कैसा होगा, उम्र कितनी होगी, सब रूपरेखा दे देते हैं, लेकिन जो जीवन आता है, वह शून्य से आता है।
सारा अस्तित्व शून्य से निकलता है और सारा अस्तित्व शून्य में लौट जाता है। जब एक वृक्ष गिरता है और नष्ट होता है, तो पत्ते जमीन में मिलकर फिर मिट्टी हो जाते हैं। वे मिट्टी से आए थे। रूपरेखा खो गई, बिल्ट-इन प्रोग्रैम था, वह समाप्त हो गया। सत्तर साल वृक्ष को रहना था, वह बात समाप्त हो गई। मिट्टी अपनी मिट्टी खींच लेती है, पानी अपना पानी वापस ले लेता है, आकाश अपना आकाश मांग लेता है, सूर्य अपनी किरणों को वापस उठा लेता है, हवाएं अपनी हवाओं को खींच लेती हैं। लेकिन वृक्ष कहां गया? वह जो जीवन था, जिसने इस मिट्टी को इकट्ठा किया था और हवा को बांधा था और जिसने पानी खींचा था आकाश से और सूरज से किरणें ली थीं, वह जो जीवन था, जिसने यह सब संघट किया था, यह सारा आर्गनाइजेशन किया था, वह जीवन कहां है? वह शून्य से आया था और शून्य में वापस लौट गया।
परमात्मा को शून्य कहने का कारण है। जो भी दिखाई पड़ता है, वह तो पदार्थ है। जो भी पकड़ में आता है, वह पदार्थ है। इस सब दिखाई पड़ने वाले और पकड़ में आने वाले के अतिरिक्त कहीं कोई मूल स्रोत जीवन का चाहिए। उसे हम क्या कहें? उसे हम कोई भी नाम देंगे, तो वह पदार्थ जैसा मालूम पड़ेगा। शून्य भर एक शब्द है हमारे पास, जो पदार्थ जैसा मालूम नहीं पड़ता।
इसलिए परमात्मा को शून्य कहा है। इसीलिए उसे निराकार कहा है, सिर्फ शून्य ही निराकार हो सकता है। सिर्फ शून्य ही निराकार हो सकता है। इसीलिए उसे निर्गुण कहा है, सिर्फ शून्य ही निर्गुण हो सकता है। इसीलिए उसे सनातन कहा है--सदा एक जैसा रहने वाला--सिर्फ शून्य ही सदा एक जैसा हो सकता है। जैसे ही आकृति आती है, बदलाहट आ जाती है। जैसे ही गुण आते हैं, परिवर्तन आ जाता है। जैसे ही रूप आता है, जन्म और मृत्यु आ जाती है। सिर्फ शून्य ही अजन्मा, अमृत हो सकता है।
इसलिए ऋषि कहता है, शून्य संकेत नहीं है हमारा, शून्य उसकी सत्ता है। विराट जगत उसी से पैदा होता है और उसी में लीन हो जाता है। शून्य परमात्मा की सत्ता, उसका अस्तित्व, उसके होने का ढंग है। इसीलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए परमात्मा का दर्शन, ठीक शब्द नहीं है कहना। आंख से तो वह दिखाई नहीं पड़ेगा। कहना पड़ता है, क्योंकि मजबूरी है। कोई भी शब्द उपयोग

करेंगे, तो इंद्रियों का होगा। परमात्मा की होती है प्रतीति, होती है अनुभूति, होती है एक्सपीरिएंसिंग, दर्शन नहीं। कहते हैं, शब्द के लिए उपाय नहीं कोई। परमात्मा शून्य है, इसीलिए तो मौजूद होकर भी मौजूद नहीं मालूम पड़ता। सब तरफ होकर भी अनुपस्थित है। जगह-जगह होकर भी कहीं भी नहीं मालूम पड़ता।
स्वामी राम निरंतर एक बात कहा करते थे। वे कहते थे, एक परम नास्तिक था। और उसने कहीं दीवार पर लिख छोड़ा था--गॉड इ.ज नोव्हेयर, ईश्वर कहीं भी नहीं है। उसका छोटा बच्चा पैदा हुआ, बड़ा हुआ, स्कूल पढ़ने जाने लगा। अभी नया-नया पढ़ रहा था, तो पूरे लंबे अक्षर नहीं पढ़ पाता था। नोव्हेयर काफी बड़ा है। वह बच्चा पढ़ रहा था दीवार पर लिखा हुआ गॉड इ.ज नोव्हेयर, उसने पढ़ा, गॉड इ.ज नाऊ हियर। तोड़कर पढ़ा। वह नोव्हेयर जो था, उसे तोड़ लिया। बड़ा लंबा शब्द था। उतना लंबा उसकी अभी सामर्थ्य के बाहर था।
बाप तो बहुत चौंका। लिखा था, गॉड इ.ज नोव्हेयर। पढ़ने वाले ने पढ़ा, गॉड इ.ज नाउ हियर। उस दिन से बाप बड़ी मुश्किल में पड़ गया। जब भी वह दीवार पर देखता, तो उसको भी पढ़ाई में आने लगा, गॉड इ.ज नाउ हियर।
एक दफा बात ख्याल में आ जाए, तो फिर उसे भुलाना बहुत मुश्किल हो जाता है। नोव्हेयर, नाउ हियर भी हो सकता है। जो कहीं नहीं है, वह सब कहीं भी हो सकता है। जो कहीं नहीं है, वह यहीं और अभी भी हो सकता है। लेकिन उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति जैसी है। हि.ज प्रेजेंस इ.ज जस्ट लाइक ऐब्सेंस।
असल में अगर परमात्मा की उपस्थिति भी उपस्थिति जैसी हो, तो बहुत वायलेंट हो जाए, बहुत हिंसक हो जाए। उसे ऐसा ही होना चाहिए कि हमें पता ही न चले कि वह है, नहीं तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जाएं। ख्याल है आपको!
मैंने सुना है कि एक ईसाई नन, एक ईसाई साध्वी, बाइबिल में पढ़ते-पढ़ते इस ख्याल पर पहुंच गई। बाइबिल में उसने पढ़ा कि ईश्वर सब जगह है और हर जगह देखता है। वह बड़ी मुश्किल में पड़ी। उसे लगा कि वह बाथरूम में भी होता ही होगा। वह कपड़े पहनकर स्नान करने लगी कि कहीं नंगा न देख ले। और दूसरी साध्वियों को पता चला। उन्होंने कहा, तू यह क्या पागलपन करती है कि तू बाथरूम में कपड़े पहनकर स्नान करती है! वहां कोई भी नहीं है। उस साध्वी ने कहा कि नहीं, जब से मैंने पढ़ा बाइबिल में, उसमें लिखा है, सब जगह वह देख रहा है, उसकी आंख हर जगह है, तो इसलिए मैं कपड़े पहनकर ही नहा लेती हूं।
लेकिन उस पागल को पता नहीं कि जो बाथरूम के भीतर देख सकता है, वह कपड़े
के भीतर भी देख सकता है। उसे इसमें क्या कठिनाई होगी? नथिंग इ.ज इम्पासिबल फार हिम। अगर दीवार के भीतर ही घुस जाता है, तो कपड़े के भीतर ऐसी कौन सी अड़चन आती होगी। और कपड़े के भीतर जो घुस सकता है, दीवार के भीतर जो घुस सकता है, चमड़ी और हड्डी उसको कोई बाधा बनेगी? और जो इतना सब कहीं है, क्या वह भीतर भी न होगा? प्राणों में न होगा? लेकिन उसकी मौजूदगी बड़ी नान-वायलेंट है, बड़ी अहिंसात्मक है।
ध्यान रखें, मौजूदगी में हिंसा हो जाती है। बाप बैठा है, तब देखें, बेटे की चाल बदल जाती है। बाप कमरे में बैठा है, बेटा जब निकलता है, तो उसकी चाल बदल जाती है, क्योंकि बाप की मौजूदगी हिंसात्मक होगी। अगर परमात्मा इस तरह मौजूद हो, तो जीवन बड़ी मुश्किल में पड़ जाए। जीना मुश्किल ही हो जाए, उठना-बैठना मुश्किल हो जाए, कुछ भी करना मुश्किल हो जाए।
नहीं, आदमी के जीवन के लिए पूरी स्वतंत्रता इसीलिए संभव है कि उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति जैसी है। वह सिर्फ उन्हें ही दिखाई पड़ना शुरू होता है, जिन पर उसकी मौजूदगी की कोई हिंसा नहीं होती। वह सिर्फ उन्हें ही अनुभव में आना शुरू होता है, जो इतने विकाररहित हो गए होते हैं कि अब नग्न हो सकते हैं और प्रकट हो सकते हैं। वह सिर्फ उन्हीं के निकट जाहिर होता है, जिनके पास छिपाने को कुछ भी नहीं रह जाता। इसलिए ऋषि कहते हैं, वह शून्य है। यह संकेत नहीं, उसकी सत्ता है।
सच्चा और सिद्ध हुआ योग संन्यासी का मठ है। सत्यसिद्धयोगो मठः।
सिद्ध हुआ योग ही संन्यासी का मठ है, वही उसका मंदिर है, वही उसका आवास। सिद्ध हुआ योग! बड़ी जागरूकता ऋषि के मन में होगी। सिर्फ इतना नहीं कहा कि योग उसका मंदिर है। क्योंकि योग सिर्फ बातों में हो सकता है, चर्चा में हो सकता है, सिद्धांत में हो सकता है। उस योग का कोई मतलब नहीं है।

योग म्यूजियम में भी हो सकता है, यह मुझे आज पता चला। एक मित्र निमंत्रण दे गए हैं ब्रह्माकुमारियों का। उसमें लिखा है कि राज-योग का म्यूजियम। मुझसे कह गए कि आप जरूर देखें। राज-योग का बिल्कुल म्यूजियम बनाकर रखा है।
अभी योग इतना नहीं मर गया है कि म्यूजियम बनाना पड़े। म्यूजियम तो मरी हुई चीजों के लिए बनाना पड़ता है।
बर्ट्रेंड रसेल के ऊपर कोई व्यक्ति थीसिस लिखना चाहता था। तो बर्टें्रड रसेल ने कहा कि कम से कम मुझे मर तो जाने दो। अन्वेषण का काम तो मरने के बाद ही शुरू होना चाहिए, अभी तो मैं जिंदा हूं। और अभी तुम कैसे थीसिस लिखोगे? अभी जिंदा आदमी न मालूम और क्या-क्या कहेगा। तुम्हारी थीसिस गड़बड़ हो सकती है। तुम थोड़ा वेट करो, थोड़ा ठहरो। इतने घबराओ मत, मैं भी मरूंगा ही। फिर तुम थीसिस लिख लेना।
लेकिन राज-योग के म्यूजियम का क्या मतलब हो सकता है? योग कोई म्यूजियम
की बात है? लेकिन हो गई करीब-करीब।
इसलिए ऋषि नहीं कहता कि योग उसका मठ है। क्योंकि योग सिद्धांत में हो सकता है, चर्चा में हो सकता है, म्यूजियम में हो सकता है, विचार में हो सकता है, दर्शन में हो सकता है।
ऋषि कहता है, सिद्ध हुआ योग--वही उसका मठ है। सिद्ध हुआ योग। जब वह अनुभूति बन जाए स्वयं की, तभी। वह पतंजलि के शास्त्र में तो लिखा है, उस शास्त्र को सिर पर लेकर ढोते रहें, तो कोई हल नहीं होता। उस शास्त्र को कंठस्थ कर लें, तो भी कुछ नहीं होता। उस शास्त्र पर बड़ी व्याख्याएं कर डालें, तो भी कुछ नहीं होता। उस शास्त्र के बड़े जानकार बन जाएं, ऐसा कि पतंजलि भी मिल जाए तो डरे, तो भी कुछ नहीं होता। वह सिद्ध हो योग। क्योंकि योग जो है, वह विचार नहीं है, अनुभव है।
सिद्ध हुआ योग ही मठ है।
लेकिन ऋषि एक शर्त और लगाता है, सच्चा और सिद्ध हुआ--ट्रू एंड एक्सपीरिएंस्ड। यह और कठिन शर्त है। इसका मतलब यह हुआ कि गलत योग भी सिद्ध हो सकता है। इसलिए ऋषि एक शर्त और लगाता है कि सत्य और सिद्ध हुआ योग। गलत योग भी सिद्ध हो सकता है। इस जगत में कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जिसका गलत रूप न हो सके। सब चीजों के गलत रूप हो सकते हैं। और सही रूप जानने में बड़ा कठिन होता है, इसलिए गलत रूप चुनने सदा आसान होते हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी का जन्म-दिन था। तो वह हीरे का हार लेकर आया। पत्नी तो पागल हो गई। लाखों का हार मालूम पड़ता था। उसने कहा, नसरुद्दीन तुम इतना मुझे प्रेम करते हो, यह मुझे कभी पता न था। नसरुद्दीन ने कहा कि बिना हीरे के हार के कहीं प्रेम का पता चलता है? अब तो पक्का है, यह हार देख। पर पत्नी ने कहा, लाखों खर्च हो गए होंगे। नसरुद्दीन ने कहा, हो ही गए। तो पत्नी ने कहा कि जब लाखों ही खर्च करने थे, तो बेहतर था एक राल्स रायस कार खरीद ली होती। नसरुद्दीन ने कहा, इमीटेशन कार कहीं मिलती हैं, तो हम वही खरीद लाते। यह इमीटेशन हार है। यह लाखों का दिखता है, है नहीं। लेकिन कार तो मिलती नहीं कहीं इमीटेशन।
जो भी चीज इस जगत में हो सकती है, उसका इमीटेशन हो सकता है। इमीटेशन सस्ता मिलता है। और आदमी सस्ते को खरीदने को बड़ा उत्सुक होता है, सरलता से मिल जाता है। सस्ते योग भी हैं, इमीटेशन योग भी हैं। इसलिए ऋषि ने कहा, सत्य और सिद्ध हुआ।
इमीटेशन योग क्या है, थोड़ी सी बात समझ लेनी चाहिए।
सम्मोहन से संबंधित सब योग इमीटेशन योग होते हैं। जैसे कि उदाहरण के लिए अभी फ्रांस में एक बहुत योग्य सम्मोहन विद्या का पारंगत व्यक्ति था इमायल कुवे। इमायल कुवे सिर्फ लोगों की सम्मोहन से चिकित्सा करता था। एक आदमी बीमार है, सिर में दर्द है, तो कुवे कोई दवा नहीं देता था। वह सिर्फ उसे लिटाकर कहता कि तुम शिथिल पड़ जाओ और सोचो मन में कि दर्द नहीं है। और वह दोहराता कि दर्द नहीं है। वह बाहर से कहता कि दर्द नहीं है, दर्द झूठ है, दर्द नहीं है। मरीज मन में सोचता कि दर्द नहीं है, दर्द नहीं है, दर्द नहीं है। अगर यह भाव गहरा प्रवेश कर जाए, तो दर्द मिट जाता है।

मिट जाने के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि निन्यानबे मौकों पर दर्द होता नहीं, सिर्फ ख्याल होता है। निन्यानबे मौकों पर दर्द होता नहीं है, सिर्फ ख्याल होता है, तो ख्याल से मिट जाता है। एक मौके पर दर्द हो भी, तो ख्याल, विपरीत ख्याल से छिप जाता है। इमायल कुवे को मुल्ला नसरुद्दीन जैसा आदमी नहीं मिला।
पर मैंने सुना है कि एक दूसरे सम्मोहन शास्त्री से मुल्ला नसरुद्दीन
की मुलाकात हुई। नसरुद्दीन ने जाकर उससे कहा कि मैं बड़ी तकलीफ में पड़ा हुआ हूं। मुझे घर में बैठे-बैठे सर्दी पकड़ जाती है। भली धूप निकली है, सब ठीक है, अचानक सर्दी पकड़ जाती है। उस सम्मोहनविद ने कहा, कोई फिक्र नहीं। तुम घर में बैठे, आंख बंद किए सोचा करो कि सिर पर सूरज की तेज किरणें पड़ रही हैं। सिर गरम हो रहा है। नसरुद्दीन ने कहा, ठीक है। सात दिन बाद नसरुद्दीन की पत्नी ने फोन किया कि महाशय, आपने क्या कर दिया! उनको घर में बैठे-बैठे लू लग गई है।
लग ही जाएगी। वह सर्दी भी मन का खेल थी, यह लू भी मन का खेल। जो सर्दी लगा सकता है, वह लू भी लगा सकता है। इसमें कौन सी कठिनाई है! कला तो वही है, ट्रिक तो वही है।
आदमी सम्मोहन से झूठे योग सिद्ध कर सकता है। अपने मन में सिर्फ भाव कर-करके, कर-करके कर सकता है। वे सच्चे योग नहीं हैं। सम्मोहन का भी उपयोग किया जा सकता है सच्चे योग के मार्ग पर, और किया जाता है, लेकिन बड़ा भिन्न है। आदमी में जो बीमारियां सम्मोहन से पैदा हुई हैं, उनको काट दिया जा सकता है, डी-हिप्नोटाइज किया जा सकता है। आदमी के भीतर जो रोग सम्मोहन से ही पैदा हुए हैं, वे सम्मोहन से जरूर काट देने चाहिए। लेकिन सम्मोहन से स्वास्थ्य नहीं पैदा करना चाहिए, नहीं तो वह झूठा होगा। फर्क समझ लें। सम्मोहन से पैदा हुई बीमारी है झूठी, मन की मानसिक बीमारी है, तो मानसिक विचार से उसे तोड़ा जा सकता है। लेकिन अगर कोई मानसिक विचार से समझे कि मैं स्वस्थ हूं, मैं स्वस्थ हूं, तो वह स्वास्थ्य भी मानसिक विचार होगा, वह स्वस्थ हो नहीं पाएगा। इसलिए हिप्नोटिज्म का निगेटिव उपयोग हो सकता है। योग में होता है; नकारात्मक, सिर्फ काटने के लिए। पुराने बंधे हुए सम्मोहन को काटने के लिए उपयोग होता है, लेकिन कोई नया सम्मोहन पैदा करने के लिए उपयोग नहीं होता।
झूठे योग में नया सम्मोहन पैदा करने के लिए उपयोग होता है। तो आप बैठकर एक पत्थर की मूर्ति को भगवान मानकर अगर सम्मोहन करते रहें, करते रहें, करते रहें, तो मूर्ति भगवान मालूम होने लगेगी। बातचीत भी मूर्ति से हो सकती है, चर्चा भी हो सकती है। हालांकि और किसी को सुनाई नहीं पड़ेगी, सिर्फ आपको ही सुनाई पड़ेगी। लेकिन अगर दो-चार दिन भी अभ्यास छोड़ दें, तो चर्चा बंद हो जाएगी, मूर्ति फिर पत्थर मालूम होने लगेगी। वह जो सम्मोहन था, आपका प्रोजेक्शन था।
नहीं, पत्थर में भी भगवान खोजा जा सकता है। दो ढंग हैं--एक ढंग तो यह है
कि मैं पत्थर में भगवान मानूं और आरोपित करूं। तो निरंतर आरोपण करने से पत्थर में भगवान दिखाई पड़ने लगेंगे। वे भगवान मेरे ही कल्पित भगवान हैं, वह सच्चा योग नहीं है। नहीं, मैं पत्थर में भगवान मानूं ही नहीं। मैं तो सिर्फ अपने भीतर चित्त को विचारों से खाली करूं, खाली करूं, खाली करूं और वह घड़ी ले आऊं, जब कि चित्त बिल्कुल दर्पण की तरह शून्य हो जाए। पत्थर सामने होगा। भगवान उसमें प्रकट हो जाएंगे।
लेकिन यह भगवान मेरे कल्पित नहीं होंगे। क्योंकि कल्पना करने वाला चित्त और विचार तो मैं छोड़ चुका। कल्पना करने वाला मन तो मैं हटा चुका। अब तो वहां पत्थर है और यहां मेरी चेतना है। चेतना और पत्थर का मिलन हो जाए, तो पत्थर भगवान हो जाता है। लेकिन बिना चेतना के मिलन के, मन के ही आधार पर अगर मैं निरंतर चिंतन करता रहूं, मनन करता रहूं, अभ्यास करता रहूं कि यह मूर्ति भगवान है, भगवान है, भगवान है, ऐसा दोहराता रहूं, दोहराता हूं, दोहराता रहूं, तो एक दिन मैं वह भ्रांति पैदा कर लूंगा जिस दिन मूर्ति भगवान हो जाएगी।
पत्थर में भगवान प्रकट होते हैं, लेकिन उस आदमी के लिए, जिसका मन गिर जाता है। और जो मन से ही पत्थर में भगवान प्रकट करता है, वह झूठा योग है।

तो ऋषि कहता है, सच्चा और सिद्ध हुआ योग।
अनुभवित हो, अनुभव से ठहरा हो, जाना हो और फिर भी जरूरी नहीं--क्योंकि अनुभव भी काल्पनिक हो सकता है, अनुभव भी झूठा हो सकता है, अनुभव भी स्वप्नवत हो सकता है--इसलिए एक शर्त और लगाई, सच्चा। सच्चे का अर्थ यही है, दो तरह की संभावनाएं हैं हमारी। अगर हम मन से सत्य की तरफ चलें, तो जो भी होगा वह सच्चा नहीं, झूठा होगा। अगर हम मन को छोड़कर चलें, तो जो भी होगा वह सच्चा होगा। सत्य योग का अर्थ है, मन से साधा गया नहीं, मन के विसर्जन से पाया गया। झूठे योग का अर्थ है, मन से ही साधा गया। मन के पार कुछ भी पता नहीं।
उस आत्मस्वरूप के बिना अमरपद नहीं है। और वह जो सच्चा और सिद्ध हुआ योग है, उससे मिलने वाला जो अनुभव है, अमरपदं न तत स्वरूपम्, उसे जाने बिना, उसे पाए बिना अमर पद नहीं है। उसे पाए बिना अमृत की कोई उपलब्धि नहीं है, मृत्यु बनी ही रहेगी। इसका अर्थ हुआ, जहां तक मन होगा, वहां तक मृत्यु होगी। मन की सीमा मृत्यु की सीमा है। मन और मृत्यु एक ही अस्तित्व के नाम हैं। मन के पार अमृत है, मन की सीमा के पार अमृत है।
और अमृत को पाए बिना चैन नहीं मिल सकता--जन्म-जन्म, कोटि-कोटि जन्म भटककर भी चैन नहीं मिल सकता। क्योंकि जब मृत्यु पीछा कर रही हो निरंतर, तो कैसे चैन मिल सकता है? मृत्यु गले में हाथ डाले खड़ी हो निरंतर, तो कैसे चैन मिल सकता है? थोड़ी-बहुत देर भुलावा हो सकता है, वह दूसरी बात है। लेकिन फिर-फिर याद आ जाती है, फिर-फिर याद आ जाती है। मौत फिर-फिर घेर लेती है। अमृत को जाने बिना निश्चिंतता नहीं हो सकती। जब तक मुझे लगता है कि मिट जाऊंगा, मिट सकता हूं, तब तक प्राण कंपते ही रहेंगे।
एक बहुत कीमती विचारक हुआ पश्चिम में--सोरेन कीर्कगार्ड। उसने एक किताब लिखी है, उसमें उसने कहा है कि मैन इ.ज ए ट्रैम्बलिंग, आदमी एक कंपन है। पर व्हाई मैन इ.ज ए ट्रैम्बलिंग? बिका.ज आफ डेथ। आदमी क्यों एक कंपन है? मृत्यु के कारण। मृत्यु चौबीस घंटे सामने खड़ी हो, कंपेंगे नहीं तो क्या करेंगे? अमृत को पाए बिना कंपन नहीं मिटेगा। कंपन के मिटे बिना स्वभाव की सरलता, निर्दोषता अनुपलब्ध रहेगी।
ऋषि कहता है, उस आत्मस्वरूप के बिना अमरपद नहीं है।
उस आत्मपद को जानना ही पड़ेगा। उस आत्मस्वरूप को जानना ही पड़ेगा। उसे जानना ही पड़ेगा, जो है। उस मन को छोड़ना ही पड़ेगा, जो भरमाता है, भटकाता है, भ्रम पैदा करता है, स्वप्न जन्माता है।
आदिब्रह्म स्व-संवित्।
वह जो ब्रह्म है, वह जो चैतन्य है हमारे भीतर छिपा हुआ, आदि चैतन्य है हमारे भीतर, वह स्व-संवित है। यह बहुत कीमती विचार है उपनिषदों का--स्व-संवित्, सेल्फ-कांशस।
यहां हम बैठे हैं। बिजली बुझ जाए, तो फिर हम एक-दूसरे को दिखाई न पड़ेंगे निश्चित ही। क्योंकि एक-दूसरे का देखना जो है, वह स्व-प्रकाशित नहीं है, पर-प्रकाशित है। एक प्रकाश पर निर्भर है। यह बिजली जलती है, तो मैं आपको देख रहा हूं। बिजली बुझ गई, तो मैं आपको नहीं देख सकूंगा। सूरज है, तो मुझे रास्ता दिखाई पड़ रहा है; सूरज ढल गया, तो मुझे रास्ता दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि रास्ता स्व-प्रकाशित नहीं है। दूसरे से प्रकाशित है। मुल्ला नसरुद्दीन अपने कमरे में बैठा है। अमावस की रात है। एक मित्र मिलने आया है। सांझ थी, सूरज ढल रहा था, तब आया था। तब सब चीजें दिखाई पड़ती थीं। फिर गपशप में काफी वक्त निकल गया। रात अंधेरी हो गई। तो मित्र ने मुल्ला नसरुद्दीन से कहा कि तुम्हारे बाएं हाथ की तरफ दीया रखा है, ऐसा मैंने सांझ को देखा था। उसे जला क्यों नहीं लेते? मुल्ला ने कहा, आर यू मैड! अंधेरे में पता कैसे चलेगा कि कौन सा मेरा बायां हाथ है और कौन सा मेरा दाहिना?
और अगर अंधेरे में पता चलता है कि कौन सा बायां है और कौन सा दायां, तो भीतर कोई शक्ति है जो स्व-संवेदित है, स्व-प्रकाशित है। कुछ पता न चले, इतना तो पता चलता है कि मैं हूं। अंधेरे में कुछ पता न चले, इतना तो पता चलता है कि मैं हूं। अपना तो पता चलता है अंधेरे में भी। तो इसका मतलब यह हुआ कि अपने होने में जरूर कोई प्रकाश होगा, जो अंधेरे में भी दिखाई पड़ता

हूं मैं अपने को, कोई चेतना होगी। इतना तो तय है कि मेरा होना किसी और चीज के आधार से मुझे पता नहीं चलता, मेरे ही आधार से पता चलता है।
लेकिन हम भीतर तो कभी जाकर देखते नहीं कि वहां एक स्व-संवित्, स्व-प्रकाशित, स्व-ज्योतिर्मय तत्व मौजूद है। और कभी अगर देखें भी, तो हम ऐसी उलटी कोशिशें करते हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं।
एक रात मुल्ला नसरुद्दीन अपने घर के बाहर पकड़ लिया गया। दो बजे थे। पुलिस वाले ने जोर से धीमे-धीमे आकर उसकी कमर पकड़ ली। वह एक खिड़की में से झांक रहा था। घर उसी का था। अंधेरी रात थी। लेकिन पुलिस वाले को क्या पता? जब पुलिस वाले ने पकड़ा तो मुल्ला ने कहा, धीमे-धीमे, आवाज मत करना! कहीं वह जाग न जाए। उसने पूछा, कौन जाग न जाए? तुम खुद ही तो मुल्ला नसरुद्दीन मालूम पड़ते हो! उसने कहा कि मैं ही हूं, लेकिन चुप! उसने कहा, कर क्या रहे हो? बड़ी देर से मैं देख रहा हूं, तो मैं समझा कोई चोर। इधर-उधर घूमते हो, इस खिड़की से झांकते हो, उस दरवाजे से... ।
उसने कहा, तू बकवास तो मत कर। जोर से तो मत बोल। सुबह आना, बता दूंगा।
तो उसने कहा, मैं छोड़कर भी नहीं जा सकता। बात क्या है? नसरुद्दीन ने कहा, नहीं मानता, तो सुन। बात यह है कि लोग कहते हैं कि मैं नींद में उठकर चलता हूं। सो आई एम जस्ट चेकिंग। वे ठीक कहते हैं कि नहीं। मैं खिड़की में से देख रहा हूं कि मुल्ला चल तो नहीं रहा है। लेकिन कोई नहीं चल रहा है, बिस्तर पर भी कोई नहीं है। कोई सो भी नहीं रहा है, चलने का तो सवाल ही नहीं है। आधी रात खराब हो गई। अभी तक तो चलता हुआ दिखाई नहीं पड़ा। लोग कहते हैं, सोते में चलता हूं। जस्ट चेकिंग।
कभी-कभी जब हम अपने को भी ऐसे ही खोजने जाते हैं, तो ऐसे ही दरवाजे- खिड़की से झांकते हैं। अपने ही भीतर दरवाजे-खिड़की से झांकते हैं। वहां कोई न मिलेगा, क्योंकि जिसको खोजने गए हैं, वह बाहर खड़ा है।
स्व-संवित होने का अर्थ है, जिसे हम बाहर से नहीं जान सकते हैं। जिसे हमें भीतर से ही जानना पड़ेगा। जिसे हम भीतर से जान ही रहे हैं, पर न मालूम भूल गए हैं, विस्मरण हो गया है, याददाश्त खो गई है।
मुल्ला भागा जा रहा है अपने गधे पर बहुत तेजी से। सारा गांव चौकन्ना
हो गया है। सड़क पर लोगों ने रास्ते छोड़ दिए हैं। लोगों ने चिल्लाकर पूछा कि मुल्ला जा कहां रहे हो? मुल्ला ने कहा, मेरा गधा खो गया है। तो लोगों ने कहा, ठहरो, तुम गधे पर सवार हो। उसने कहा, अच्छा बताया। मैं इतनी तेजी में था कि मैं सारी जमीन खोज आता और पता न चलता कि गधे पर बैठा हुआ हूं। मैं तेजी में था, इन टू मच हरी। बहुत जल्दी में था। ठीक किया लोगो, जो याद दिला दिया। अन्यथा आज बड़ी भूल हो जाती, लौटना मुश्किल हो जाता, क्योंकि नीचे देखने की फुर्सत किसको है! मेरी आंखें तो आगे टिकी थीं कि गधा है कहां। चारों तरफ देख रहा था; और नीचे देखने का मौका, मैं कहता हूं, निश्चित ही न आता। क्योंकि जो चारों तरफ देख रहा है, वह नीचे कैसे देखेगा?
जो बाहर देख रहा है, वह भीतर कैसे देखेगा?
स्व-संवित का अर्थ है कि हमारे भीतर वह जो आदि चेतना है, वह जो ओरिजनल कांशसनेस है, वह जो सदा से हमारे भीतर है, वह हमें भूल गई है, क्योंकि हम उस पर ही सवार हैं और उसी को खोज रहे हैं। तो खोजते रहें। ऋषि चिल्लाकर कहते हैं कि जरा ठहरो, किसे खोजने निकले हो? जरा रुको, जरा सुनो भी! क्योंकि तुम जिसे खोजने निकले हो, कहीं उसी पर तो सवार नहीं हो! कहीं तुम वही तो नहीं हो, जिसको खोजने निकले हो!
जो जानते हैं, वे कहते हैं, द सीकर इ.ज द साट। वह जो खोज रहा है, उसकी ही खोज चल रही है, इसलिए हो नहीं पाती, इसलिए असफलता हो जाती है।
झेन फकीर कहते हैं, डोन्ट सीक, इफ यू वान्ट टु सीक। खोजो ही मत, अगर खोजना है। रुक जाओ। क्योंकि खोजने में तो दौड़ना पड़ेगा। ठहर जाओ। और एक दफा देखो तो कि तुम कौन हो? तुम किसे खोजने निकले हो? कहीं वह तुम्हारे भीतर ही तो नहीं है?
स्व-संवित का अर्थ होता है, जिसे जानने के लिए किसी और प्रकाश की जरूरत न पड़ेगी, और जिसे पहचानने के लिए किसी से पूछना न पड़ेगा। जिसके होने में ही जिसकी पहचान छिपी है, जिसके होने में ही जिसका प्रकाश छिपा है, जो अपने से ही प्रकाशित है। दूसरे किसी प्रकाश की कोई भी जरूरत नहीं है।

अजपा गायत्री है। विकार-मुक्ति ध्येय है।
गायत्री तो हम सब जानते हैं कि क्या है। लेकिन ऋषि कहता है, अजपा गायत्री। लेकिन जिस गायत्री को हम जानते हैं, वह तो जपी जाती है। वह तो जपा है। तो यह ऋषि तो उलटी बात कह रहा है। यह कह रहा है, अजपागायत्री विकारदंडो ध्येयः। जिसे जपा ही नहीं जा सकता, उसमें ठहर जाना गायत्री है। जिसका कोई नाम ही नहीं, जपोगे कैसे? जिसका कोई शब्द नहीं, जपोगे कैसे? जिसका कोई रूप नहीं, उसे जपोगे कैसे? सब छोड़कर, जप भी छोड़कर जहां पहुंचा जाता है, वहां गायत्री है। वही मंत्र है, जहां मंत्र भी नहीं रह जाता। जहां प्रभु का नाम भी नहीं रह जाता, वहीं उसके नाम की उपलब्धि है--अजपा।
अगर हम अपने भीतर देखें, शब्द हम बोलते हैं, जब हम शब्द बोलते हैं, उसके पहले भी शब्द होता है एक पर्त नीचे--जब हम शब्द को सोचते हैं--बोला नहीं गया अभी शब्द, सिर्फ सोचा गया है। अभी बाहर प्रकट नहीं हुआ, अभी भीतर ही प्रकट हुआ। लेकिन सोचा गया शब्द जब भीतर प्रकट होता है, उसके पहले भी होता है। तब वह सोचा भी नहीं गया होता है।
कई दफे आपको लगा होगा कि किसी का नाम खो गया है। याद है--लोग कहते हैं, जीभ पर रखा है--फिर भी याद नहीं आता। बड़े अजीब लोग हैं। अगर जीभ पर ही रखा है, तो अब और क्या दिक्कत है? मगर उनकी कठिनाई मैं समझता हूं। उनकी कठिनाई सच्ची है, जीभ पर ही रखा है। उन्हें पक्का पता है कि याद है और याद नहीं आ रहा है। ये दोनों बातें एक साथ हो रही हैं। इसका मतलब यह हुआ कि उन्हें याद है। यह याद कहां होगा? यह याद उनके विचार के तल के नीचे है; और विचार के तल में पकड़ में नहीं आ रहा है।
और कई दफा अगर आप बहुत कोशिश करें--इन टू मच हरी, सवार हो जाएं खोजने के लिए--न मिलेगा। घबड़ा जाएंगे, परेशान हो जाएंगे, सिर पीट लेंगे। फिर भूल जाएंगे। छोड़ देंगे कि जाने दो। चाय पी रहे हैं और अचानक, वह जो नहीं मिल रहा था, निकल आया और आ गया। यह कहां से आया? यह कहां था? निश्चित ही यह विचार में तो नहीं था, नहीं तो आप पहले ही पकड़ लेते। यह विचार से नीचे के तल पर था।
तीन तल हुए--एक वाणी में प्रकट हो, एक विचार में प्रकट हो, एक विचार के नीचे अचेतन में हो। ऋषि कहते हैं, उसके नीचे भी एक तल है। अचेतन में भी होता है, तो भी उसमें आकृति और रूप होता है। उसके भी नीचे एक तल है, महाअचेतन का कहें, जहां उसमें रूप और आकृति भी नहीं होती। वह अरूप होता है। जैसे एक बादल आकाश में भटक रहा है। अभी वर्षा नहीं हुई। ऐसा एक कोई अज्ञात तल पर भीतर कोई संभावित, पोटेंशियल विचार घूम रहा है। वह अचेतन में आकर अंकुरित होगा, चेतन में आकर प्रकट होगा, वाणी में आकर अभिव्यक्त हो जाएगा। ऐसे चार तल हैं।
गायत्री उस तल पर उपयोग की है जो पहला तल है, सबसे नीचे। उस तल पर अजपा
का प्रवेश है।
तो जप का नियम है। अगर कोई भी जप शुरू करें--समझें कि राम-राम जप शुरू करते हैं, या ओम्, कोई भी जप शुरू करते हैं; या अल्लाह, कोई भी जप शुरू करते हैं--तो पहले उसे वाणी से शुरू करें। पहले कहें, राम, राम; जोर से कहें। फिर जब यह इतना सहज हो जाए कि करना न पड़े और होने लगे; इसमें कोई एफर्ट न रह जाए पीछे, प्रयत्न न रह जाए, यह होने लगे; जैसे श्वास चलती है, ऐसा हो जाए कि राम, राम चलता ही रहे, तो फिर ओंठ बंद कर लें। फिर उसको भीतर चलने दें। फिर बोलें न राम, राम; फिर भीतर बोल चले राम, राम।
फिर इतना इसका अभ्यास हो जाए कि उसमें भी प्रयत्न न करना पड़े, तब इसे वहां से भी छोड़ दें, तब यह और नीचे डूब जाएगा। और अचेतन में चलने लगेगा-- राम, राम। आपको भी पता न चलेगा कि चल रहा है, और चलता रहेगा। फिर वहां से भी गिरा दिए जाने की विधियां हैं और तब वह अजपा में गिर जाता है। फिर वहां राम, राम भी नहीं चलता। फिर राम का भाव ही रह जाता है--जस्ट क्लाउडी, एक बादल की तरह छा जाता है। जैसे पहाड़ पर कभी बादल बैठ जाता है धुआं-धुआं, ऐसा भीतर प्राणों के गहरे में अरूप छा जाता है।
उसको कहा है ऋषि ने, अजपा। और जब अजपा हो जाए कोई मंत्र, तब वह गायत्री
बन गया। अन्यथा वह गायत्री नहीं है।

और क्या है इस अजपा का उपयोग? इस अजपा से सिद्ध क्या होगा? इससे सिद्ध होगा, विकार-मुक्ति। विकारदंडो ध्येयः। इस अजपा का लक्ष्य है विकार से मुक्ति।
यह बहुत अदभुत कीमिया है, केमेस्ट्री है इसकी। मंत्र शास्त्र का अपना पूरा रसायन है। मंत्र शास्त्र यह कहता है कि अगर कोई भी मंत्र का उपयोग अजपा तक चला जाए, तो आपके चित्त से कामवासना क्षीण हो जाएगी, सब विकार गिर जाएंगे। क्योंकि जो व्यक्ति अपने अंतिम अचेतन तल तक पहुंचने में समर्थ हो गया, उसको फिर कोई चीज विकारग्रस्त नहीं कर सकती। क्योंकि सब विकार ऊपर-ऊपर हैं, भीतर तो निर्विकार बैठा हुआ है। हमें उसका पता नहीं है, इसलिए हम विकार से उलझे रहते हैं।
ऐसा समझें कि एक घाटी है अंधेरी, और सीलन से भरी और बदबू से भरी। और जंगली जानवर हैं और सांप हैं और सब कुछ उपद्रव है। एक आदमी उस घाटी में है। वह बड़ा परेशान है कि सांपों से कैसे बचूं और सिंह न खा जाए और कोई हमला न कर दे और अंधेरा है और बदबू है और बीमारी है। फिर वह आदमी पहाड़ पर चढ़ना शुरू कर देता है। फिर वह थोड़ा ऊपर पहुंचता है, और सूरज की रोशनी मिल जाती है। वहां अंधेरा नहीं है। वहां सांप नहीं सरकते। घाटी में अब भी सरक रहे होंगे। पर वह आदमी घाटी के बाहर आ गया। वह आदमी और ऊपर चलता है, वह प्रकाश-उज्ज्वल शिखर पर पहुंच जाता है, जहां कोई भय नहीं। अब भी घाटी में सांप सरक रहे होंगे।
ठीक ऐसे ही जो अजपा तक किसी ध्वनि को पहुंचा लेता है, वह अपने भीतर उस गहराई में पहुंच जाता है, जहां विकार नहीं चलते, वे सतह पर चलते हैं--ऊपर-ऊपर। हम वहीं लड़ते रहते हैं, इसलिए परेशान रहते हैं।
मंत्र शास्त्र कहता है, वहां मत लड़ो, वहां से हट जाओ। तुम्हारे भीतर
और भी बड़ी जमीन हैं। तुम्हारे भीतर और भी फैलाव हैं। तुम्हारे भीतर और गहराइयां हैं, और शिखर हैं, वहां हट जाओ। लड़ो मत।
और एक दफा हट जाओ और अपने शिखरों को जान लो, फिर तुम लौटकर भी आ जाओगे उसी जगह पर, तो तुम वही आदमी नहीं हो। तब तुम अपने भीतर इतनी महिमा को जानकर लौटे हो कि तुम्हें क्षुद्र विकार पराजित न कर सकेंगे। तब तुम अपनी इतनी शक्ति से परिचित होकर लौटे हो कि तुम्हें अंधेरा भयभीत न कर सकेगा। तब तुमने अपने स्वरूप का दर्शन किया है और अब तुम्हें कोई भी लुभा न सकेगा। पर एक दफा वहां तक हो आओ।
तो अजपा का उपयोग है विकार-मुक्ति के लिए। और प्रत्येक विकार से मुक्ति के लिए विशेष-विशेष मंत्रों की व्यवस्था है। अगर कोई आदमी क्रोध से पीड़ित है, तो एक विशेष ध्वनि और मंत्र का आयोजन किया जाता है। उसको वह अजपा तक ले जाए, तो क्रोध के बाहर हो जाएगा। कामवासना से पीड़ित है, तो दूसरा। भय से पीड़ित है, तो तीसरा। ध्वनियों के ऐसे समूह हैं, जिनके माध्यम से आपके विकारों को चोट की जाती है और तिरोहित किया जा सकता है।
कुछ महाध्वनियां हैं। महाध्वनियां ऐसी औषधियां हैं, जो सभी विकारों
पर काम करती हैं। जैसे अभी हम एक ध्वनि का उपयोग कर रहे हैं--हुंकार। वह महाध्वनि है। उसकी चोट इतनी गहरी है कि अलग-अलग विकारों से लड़ने की जरूरत नहीं है। अगर वह एक ही चोट अजपा तक पहुंच जाए, तो सब विकार विसर्जित हो जाएं।
अल्लाह शब्द से हम सब परिचित हैं। अल्लाह शब्द में भी हुंकार का ही उपयोग है। और जब कोई साधक अल्लाह का उपयोग करता है, तो जो उपयोग बनता है वह होता है--अल्लाहू, अल्लाहू, अल्लाहू। फिर अल्ला छूट जाता है और लाहू, लाहू, लाहू। फिर ला भी छूट जाता है, फिर हू, हू, हू। और आखिर में हू डूबता चला जाता है और अजपा बन जाता है। जब हू अजपा बन जाता है, तो सब विकार तिरोहित हो जाते हैं।
तिब्बती मंत्र है, महामंत्र है--ओम मणि पद्मे हुं। वह हुं, हू का रूप है। ओम भी हू जैसा काम कर सकता है। लेकिन अब शायद नहीं। बहुत सरल लोग हों, तो ओम भी हू का काम करता है, लेकिन बहुत जटिल लोग हों तो काम नहीं करता। क्योंकि ओम की जो चोट है, वह बहुत माइल्ड है। ओम की जो चोट है, वह बहुत माइल्ड है। हू की चोट बहुत गहरी है। घाव गहरा है।

ओम की चोट बहुत माइल्ड है। वह बहुत कम मात्रा की दवा है। वह उनके लिए उपयोग में लाई गई थी, जो ज्यादा बीमार ही नहीं थे। सरल चित्त लोग थे, निर्दोष लोग थे, चालाक न थे, कनिंग न थे, बेईमान न थे। सरल थे। ओम काफी था। होमियोपैथी की छोटी सी मात्रा उनकी बीमारी को ठीक करती थी। अब एलोपैथी के बिना नहीं चल सकता। हू एलोपैथिक है। ओम होमियोपैथिक है। हू की चोट भयंकर है। गहरे से गहरे तक जाने वाली है। वह अजपा में उतर जाए, तो हू गायत्री बन जाएगा और विकार विसर्जित हो जाएंगे। कोई भी मंत्र गायत्री बन जाता है, जब अजपा हो जाए। यही इस सूत्र का अर्थ है, अजपागायत्री विकारदंडो ध्येयः। मन का निरोध ही उनकी झोली है।
वे जो संन्यासी हैं, उनके कंधे पर एक ही बात टंगी हुई है चौबीस घंटे--
मन का निरोध, मन से मुक्ति, मन के पार हो जाना। चौबीस घंटे उनके कंधे पर है। आपने एक शब्द सुना होगा, खानाबदोश। यह बहुत बढ़िया शब्द है। इसका मतलब होता है, जिनका मकान अपने कंधे पर है। खाना-बदोश। खाना का मतलब होता है मकान--दवाखाना--खाना यानी मकान। दोश का मतलब होता है कंधा, बदोश का मतलब होता है, कंधे के ऊपर। जो अपने कंधे पर ही अपना मकान लिए हुए हैं, उनको खानाबदोश कहते हैं--घुमक्कड़ लोग, जिनका कोई मकान नहीं है, कंधे पर ही मकान है।
संन्यासी भी अपने कंधे पर एक चीज ही लिए चलता है चौबीस घंटे--मन का निरोध। वही उसकी धारा है सतत श्वास-श्वास की, मन के पार कैसे जाऊं? क्योंकि मनातीत है सत्य। मन के पार कैसे जाऊं? क्योंकि मनातीत है अमृत। मन के पार कैसे जाऊं? क्योंकि मनातीत है प्रभु।
जाया जा सकता है। ध्यान उसका मार्ग है।

आज इतना ही।

फिर हम अब ध्यान में लगें। चलें मन के पार।
एक पांच मिनट तीव्र श्वास ले लेंगे, ताकि शक्ति जग जाए। दूर-दूर फैल जाएं। जो लोग तेजी से करते हों, वे करीब हों। जिन्हें धीमे करना हो, वे पीछे फैल जाएं। जो लोग बहुत दूर वहां अंधेरे में बैठे हैं, वे भी यहां पास आ जाएं, ताकि मैं उन्हें दिखाई पड़ सकूं। क्योंकि नजर मुझ पर रखनी है।
जब आप पूरी ताकत में आ जाएंगे, तब मैं अपने हाथ हिलाना शुरू करूंगा, उसके साथ अपनी ताकत को बढ़ाए चले जाएं। और जब मैं ऊपर हाथ ले जाऊं, तब अपनी पूरी शक्ति लगा दें। और जब मुझे लगेगा कि आप अपनी पूरी शक्ति में हैं और वह वातावरण पैदा हो गया है जहां प्रभु को निमंत्रित किया जा सकता है, तो मैं हाथ ऊपर से उलटे करके नीचे लाऊंगा, तब आप बिल्कुल पागल हो जाएं।
अनेक मित्रों को शक्तिपात का कल अनुभव हुआ है। कोई भी वंचित नहीं रहेगा। अगर आप अपनी पूरी शक्ति लगाएंगे, तो वह अनुभव होना सुनिश्चित है। पहले पांच मिनट गहरी श्वास ले लें, फिर शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
दसवां प्रवचन

आनंद और आलोक की अभीप्सा, उन्मनी गति और परमात्म-आलंबन

योगेनसदानंदस्वरूप दर्शनम्।
आनंद भिक्षाशी।
महाश्मशानेऽप्यानंद वने वासः।
एकांतस्थान मठम्।
उनमन्यवस्था शारदा चेष्टा।
उन्मनी गतिः।
निर्मलगात्रम निरालंब पीठम्।
अमृतकल्लोलानंद क्रिया।

योग द्वारा वे सदैव आनंद-स्वरूप का दर्शन करते हैं।
आनंद-रूप भिक्षा का भोजन करते हैं।
महाश्मशान में भी आनंददायक वन के समान निवास करते हैं।
एकांत ही उनका मठ है।
प्रकाश-अवस्था के लिए वे नित-नूतन चेष्टा करते हैं।
अ-मन में ही वे गति करते हैं।
उनका शरीर निर्मल है, निरालंब आसन है।
जैसे निनाद करती अमृत-सरिता बहती है, ऐसी उनकी क्रिया है।

आनंद सदैव न हो तो आनंद नहीं है। दुख आता है, जाता है। सुख भी आता है और जाता है। जो न आता कभी और जो न कभी जाता है, उसका नाम ही आनंद है। जो है ही हमारे भीतर, जो हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। जो भी आता है और जाता है, वह पर भाव है। वह स्वभाव नहीं है। वह हम नहीं हैं। जो भी हम पर आ जाता है और चला जाता है, वह हम नहीं हैं। हम तो वह हैं, जिस पर दुख आता है, जिस पर सुख आता है। हम भिन्न हैं। जिस पर सुख-दुख आते हैं, वह स्वभाव आनंद-स्वरूप है।
पर हमें उस स्वभाव का पता ही नहीं चलता। हम उसमें ही उलझे रहते हैं, जो आता है और जाता है। झेन फकीर कहते हैं, द होस्ट इ.ज लॉस्ट इन द गेस्ट्स। वह जो मेजबान है, वह मेहमानों में खो गया है। घर का जो मालिक है, जो आतिथेय है, वह अतिथियों की सेवा करते-करते यह भूल ही गया है कि मैं भी हूं--अतिथियों से अलग, भिन्न, पृथक।
ऐसे ही हम अतिथियों की सेवा करते-करते भूल ही गए हैं कि हम कौन हैं। दुख जिसमें निवास कर लेता है, सुख जिसमें निवास कर लेता है, वह कौन है? वह कौन है जो अनुभव करता है कि मैं दुखी हो रहा हूं? वह कौन है जो अनुभव करता है कि मैं सुखी हो रहा हूं?
निश्चित ही, वह सुख और दुख से अलग है, क्योंकि अनुभव करने वाला अलग ही होगा। अनुभोक्ता पृथक ही होगा। मैं इस वृक्ष को देखता हूं, तो मैं वृक्ष से अलग हो गया। मैं आपको देखता हूं, तो मैं आपसे अलग हो गया। मैं अपने शरीर को देखता हूं, तो मैं अपने शरीर से अलग हो गया। वह जो देखने वाला है, वह दृश्य से अलग हो गया। हो ही जाएगा, नहीं तो देख नहीं पाएगा। अगर द्रष्टा दृश्य से अलग न हो, तो देखेगा कैसे! देखने के लिए फासला चाहिए, डिस्टेंस चाहिए, दूरी चाहिए।
तो जिसे भी हम देख पाते हैं, उससे हम भिन्न हो जाते हैं। इसीलिए हम परमात्मा को देख नहीं पाते। क्योंकि उससे हम भिन्न नहीं हैं। उससे हम अभिन्न हैं। देखेगा कौन? देखेगा किसको? उसके साथ हम एक हैं। जिसे हम छू पाते हैं, उससे अलग हो जाते हैं; जिसे सुन पाते हैं, उससे अलग हो जाते हैं। इंद्रियां जो भी जानती हैं, उससे हम अलग हो जाते हैं। मन जो भी पहचानता है, उससे हम अलग हो जाते हैं।
सुख को भी जानते हैं। जब सुख आता है, तब आप भलीभांति जानते हैं कि सुख आया। दुख आता है, भलीभांति जानते हैं, दुख आया। जाता है, तब भी जानते हैं कि

दुख जा रहा है। यह जो जानने वाला है, यह अलग है, यह भिन्न है। यही स्वरूप है।
इस स्वरूप में वे योग के द्वारा थिर हो जाते और सदैव आनंद का अनुभव करते हैं।
और जो व्यक्ति भी इस भीतर के स्वरूप में थिर हो जाता है, रमण को उपलब्ध
हो जाता है, स्वयं में स्वस्थ हो जाता है, स्वयं में स्थित हो जाता है, ऐसा व्यक्ति सदैव, उपनिषद का ऋषि कहता है, सदैव आनंद में डूबा रहता है। क्या फिर उसके ऊपर दुख नहीं आते? क्या फिर बीमारी नहीं आती? क्या फिर जरा नहीं आती? क्या फिर मृत्यु नहीं आती?
नहीं, मृत्यु तो फिर भी आती है, लेकिन उस पर नहीं आती अब। वह पार और दूर
और अछूता, अनटच्ड खड़ा रह जाता है। दुख तो अब भी आते हैं, बीमारियां अब भी आती हैं, पैरों में अब भी कांटे गड़ते हैं, बुढ़ापा अब भी आता है, लेकिन अब उस पर नहीं आता। वह दूर खड़ा रह जाता है, अस्पर्शित, कमल के पत्ते जैसा। पानी की बूंद उस पर पड़ी है, लेकिन फिर भी छूती नहीं। पानी में डूबा है पत्ता, फिर भी दूर। पानी और पत्ते के बीच एक बारीक फासला है।
जीसस को सूली लगती है, तो शरीर तो मर जाता है, पर जीसस दूर खड़े रह जाते हैं। मंसूर काटा जाता है, तो शरीर तो टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, लेकिन मंसूर हंसता रहता है। और जब कोई भीड़ में से पूछता है कि मंसूर, हंसने जैसा इसमें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। हाथ-पैर काटे जा रहे हैं। मंसूर कहता है, तुम जिसे काटते हो, अगर वह मैं होता, तो निश्चित न हंसता, न हंस पाता। हंस रहा हूं इसलिए कि तुम जिसे समझ रहे हो कि मैं हूं, वह मैं नहीं हूं। और जो मैं हूं, उसे तुम काट न पाओगे।
स्वरूप को, आनंद को अनुभव करने वाला व्यक्ति दुख से घिर सकता है, लेकिन दुख के तादात्म्य में नहीं पड़ता। अंधेरा उसे घेर ले सकता है, लेकिन वह स्वयं अंधकार कभी नहीं होता। हमारे और उसके बीच एक ही फर्क है। जो हमें घेरता है, हम उसके साथ अपने को एक ही मान लेते हैं। ऐसा नहीं कहते हम कि मुझ पर दुख आया, कहते हैं, मैं दुखी हो गया। एक आइडेंटिटी बना लेते हैं। गुरजिएफ की सारी साधना एक ही बात की थी। वह कहता था, नान-आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य तोड़ना--बस यही साधना है। हम चीजों से जुड़ जाते हैं। और इतने जुड़ जाते हैं कि लगने लगता है, यही मैं हूं। जैसे दर्पण में कोई तस्वीर बने और दर्पण समझ ले कि यह तस्वीर ही मैं हूं। जैसे झील में चांद दिखाई पड़े और झील कहने लगे, चांद मैं हूं, ऐसे हम हो जाते हैं।
दुख छलकता है भीतर, छाया बनती है दुख की, मैं दुख हो जाता। सुख आता है, मैं सुख हो जाता। अशांति आती है, मैं अशांति हो जाता। शांति आती है, मैं शांति हो जाता। अपने को पार नहीं रख पाता, दूर नहीं रख पाता कि जो आ रहा है, वह मैं नहीं हो सकता, क्योंकि मैं तो उसके आने के पहले से ही मौजूद हूं। जब नहीं दुख आया था, तब भी मैं था; और जब दुख चला जाएगा, तब भी मैं होऊंगा, तो मेरा होना दुख के साथ एक नहीं हो सकता। कितना ही, कितना ही दुख घेर ले, तब भी मैं किसी तल पर दूर ही खड़ा रह जाता हूं।
इस दूरी की प्रतीति, इस तादात्म्य का टूट जाना, नान-आइडेंटिफिकेशन योग है।
और ऋषि कहता है, योगेन, योग के द्वारा वे सदैव आनंद-स्वरूप में स्थित, सदैव आनंद का दर्शन करते रहते हैं।
क्षणभर को भी फिर आनंद स्खलित नहीं होता। क्षणभर को भी आनंद से संबंध नहीं टूटता। अभी भी टूटा नहीं है। सिर्फ स्मरण नहीं है। आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य स्मृति को नष्ट करता है, स्थिति को नहीं।
विवेकानंद निरंतर एक कहानी कहा करते थे। बहुत पुरानी कथा है भारतीय मनीषियों की। एक सिंहनी ने छलांग लगाई एक पर्वत से। छलांग के बीच ही उसको बच्चा हो गया। वह गर्भिणी थी। नीचे भेड़ों की एक भीड़ गुजरती थी, वह बच्चा उसमें गिर गया। भेड़ों ने उसे बड़ा किया। भेड़ों के बीच ही वह रहा, भेड़ों का ही दूध पीया, भेड़ें ही उसकी मां थीं, पिता थे, संगी-साथी थे, मित्र थे। उस सिंह को कभी पता ही नहीं चला कि वह सिंह है। पता चलता भी कैसे! पता चलने का कोई उपाय भी न था। वह सिंह अपने को भेड़ मानकर बड़ा हुआ। हालांकि उसके मानने से कुछ फर्क न पड़ा। रहा वह सिंह ही। लेकिन फिर भी फर्क पड़ा। फर्क यह पड़ा कि

वह भेड़ जैसा वर्तन करने लगा। भेड़ तो था नहीं, हो भी नहीं सकता था। लेकिन भेड़ जैसा वर्तन आविष्ट हो गया।
एक दिन बड़ी अनूठी घटना घटी। एक सिंह ने उस भेड़ों की भीड़ पर हमला किया।
तो वह सिंह देखकर चकित हुआ कि उस भेड़ों की भीड़ में भेड़ों से बहुत ऊपर उठा हुआ एक सिंह भी चल रहा है। भेड़ों जैसा ही घसर-पसर, उनके साथ ही। न भेड़ें भागती हैं उससे, न वह सिंह। इस सिंह को देखकर भेड़ें भागीं, वह सिंह भी भागा। सिंह तो बहुत चकित हुआ कि इस सिंह को क्या हो गया!
आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य हो गया। भेड़ों के बीच रहते-रहते, रहते- रहते, भेड़ों की आकृति मन में बनते-बनते दर्पण ने समझा कि मैं भेड़ हूं। सिंह ने भेड़ों की तो फिक्र छोड़ दी--इस दूसरे सिंह ने--उस सिंह को पकड़ने
की चेष्टा की। बामुश्किल पकड़ पाया, क्योंकि था तो वह सिंह, तो भागता सिंह की तरह था। गति उसकी सिंह की थी, मान्यता उसकी भेड़ की थी। बाकी तो किसी भी भेड़ को पकड़ लेना उस दूसरे सिंह को बड़ा आसान था, इस सिंह को तो वह घंटों के बाद बामुश्किल पकड़ पाया। पकड़ते से ही वह सिंह तो मिमियाने लगा, जैसा भेड़ें मिमियाती हैं।
उसको तो गर्जना का कोई पता ही न था। गर्जना अब भी उसके हृदय के किसी कोने में पड़ी थी, अभी भी बीज थी, अभी भी अंकुरित नहीं हुई थी। उसे सिंह-गर्जन का कोई अनुभव ही नहीं था। कर सकता था, कैपेसिटी थी, क्षमता थी, लेकिन योग्यता न थी। कैपेबिलिटी और एबिलिटी का फर्क। कैपेबल था। कोई कारण न था, जब चाहे तब सिंह-गर्जना कर सकता था। लेकिन योग्यता न थी, क्योंकि योग्यता तो तादात्म्य ने नष्ट कर दी थी। ख्याल में ही नहीं था।
दूसरे सिंह ने पकड़ा, तो हाथ-पैर जोड़ने लगा, सिर रखने लगा उसके पैरों पर, मिमियाने लगा। आंखों से आंसू बहने लगे। कहने लगा, क्षमा करो। छोड़ दो। उस दूसरे सिंह ने कहा, तुझे हो क्या गया है? तू भेड़ नहीं है! उसने कहा, नहीं, मैं भेड़ हूं। मैं भेड़ ही हूं। तुम भूल में पड़े हो। सिंह ने बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन समझाने से कहीं कुछ समझ में आता है? जितना वह समझाने लगा, उतना वह और घबराने लगा। वह कहने लगा, तुम मुझे सिर्फ छोड़ दो। मुझे ज्ञान की कोई जरूरत नहीं है। मुझे मेरे मित्रों के पास जाने दो। उनके बिना मैं बहुत घबरा रहा हूं।
भेड़ भीड़ के बिना नहीं जी सकती। एकांत में तो सिंह ही जी सकता है। भेड़
तो भीड़ में ही जी सकती है। क्योंकि उसे सुरक्षा मालूम पड़ती है, सब तरफ अपने हैं। परिवार, प्रियजन, मित्र, पत्नी, बेटे, सब अपने हैं। तो भीड़ के बीच में भेड़ सुरक्षित है, कोई डर नहीं है। अपने पर जिसे भरोसा नहीं है, उसे सदा भीड़ पर भरोसा होता है। भीड़ ही उसका सहारा है। सिंह अकेला जी सकता है, लेकिन सिंह होने का पता हो तब न। सिंह को भीड़ में नहीं रखा जा सकता।
कोई उपाय न देखकर उस सिंह ने उसको घसीटा। घसिट गया, क्योंकि वह भेड़ था। ऐसे जवान था और यह बूढ़ा था। लेकिन जवान सिंह बूढ़े सिंह से घसिट गया, क्योंकि बूढ़ा हो तो भी सिंह था। यह जवान हो तो भी भेड़ था। घसीट लिया उसने उसे। नदी के किनारे ले गया और कहा कि देख पानी में, मेरी शकल और तेरी शकल में कोई फर्क है? झांका, झांकते ही गर्जना निकल गई। वह बीज की तरह जो पड़ी थी, अंकुरित हो गई। झांककर देखा, दोनों शकलें एक सी थीं। रोमांच हो गया होगा, रोएं खड़े हो गए। भूल गया कि भेड़ हूं, गर्जना फूट पड़ी भीतर से।
गुरु का काम समझाना कम, दिखाना ज्यादा है। कहीं किसी प्रतिबिंब में समझाना ज्यादा है कि जो मेरी शकल है, वही तुम्हारी भी शकल है। जो मेरे भीतर छिपा है, वही तुम्हारे भीतर भी छिपा है। किसी भी क्षण गर्जना निकल सकती है, क्योंकि वह भीतर का स्वभाव है।
ऋषि कहता है, सदैव उस आनंद का अनुभव हो सकता है, लेकिन योग के द्वारा। योग का अर्थ है वे प्रक्रियाएं, जिनके द्वारा आप अपनी असली शकल को पहचान लेंगे। अपनी मौलिक दशा को, ओरिजनल स्टेट को समझ लेंगे।
बड़े आइडेंटिफिकेशन हैं। उस सिंह पर तो ज्यादा मुसीबत न थी, एक ही उसका तादात्म्य था कि मैं भेड़ हूं। हमारे तादात्म्य का कोई अंत नहीं। हजार-हजार तादात्म्य हैं। मैं हिंदू हूं, मैं मुसलमान हूं; मैं स्त्री हूं, मैं पुरुष हूं; मैं शरीर हूं, मैं मन हूं; मैं यह हूं, मैं वह हूं। कितने हजार! मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं; मैं सुंदर हूं, मैं कुरूप हूं; मैं दुर्बल

हूं, मैं सबल हूं। कितने! उस सिंह की तो ज्यादा कठिनाई न थी, इसलिए गुरु को बहुत आसानी पड़ी। सिर्फ नदी में चेहरा दिखा दिया। आपके इतने चेहरे हैं कि आपको पक्का पता ही नहीं कि आपका असली चेहरा क्या है। अगर नदी में भी आपको झुकाया जाए, तो आप कोई दूसरी ही मास्क जो उस वक्त अपने चेहरे पर ओढ़े होंगे, वही दिखाई पड़ेगी पानी में भी। और चेहरे इतने हैं हमारे पास कि हम चेहरों का एक संग्रह हैं।
सब तादात्म्य तोड़ने पड़ें, तो स्वरूप का पता चलता है। सब मुखौटे उतारने पड़ें, तो स्वरूप का पता चलता है।
योग प्रक्रिया है हमारे चेहरों को तोड़ डालने की, फाड़ डालने की--सब चेहरों को, जो चेहरे भी हटाए जा सकते हैं, उन्हें हटा डालने की। जो नहीं हटाया जा सकता, वही हमारा ओरिजनल फेस, वही हमारा मौलिक चेहरा है। जो नहीं हटाया जा सकता। जो नहीं काटा जा सकता। न कोई योग काट सकता, न कोई तलवार काट सकती, न कोई विधि मिटा सकती। सब उपाय मिटाने के करने के बाद भी जो पीछे सदा शेष रह जाता है, जिसको मिटाने का कोई उपाय नहीं, हटाने का कोई उपाय नहीं, वही मेरा स्वभाव है।
तो जिसको भी आप हटा सकते हैं, समझना, वह चेहरा है। आप कहते हैं, मैं हिंदू हूं, मैं मुसलमान हूं, मैं ईसाई हूं। इसे हटाने में कोई दिक्कत है! ईसाई को हिंदू होने में कोई अड़चन है? हिंदू को मुसलमान होने में कोई दिक्कत है? जाकर चोटी कटा ले, मस्जिद में चला जाए, मुसलमान हो गए। नमाज पढ़ने लगे, कल तक प्रार्थना पढ़ रहे थे। चेहरे के बदलने में जहां इतनी सुविधा हो, वह ओरिजनल फेस नहीं हो सकता। वह मुखौटा है। अभी हिंदू का मुखौटा लगाए थे, अभी मुसलमान का मुखौटा लगा लिया। गरीब को अमीर होने में कोई बड़ी अड़चन है? डाका डालना भर आना चाहिए। और तो कोई अड़चन नहीं है। अमीर को गरीब होने में कोई अड़चन है?
मुल्ला नसरुद्दीन के दरवाजे पर एक भिखारी एक सुबह खड़ा हुआ भीख मांग रहा है। मुल्ला ने उससे कहा, तेरी यह हालत कैसे हो गई? ऐसे तो स्वस्थ दिखाई पड़ता है। तेरी यह हालत कैसे हो गई? जार-जार आंख से उस भिखारी के आंसू गिरने लगे। उसने कहा, मत पूछो मेरा हाल। बड़ी बेहाली का है। मुल्ला ने जल्दी से सौ रुपए का एक नोट निकाला और उसको दिया। उसने आंसू पोंछकर खीसे में नोट रख लिया और मुल्ला से कहा, यही कर-करके मैं भी गरीब हो गया हूं। सावधान रहना! ऐसे ही बांट-बांटकर फंस गया।
तो जरा सरलता हो, तो अमीर के गरीब होने में कोई दिक्कत है? जरा बेईमानी हो, तो गरीब के अमीर होने में कोई कठिनाई है? चेहरा बदलना जहां इतना आसान हो, वह चेहरा हमारा मौलिक चेहरा नहीं हो सकता। वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता। तो एक बात ध्यान रखें कि जो भी बदला जा सकता है, वह हमारा स्वभाव नहीं है।
लेकिन कुछ बातें हम सोचते हैं, नहीं बदली जा सकतीं, जैसे मैं पुरुष हूं, आप गलती में हैं। गरीब का अमीर होना मुश्किल है, हिंदू का मुसलमान होना मुश्किल, आपका स्त्री हो जाना बहुत ही सुगम है। एक इंजेक्शन से हो सकता है। एक ग्लैंड काट देने से हो सकता है। और जल्दी ही, जो अभी जवान हैं, पैंतीस साल के इस तरफ हैं, वे अपनी जिंदगी में यह देख पाएंगे कि आदमी के लिए सुविधा हो जाएगी अल्टरनेटिव कि कोई आदमी पुरुष होने से थक गया, तो स्त्री हो जाएगा; स्त्री होने से थक गया, तो पुरुष हो जाएगा। थक तो जाते हैं सभी। स्त्रियां सोचती हैं, पता नहीं पुरुष कौन सा आनंद ले रहे हैं। पुरुष सोचते हैं, स्त्रियां पता नहीं कौन सा आनंद ले रही हैं। बदलाहट जल्दी हो जाएगी।
अब तो उपाय खोज लिए गए हैं, अब कठिनाई नहीं है। जरा सा ही हार्मोन्स का फर्क है, और कुछ बात नहीं है। हार्मोन भी बहुत ज्यादा नहीं हैं, एक सिरिंज में समा जाएं, इतने। उनको डाल देने से पुरुष स्त्री हो सकता है, स्त्री पुरुष हो सकती है। यह चेहरा फिर मौलिक नहीं रह गया। यह स्त्री या पुरुष होना कोई बड़ी मतलब की बात नहीं है। यह बड़ी ऊपरी है, कपड़ों की है। अब तक हम कपड़े बदलना नहीं जानते थे, यह बात दूसरी है। अब हम जानते हैं।
लेकिन ऋषि तो बहुत पहले से कहते रहे हैं, जब कि स्त्री पुरुष नहीं बनाई जा सकती थी, तब भी वे कहते थे कि तुम न स्त्री हो, न तुम पुरुष हो। तुम

तो वह हो, जो भीतर से जानता है कि मैं स्त्री हूं, मैं पुरुष हूं। तुम तो वह ज्ञाता हो।
प्रवेश करना है भीतर वहां, जहां कोई आवरण नहीं रह जाता। जहां सिर्फ वही रह जाता है, जो जानने की क्षमता है। बस, जानना मात्र एक ऐसी चीज है जिससे हम अपने को अलग नहीं कर सकते, जिससे हमारा तादात्म्य नहीं है, जिससे हमारा स्वरूपगत, जो हमारा स्वरूप है, स्वरूप ही है। और जिस दिन कोई जानने की शुद्ध क्षमता को उपलब्ध होता है, उसी दिन आनंद से भर जाता है। और उसी दिन अमृत से भर जाता है।
इसलिए ऋषियों ने उस स्थिति के लिए कहा है, सच्चिदानंद। सत, चित, आनंद।
सत का अर्थ है, वह जो सदा रहेगा--द इटरनल, द इटरनली ट्रू, शाश्वत रूप से जो सत्य होगा। सत का अर्थ है, जो कभी भी अन्यथा नहीं होगा। चित का अर्थ है चैतन्य, ज्ञान, बोध। जो सदा बोध से भरा रहेगा, जिसका बोध कभी नहीं खोएगा।
और आनंद का अर्थ है ब्लिस, जो सदा सुख-दुख के पार, एक परम रहस्य में, आनंद में, मस्ती में डूबा रहेगा। एक ऐसी मस्ती में, जो बाहर से नहीं आती, जिसके स्रोत भीतर हैं। उस स्वभाव को कहा है सच्चिदानंद।
उपनिषद का यह ऋषि कहता है, वे आनंद-रूप भिक्षा का ही भोजन करते हैं।
आनंद भिक्षाशी।
बस, भोजन उनका आनंद ही है। एक ही चीज मांगते हैं भिक्षा में, आनंद, और कुछ भी नहीं मांगते हैं। एक ही मांग है, एक ही अभीप्सा है--आनंद। और एक ही भोजन है, एक ही आहार है--आनंद।
इसे दो तरह से ख्याल में ले लेना जरूरी है। हम भी मांगते हैं, लेकिन हम आनंद कभी नहीं मांगते। हम वे वस्तुएं मांगते हैं जिनसे आनंद मिल सके। इसमें फर्क है। हम मांगते हैं वे वस्तुएं, जिनसे आनंद मिल सके, जिनसे हमें ख्याल है, आनंद मिलेगा। सीधा आनंद हम कभी नहीं मांगते।
इसलिए कुछ विचारक हुए हैं, जिनका कहना है कि यह बात ही गलत है कि आदमी आनंद चाहता है। जैसे पश्चिम में डेविड ह्यूम, वह कहता है कि नहीं, कोई आदमी आनंद नहीं चाहता। मैंने आदमी ही नहीं देखा, जो आनंद चाहता हो। कोई आदमी कार चाहता है, कोई आदमी बंगला चाहता है, कोई आदमी पत्नी चाहता है, कोई आदमी बेटा चाहता है, कोई आदमी स्वास्थ्य चाहता है, आनंद तो मैंने किसी आदमी को चाहते नहीं देखा।
वह ठीक कहता है। क्योंकि उपनिषद के ऋषि से मिलना तो बहुत मुश्किल है,
हम ही मिल जाते हैं। हम ही मिल जाते हैं सब तरफ। तो ह्यूम ठीक कहता है। जिससे भी पूछता है, कोई कहता है, जमीन चाहिए; कोई कहता है, धन चाहिए; कोई कहता है, पद चाहिए; आनंद तो कोई भी नहीं चाहता है। कोई मिलता नहीं जो कहता है आनंद चाहिए। पर क्यों? कोई कार क्यों चाहता है? मकान क्यों चाहता है? धन क्यों चाहता है? पद क्यों चाहता है? क्या कारण है?
ख्याल है उसका कि इसको चाहने से आनंद मिलेगा। कार तो मिल जाती है, आनंद नहीं मिलता। मकान मिल जाता है, आनंद नहीं मिलता। धन मिल जाता है, आनंद नहीं मिलता। साधन तो मिल जाते हैं, जो हमने सोचा था साध्य, वह नहीं मिलता। असल में आनंद का कोई भी साधन नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें।
आनंद का कोई भी साधन नहीं है। क्योंकि साधन उसके लिए होते हैं, जो हमसे दूर हो। अगर मुझे उस पहाड़ की चोटी पर जाना है, तो साधन की जरूरत पड़ेगी ही। चढ़ने के लिए, जाने के लिए, पहुंचने के लिए मार्ग चाहिए, विधि चाहिए, कोई बताने वाला चाहिए, कोई गाड़ी चाहिए, घोड़ा चाहिए, पैर चाहिए--कोई साधन चाहिए पड़ेंगे उस पार तक। लेकिन मुझे अपने ही भीतर जाना है, तो कोई साधन नहीं चाहिए पड़ेंगे। अगर पराए के पास पहुंचना है, पर के पास पहुंचना है, तो बीच में सेतु चाहिए। लेकिन अगर अपने ही पास पहुंचना है, तो किसी सेतु की कोई जरूरत नहीं है। अगर दूर जाना है, तो चलना पड़ेगा; और अगर अपने ही पास आना है, तो चलने की कोई भी जरूरत नहीं। चले कि भटक जाएंगे। चले कि दूर निकल जाएंगे। जो अपने को खोजने के लिए चलेगा, वह दूर निकल जाएगा, पास नहीं आएगा। आनंद सीधा ही चाहा जा सकता है, उसका कोई साधन नहीं है। क्योंकि वह हमारा स्वभाव है। हमें मिला ही हुआ है--आलरेडी गिवेन। जो मिला ही हुआ है उसे सिर्फ पहचानना पड़ता है, उसे पाना नहीं पड़ता।

लेकिन मकान तो मिला ही हुआ नहीं है, जमीन तो मिली ही हुई नहीं है, धन तो मिला ही हुआ नहीं है। उसे मिलाना पड़ेगा, लाना पड़ेगा, खोजना पड़ेगा, बनाना पड़ेगा, निर्मित करना पड़ेगा, अर्जित करना पड़ेगा। एंड आल दैट कैन बी अर्न्ड, कैन नेवर बी ब्लिस। और जो भी कमाया जा सकता है, वह आनंद नहीं हो सकता। आनंद तो अनअर्न्ड, आलरेडी गिवेन है।
नहीं, उसे अर्जित नहीं करना होता, वह है ही। सिर्फ उस तल पर जाकर देखना
भर काफी है। आंख भर भीतर मुड़ जाए तो काफी है। खजाना घर में ही गड़ा है। हम बाहर खोज रहे हैं। मकान के चारों तरफ दौड़ रहे हैं, पूरी जमीन का चक्कर लगा रहे हैं। वह नहीं मिल रहा है। मिलेगा भी नहीं। जितना चक्कर में हम पड़ते जाएंगे, उतना ही मिलने की संभावना क्षीण होने लगेगी। क्योंकि चक्कर का एक तर्क है।
जब आदमी दौड़ता है उसे खोजने जो उसके भीतर है और दौड़कर नहीं पाता-- क्योंकि दौड़कर पा नहीं सकता, ठहरकर पा सकता है--जब दौड़ता है और नहीं पाता है, तो दौड़ का तर्क यह कहता है कि तुम जरा धीरे दौड़ रहे हो, इसलिए नहीं मिल रहा है। तेजी से दौड़ता है, पूरी ताकत लगा देता है।
दौड़ने का दूसरा तर्क भी है। जब वह पूरी ताकत लगा देता है और तब भी नहीं मिलता, तो दौड़ने का तर्क कहता है कि तुम गलत रास्ते पर दौड़ रहे हो। रास्ता बदलो।
रास्ता बदल दे और तेजी से दौड़ता रहे, अनेक रास्तों की पहचान कर ले, तब
भी दौड़ने का एक आखिरी तर्क है। अगर फिर भी आनंद न मिले--मिलेगा ही नहीं, मिलने का तो कोई कारण नहीं है--तो दौड़ने का तर्क कहता है, आनंद है ही नहीं, इसलिए नहीं मिलता है।
ये तीन तर्क हैं दौड़ने के। पहले वह कहता है, जोर से दौड़ो तो मिलेगा, ऐसे धीरे-धीरे चलने से कहीं मिलता है? देखो, पड़ोस के लोग कितने तेजी से दौड़ रहे हैं। देखो, फलां आदमी को मिल गया, वह दिल्ली पहुंच गया। उसको मिल गया आनंद, तुम भी तेजी से दौड़ो, तो तुमको भी मिल जाएगा। तो तेजी से दौड़ो।
फिर अगर तेजी से दौड़कर दिल्ली भी पहुंच जाओ और वहां न मिले, तो उसका मतलब है, रास्ता बदलो। तुम गलत रास्ते पर दौड़ रहे हो। फिर रास्ते जन्म-जन्म बदलोगे, क्योंकि अनंत रास्ते हैं जो कहीं नहीं ले जाते। जो कहीं नहीं ले जाते। कम से कम आनंद तक तो नहीं ले जाते। क्योंकि आनंद तक किसी रास्ते की जरूरत नहीं है। वह है भीतर, वहां आप खड़े हैं। सिर्फ आपकी नजर बहुत दूर के रास्तों पर भटक गई है, बहुत दूर चली गई है--अपने से बहुत दूर चली गई है। तो फिर आखिर में थका हुआ तर्क कहता है कि आनंद होगा ही नहीं, इसलिए नहीं मिलता है। क्योंकि अगर होता, तो हमने सब रास्ते खोज डाले, सब साधन प्रयोग कर लिए, सब राजधानियां तलाश डालीं, सब महलों में रह चुके। नहीं, आनंद है ही नहीं।
नीत्से ने कहा है, आनंद है ही नहीं। जिसे तुम खोजते हो, वह है ही नहीं, इसलिए मिलेगा कैसे! आनंद सिर्फ आशा है, नीत्से ने कहा है, सिर्फ कल्पना है। नीत्से ने कहा है, लेकिन जरूरी कल्पना है, क्योंकि उसके बिना आदमी को जीना बहुत मुश्किल पड़ेगा--ए नेसेसरी अनट्रुथ। नीत्से का शब्द है, एक आवश्यक झूठ। है नहीं कहीं आनंद। लेकिन अगर ऐसा पता चल जाए कि है नहीं कहीं आनंद, तो आदमी यहीं गिरकर मिट्टी का ढेर हो जाएगा। चलेगा कैसे! उठेगा कैसे! दौड़ेगा कैसे! नीत्से ने कहा है, सत्य से नहीं जीता है आदमी, आदमी असत्य से जीता है। असत्य जरूरी है, अनट्रुथ्स। नहीं तो जी नहीं सकता। उन्हीं के सहारे तो जीता है।
पर नीत्से पागल होकर मरा। मरेगा ही, क्योंकि यह आखिरी तर्क है दौड़ का, तीसरा तर्क है--अल्टीमेट। और नीत्से बहुत विचारशील व्यक्ति था, बहुत विचारशील, अति विचारशील। कहा जा सकता है, इन सौ वर्षों में इतना तर्कयुक्त और इतना गहन विचार करने वाला व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ। लेकिन मरा बहुत दुख में। दुख में जीया, विक्षिप्त हुआ। इन सौ वर्षों में इतनी पेनिट्रेटिंग, इतनी गहरे प्रवेश कर जाने वाली बातें किसी दूसरे आदमी ने नहीं कहीं। लेकिन इस आदमी का फल क्या? वह आखिरी तर्क पर था। प्रतिभा थी, तो तर्क को उसने बिल्कुल साफ-सुथरा कर लिया। उसने कहा, जो नहीं मिलता है इतना खोजे से, वह है ही नहीं। मिलेगा कैसे?

ऋषि कहते हैं, नहीं मिलता है, फिर भी है। नहीं मिलता, क्योंकि तुम खोजते हो, क्योंकि तुम दौड़ते हो। मिल सकता है, रुक जाओ, ठहर जाओ। मत दौड़ो, मत भागो, दृष्टि को मत भटकाओ। रोक लो, दृष्टि को भीतर डूब जाने दो। मिलता है, लेकिन खोजने से नहीं। क्योंकि वह पहले से ही मिला हुआ है। स्वरूप का यह अर्थ होता है, जो है ही।
इसलिए आनंद ही मांगना चाहिए, साधन नहीं। जो साधन मांगेगा, वह दौड़ता रहेगा, दौड़ के तर्कों में उलझा रहेगा। और अनंत जन्मों तक यह दौड़ चल सकती है। इस दौड़ का कोई अंत नहीं आता। और बुद्धि हो, विवेक हो, तो क्षण में यह दौड़ छूट सकती है और आदमी उसी क्षण में भीतर प्रवेश कर सकता है। एक क्षण में भी यह घटना घट सकती है। और अनंत काल में भी न घटे। अगर आप गलत दिशा में निकल पड़े हैं, तो अनंत काल चलने पर भी नहीं पहुंचेंगे और ठीक दिशा में एक कदम उठा लेने से भी पहुंचना हो जाता है। मंजिल दूर नहीं है। मंजिल बिल्कुल भीतर है।
यही उपद्रव है। अगर मंजिल दूर होती, तो हम पहाड़ चढ़ लेते, एवरेस्ट चढ़ जाते। प्रशांत महासागर में दबी होती, डूब जाते। चांद पर होती, पहुंच जाते। उपद्रव यही है कि मंजिल हमारे भीतर है। खोजी के भीतर गंतव्य है। वही तकलीफ है।
तो ऋषि साधन नहीं मांगता। वह यह नहीं कहता कि हे प्रभु, मुझे धन दो, ताकि मैं आनंद पा सकूं; कि मुझे बड़ा भवन दो कि मैं आनंदित हो सकूं। वह कहता है, न भवन, न धन, तुम मुझे आनंद ही दो। मुझे सीधा आनंद ही दो। और जब साधन से कोई आनंद मिलता है, तो वह आनंद नहीं होता है, सुख होता है।
ध्यान रखना, साधन से जब भी कुछ मिलता है, वह सुख होता है। और सुख थिर नहीं हो सकता। आता है, जाता है। इसलिए साधन से जो भी मिलता है, उससे दुख पैदा होता है, क्योंकि सुख आएगा और जब जाएगा तो दुख छोड़ जाएगा। असाधन से, बिना साधन के जो मिलता है, वह आनंद है।
इसलिए ध्यान को साधन मत समझना। ध्यान साधन नहीं है--नाट ए मेथड। कहते हैं, क्योंकि कहने की अपनी तकलीफें हैं, कोई उपाय नहीं है। कहते हैं, साधना कर रहे हैं। साधना का मतलब, साधन का उपयोग कर रहे हैं। कहते हैं कि ध्यान एक साधन है। तो कहने की तकलीफें हैं, कोई उपाय नहीं, लेकिन ध्यान असाधन है-- नो-मेथड।
ध्यान कोई साधन नहीं है, कोई विधि नहीं है वस्तुतः। ध्यान सब विधियों
को छोड़कर अपने भीतर डूब जाने का नाम है। इसलिए जब तक विधि चलती है, तब तक ध्यान नहीं होता। विधि सिर्फ जंपिंग बोर्ड है। एक आदमी नदी में कूदता है, तख्ते पर खड़ा है, उछल रहा है। अभी नदी नहीं आ गई, अभी जंपिंग बोर्ड पर है। फिर जंपिंग बोर्ड ने उसे फेंक दिया, छलांग मारी, वह नदी में चला गया। लेकिन एक मजे की बात है कि जंपिंग बोर्ड नदी में छलांग लगाने के लिए सहयोगी बनता है। लेकिन अगर जंपिंग बोर्ड पर ही कूदते रहें, तो जिंदगी नहीं, अनंत जिंदगी कूदते रहें, नदी में न पहुंचेंगे। मेथड कैन बी यूज्ड ओनली टु जंप इनटु द नो-मेथड। विधि का उपयोग करना पड़ता है, अ-विधि में कूदने के लिए। इसलिए हम जो ध्यान करते हैं, उसमें जो तीन चरण हैं, वे सिर्फ जंपिंग बोर्ड हैं। चौथा चरण ध्यान है। तीन तो सिर्फ तैयारी है उछलने की, कूदने की, इतने जोश से भर जाने की कि कूद ही जाएं हिम्मत जुटाकर, तो पानी में पहुंच जाएं। जहां ध्यान है, वहां कोई साधन नहीं, और जब तक साधन है, तब तक ध्यान नहीं। लेकिन ध्यान के लिए भी साधन का उपयोग करना पड़ता है। पर ध्यान स्वयं साधन नहीं है, ध्यान अवस्था है--स्टेट आफ माइंड।
ऋषि कहता है, आनंद की ही वे भिक्षा मांगते हैं। वही उनका भोजन है, वही उनका आहार है, वही उनका जीवन है। साधन वे नहीं मांगते। जिसने साधन मांगा, वह गृहस्थ है। जिसने साध्य मांगा, वह संन्यासी है। जिसने रास्ते मांगे, उसे मंजिल कभी न मिलेगी। जिसने मंजिल मांगी, मंजिल यहीं है।
मगर अगर आपसे कोई कहे कि आनंद सीधा ही मिल जाता है, मत मांगो मकान, मत मांगो कार। तो जरा आंख बंद करके भीतर सोचना। मन कहेगा, छोड़ो ऐसे आनंद को, जो बिना कार के ही मिल जाता है। हम तो कार वाला, मकान वाला, महल वाला, स्त्री वाला, पुरुष वाला आनंद चाहते हैं। छोड़ो ऐसे आनंद को। ऐसे आनंद में क्या रस होगा? करोगे क्या ऐसे आनंद को? ऐसे आनंद से विवाह करोगे? ऐसे आनंद

के साथ रहोगे? करोगे क्या ऐसे आनंद को, छोड़ो! ऐसे आनंद में क्या हो सकता है जो बिना ही किसी चीज के मिल जाता है! चीज तो चाहिए ही। कंटेनर तो चाहिए ही।
डब्बा तो चाहिए ही, चाहे वह खाली ही हो। कंटेंट से किसी को प्रयोजन नहीं है।
संन्यासी आत्मा ही मांगता है, काया नहीं। साधन नहीं, साध्य ही मांगता है। वस्तु नहीं, अस्तित्व ही मांगता है।
महाश्मशान में भी वे ऐसे विचरण करते हैं, जैसे आनंद-वन में हों।
मरघट में भी वे ऐसे जीते, जैसे महल में हों। असल में मरघट और महल का फासला उनके लिए ही है, जिनके मन में महल की आकांक्षा है। ध्यान रखना, मरघट और महल में कोई फासला नहीं है। फासला हमारी आकांक्षा का है। महल हम चाहते हैं, मरघट हम नहीं चाहते। इसी से फासला है, अन्यथा महल और मरघट में क्या फासला है! जहां महल खड़े हैं, वहां मरघट बहुत दफे बन चुके। और जहां मरघट बने हैं, वहां बहुत दफे महल बनकर गिर चुके। और सब महल अंततः मरघट बन जाते हैं और सब मरघटों पर महल खड़े हो जाते हैं। फर्क क्या है? फासला क्या है? हमारी आकांक्षा में फासला है। महल हम चाहते हैं, मरघट हम नहीं चाहते। इसलिए महल तो हम बस्ती के बीच में बनाते हैं और मरघट गांव के बाहर कि दिखाई भी न पड़े, उधर से गुजरना भी न पड़े। ऐसी जगह बनाते हैं, जहां से कोई रास्ता भी न गुजरता हो, आगे न जाता हो, मरघट पर ही खतम हो जाता हो। और मरघट हम सदा दूसरों को पहुंचाने जाते हैं--सदा। दूसरों को पहुंचाने में तो बड़ा रस भी आता है। अपने को पहुंचाने का तो मौका नहीं आता। वह दूसरे करते हैं वह काम। जब हमने उनकी इतनी सेवा की, तो वे भी हमारी कुछ सेवा तो करेंगे ही।
मुल्ला नसरुद्दीन के पड़ोस में किसी की पत्नी मर गई। यह तीसरी पत्नी थी। पहले दो और मर चुकी थीं। ऐसी अच्छी पत्नियां मुश्किल से मिलती हैं। मुल्ला दो पत्नियों को मरघट तक पहुंचा आया था मित्र की। तीसरी मर गई। मरघट पर ले जाने की तैयारी हो गई। मुल्ला की पत्नी बार-बार देखती है कि यह मुल्ला बैठा ही हुआ है। उसने कहा कि जाना नहीं है! लोग बिल्कुल तैयार हो गए, बैंड-बाजा बजने लगा। मुल्ला ने कहा कि मैं बार-बार जाता हूं और उसको मैंने अभी तक एक भी मौका नहीं दिया--नाट ए सिंगल अपरचुनिटी। तो अच्छा भी तो नहीं लगता, संकोच भी होता है। उसकी पत्नियां मैं दो बार पहुंचा आया और मैंने उसे एक भी मौका नहीं दिया, तो बार-बार जाना अच्छा नहीं लगता, जब तक चुका न दें। एकाध तो कम से कम हम भी मौका दें। फिर जाना ठीक होगा। काफी ऋणी हो गया हूं उसका।
तो दूसरों को हम पहुंचाते हैं, बड़े सुख से पहुंचाते हैं। बड़ा दुख प्रकट करते हुए पहुंचाते हैं, लेकिन एक भीतरी सुख मन में मिलता है कि मैं अभी भी जिंदा हूं। यह सदा दूसरा ही मर रहा है। हम तो जिंदा ही हैं। आज अ मरा, कल ब मरा, परसों स मरा, लेकिन हम? हम जिंदा हैं! न मालूम कितनों को मरते हुए देखा, लेकिन हम नहीं मरते। एक भीतरी रस मिलता है कि फिर कोई दूसरा मरा। अपने मरने का तो पता भी नहीं चलता, क्योंकि जब आप मर ही गए! इसलिए अपने मरने का किसी को पता नहीं चलता। अपने को मरघट कोई नहीं पहुंचाता।
पर संन्यासी वही है, जो अपने को मरघट पहुंचा देता है। जो कहता है, मरघट
भी अब हमारा आवास है। महल और मरघट में उसे फर्क नहीं रह जाता। मरघट भी उसके लिए आनंद-विहार हो जाता है। वहां भी ऐसे जीने लगता है, जैसे घर हो।
मृत्यु और जीवन में फर्क गिरे, तभी महल और मरघट का फर्क गिर सकता है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मृत्यु ही मालूम होने लगे, तभी जिसे हम मरघट कहते हैं, वह आवास बन सकता है। जिसे हम दुख कहते हैं, जिसे हम सुख कहते हैं, जब उनके बीच का फासला गिर जाए और दुख सुख मालूम होने लगे, और सुख दुख मालूम होने लगे, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू मालूम होने लगें, उस दिन मरघट आनंद-वन हो सकता है। उसके पहले नहीं। तो यह केवल सूचना है कि संन्यासी को महाश्मशान भी आवास ही मालूम पड़ता है, आनंद-विहार ही मालूम पड़ता है। कोई फर्क नहीं रह जाता।
एकांत ही उनका मठ है।
एकांत के दो अर्थ हैं। एक तो टु बी लोनली, अकेलापन। और दूसरा एकाकी, टु
बी अलोन। दोनों में बड़ा फर्क है। यहां ऋषि जब कहता है, एकांत ही उनका मठ है, तो इट मीन्स, टु बी अलोन, नाट लोनलीनेस।

ध्यान रहे, जब हमें अकेलापन लगता है, लोनलीनेस लगती है, तो उसका मतलब
है कि दूसरे की अभीप्सा मौजूद है। इसीलिए तो अकेलापन लगता है। एक आदमी कहता है कि बहुत अकेलापन लग रहा है। कल मुझे किसी ने खबर दी कि एक साधिका-- मैं कहता हूं साधिका, अपनी तरफ से वह साधिका नहीं हो सकती--एक साधिका रोती हुई पाई गई, क्योंकि उसकी बाकी साथिनें चुप और मौन हो गई हैं। और उसने कहा, जब कोई बात ही न करेगा, तो यहां सात दिन कैसे गुजरेंगे! सात दिन बिना बात किए एकाकीपन लगेगा, अकेलापन लगेगा। मुश्किल मालूम पड़ेगी, क्योंकि हम दूसरे में अपने को उलझाए रखते हैं। इसलिए कोई अकेला नहीं होना चाहता।
यह बहुत मजे की बात है, आप अपना साथ कभी पसंद नहीं करते। आप खुद ही अपने को इतना पसंद नहीं करते कि अपना साथ पसंद करें। अपने साथ आनंदित होने का मतलब तो तभी हो सकता है, अब मैं अपने को चाहूं, प्रेम करूं, अपने को पसंद करूं। हम सब अपने को घृणा करते हैं। कहते हैं लोग, लेकिन सब अपने को घृणा करते हैं। इसलिए कोई अकेला नहीं होना चाहता, क्योंकि अकेले में अपने से ही साथ रह जाता है।
मुल्ला नसरुद्दीन कम बात करना पसंद करता था। लोग लेकिन चकित थे, क्योंकि वह अकेले में भी कभी-कभी बहुत बात करता था। मित्र चिंतित हुए कि उसका दिमाग तो खराब नहीं हुआ जाता है। क्योंकि जब भी लोग होते, तब वह चुप बैठा रहता; और जब भी अकेला होता, तो बात करता। मित्रों ने एक दिन इकट्ठा होकर मुल्ला से पूछा कि बात तो बताओ, राज क्या है इसका? दिमाग तो खराब नहीं हो गया! जब हम आते हैं, तुम चुप हो जाते हो। जब हम चले जाते हैं, तो हमने दीवार और खिड़कियों से झांककर देखा है कि तुम अकेले में बात करते हो। तो मुल्ला ने कहा, आई वान्ट टु टाक विद ए वाइ.ज मैन। एक बुद्धिमान आदमी से बात करना चाहता हूं। एंड आई वान्ट टु हियर ए वाइ.ज मैन आलसो। और मैं एक बुद्धिमान की ही बात सुनना चाहता हूं। इसलिए अपने से ही बात करता हूं।
पर अपने साथ हम होना नहीं चाहते। और कोई अपने साथ हो, तो वह हमें पागल लगेगा। वह मुल्ला नसरुद्दीन पागल लगा मित्रों को। अपने साथ मजा ले रहे हो, यह भी कोई बात हुई? मजा सदा दूसरे के साथ लिया जाता है। अपने ही साथ मजा ले रहे हो, दिमाग खराब हो गया मालूम होता है।
लेकिन संन्यासी वही है, जो अपने साथ मजा लेने में समर्थ हो गया है। दूसरे की जरूरत न रही। अकेला ही काफी है--इनफ। इसका नाम है एकांत। अकेला ही काफी है, टु बी अलोन इ.ज इनफ। और लोनलीनेस का कहीं कोई पता ही नहीं है। अकेलेपन का कहीं कोई पता ही नहीं है कि मैं अकेला हूं। यह तो पता तभी चलता है, जब दूसरे की आकांक्षा मन में सरकती है कि दूसरा होना चाहिए था और नहीं है। दूसरे का अभाव अकेलापन पैदा करता है। अपना आविर्भाव एकांत पैदा करता है। दूसरे की मौजूदगी नहीं है, तो खलती है--तो अकेलापन लगता है। और मैं मौजूद हूं पूरी तरह, इसका आनंद प्रकट होता है--तो एकांत।
भाषाकोश में तो लोनलीनेस और अलोननेस एक ही हैं। लेकिन जीवन के कोश में एक नहीं हैं। जीवन के कोश में बड़ी उलटी बातें हैं। अगर कोई आदमी कहता है कि अकेलापन लगता है, तो जानना कि उसे एकांत का पता ही नहीं चला है। और कोई आदमी कहता है कि एकांत में हूं, दूसरे की याद ही नहीं आती, अपना ही होना पर्याप्त है, तो ऐसा एकांत मठ है संन्यासी का। वही उसका मंदिर है। वही उसका आवास है।
प्रकाश के लिए सतत उनकी चेष्टा है, नित-नूतन।
वे निरंतर-निरंतर, रोज, प्रतिपल प्रकाश के लिए ही आतुर और चेष्टा में
रत हैं।
यह बड़े मजे की बात कही है ऋषि ने, नित-नूतन। यह थोड़ा कठिन पड़ेगा समझना।
क्योंकि हम जो भी करते हैं, उसे हम सदा कल किए हुए से जोड़ लेते हैं, तो वह पुराना हो जाता है। कल भी किया था ध्यान, आज भी कर रहे हैं ध्यान। तो कल जो ध्यान किया था, वह अतीत की स्मृति बन गई। उसी से इसको भी जोड़ लेते हैं।
एक मित्र मुझसे पूछने आए थे कि क्या सात दिन यही ध्यान करना है कि कुछ दूसरा भी होगा?
अगर अतीत से जोड़ेंगे, तो सब पुराना हो जाता है। अगर अतीत से नहीं जोड़ेंगे और पल-पल जीएंगे, मोमेंट टु मोमेंट, तो सब नया है। कल जो ध्यान किया था, वह आज किया ही कैसे जा सकता है? क्योंकि न आज वह आकाश है, न आज वे

किरणें हैं, न आज वह आप हैं, सब तो बदल गया। कल जो किया था, आज उसे करने का उपाय कहां है! सब बदल गया है। इस जगत में पुराने को करने का उपाय कहां है। तो संन्यासी नित-नूतन चेष्टा करता है। उसकी कोई चेष्टा पुरानी नहीं पड़ती। पुरानी पड़ने से ऊब भी पैदा हो जाती है कि इसी-इसी को कब तक करते रहेंगे! वह जानता है कि यहां तो सब प्रवाह है, सब बहा जा रहा है। और जो अप्रवाह है, उसका अभी हमें पता नहीं, उसकी हम खोज कर रहे हैं। संसार तो परिवर्तन है और संसार में जो भी किया जाता है, वह भी परिवर्तनशील है। सब चेष्टाएं परिवर्तित हैं, वही फिर नहीं किया जा सकता।
बुद्ध कहते थे--कोई उनसे मिलने आता, नमस्कार करता, जाते वक्त विदा लेता, तो बुद्ध कहते--ध्यान रखना! जिसने नमस्कार किया था, वही विदा नहीं ले रहा है। घंटेभर में नदी का बहुत पानी बह गया। संन्यासी वह है, जो मोमेंट टु मोमेंट, क्षण-क्षण जीता है। एक क्षण काफी है। न पीछे के क्षण से जोड़ता है, न आगे के क्षण से जोड़ता है। तब सब चेष्टा नई है। जब वह सुबह उठकर फिर हाथ जोड़कर परमात्मा के सामने खड़ा होता है, बिल्कुल नया, ताजा, फ्रेश। कुछ पुराना नहीं, कल की धूल है ही नहीं। कल भी हाथ जोड़े थे, इसका ख्याल किसको है? इसका हिसाब किसको है? लेकिन हम बड़ा हिसाब रखते हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन ने किसी मेहमान को निमंत्रण दिया था भोजन के लिए। काफी देर चल चुका था भोजन। मुल्ला नसरुद्दीन फिर भी आग्रह कर रहा था कि एक, एक पूड़ी तो और ले लें। मेहमान ने कहा कि मैं कोई पांच-सात पूड़ी ले चुका, अब बहुत है। मुल्ला ने कहा, पांच-सात नहीं, बाईस हो गई हैं। बट हू इ.ज कैलक्युलेटिंग--हिसाब कौन रख रहा है? हिसाब ही कौन रख रहा है! बाईस हो गई हैं, मजे से खाओ।
मगर हिसाब भीतर चलता ही रहता है। तीन दिन हो गए ध्यान करते, अभी कुछ नहीं हुआ। हू इ.ज कैलक्युलेटिंग? लेकिन तीन दिन हो गए। कैलक्युलेशन चलता ही रहता है। माइंड इ.ज कनिंग एंड कैलक्युलेटिंग। मन चालाक है, बहुत चालाक है। और सब चालाकी कैलक्युलेशन होती है, हिसाब-किताब होती है।
संन्यासी कुछ जोड़ता नहीं, वह परमात्मा से यह नहीं कहता कि पंद्रह दिन
हो गए प्रार्थना करते, अब कहां हो? नित-नूतन चेष्टा करता रहता है। कल की बात ही छोड़ देता है। कल का कोई सवाल नहीं है, यह क्षण काफी है। और सवाल यह नहीं है कि ध्यान से कुछ मिले, ध्यान ही काफी है। यह भी सवाल नहीं है कि कोई फल मिले, ध्यान ही फल है। इसलिए वह रोज नई-नई चेष्टा करता चला जाता है। उसकी चेष्टा कभी पुरानी नहीं पड़ती। वह जन्मों-जन्मों तक प्रतीक्षा करता है, चेष्टा करता है। कभी यह नहीं कहता कि कितना मैं कर चुका, अभी तक दर्शन नहीं, अन्याय हो रहा है। इतने उपवास किए, इतने ध्यान किए, इतनी प्रार्थनाएं हो चुकीं, अभी तक, अभी तक कुछ फल नहीं मिला।
नहीं, जिसने ऐसा सोचा, वह गृहस्थ है, वह संन्यासी नहीं है। वह हिसाब-किताब रख रहा है। वही दुकान का हिसाब है। वही खाता-बही है। वह बैलेंस कर रहा है कि इतना नुकसान, इतना लाभ। इतना दिया, इतना लिया। वह लगा है हिसाब-किताब में।
नहीं, संन्यासी सब हिसाब-किताब छोड़कर जीता है। कोई हिसाब-किताब नहीं है। और अगर किसी दिन परमात्मा उसे मिले, तो वह कहेगा, कैसे मिल गए तुम, मैंने कुछ भी तो नहीं किया!
इसीलिए जिन्होंने परमात्मा को जाना, उन्होंने कहा, वह प्रसाद रूप मिलता है--जस्ट ऐ.ज ए ग्रेस। हमारे करने का उससे कोई संबंध नहीं है। हमने जो किया, उससे कुछ संबंध नहीं बनता। वह तो उसकी अनुकंपा है, इसलिए मिलता है। वह उसकी दया है, करुणा है, इसलिए मिलता है। हमारे किए हुए का क्या मूल्य? लेकिन यह वही कह सकता है, जिसने हिसाब न रखा हो, नहीं तो किए हुए का मूल्य मालूम पड़ता है।
प्रकाश के लिए है उनकी चेष्टा।
एक ऐसी अवस्था के लिए, जहां कोई अंधकार न हो। क्योंकि अंधकार के कारण
ही तो सारा भटकाव है। अंधकार के कारण ही तो हमें टटोलकर जीना पड़ता है। और अंधकार के कारण ही तो कुछ पता नहीं चलता कि हम कहां खड़े हैं, क्यों खड़े हैं; कहां जा रहे हैं, कहां से आ रहे हैं। अंधकार के कारण ही तो जीवन के सारे

विकार हैं। अंधकार के कारण ही तो सारी उलझन और सारा उपद्रव है, सारा रोग और सारी विक्षिप्तता है।
प्रकाश का अर्थ है, एक ऐसी चित्त की दशा जहां सब साफ है--क्रिस्टल क्लियर--सब दिखाई पड़ता है। जैसा है, वैसा दिखाई पड़ता है। सब स्वच्छ, निर्मल है, आलोकित है। कहां जा रहे हैं, दिखाई पड़ता है; कहां से आ रहे हैं, दिखाई पड़ता है; कहां खड़े हैं, दिखाई पड़ता है; कौन हैं, दिखाई पड़ता है; क्या है चारों तरफ, दिखाई पड़ता है। प्रकाश की आकांक्षा मूलतः सत्य के दर्शन की आकांक्षा है। क्योंकि दर्शन प्रकाश के बिना नहीं हो सकेगा।
बाहर प्रकाश होता है, तो चीजें दिखाई पड़ती हैं; और जब भीतर प्रकाश होता है, तो परमात्मा दिखाई पड़ता है। बाहर अंधेरा हो जाता है, तो पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता; भीतर अंधेरा छा जाता है, तो परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता। तो प्रकाश की आकांक्षा, भीतर जो छिपा है, उसके दर्शन की आकांक्षा है।
और जिसे भीतर का छिपा हुआ दिखाई पड़ गया, अपने भीतर का, उसे सबके भीतर का दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है। क्योंकि हम दूसरे के भीतर वहीं तक देख सकते हैं, जहां तक अपने भीतर देख सकते हैं। हम दूसरे के भीतर उससे ज्यादा गहरा कभी नहीं देख सकते, जितनी गहराई में हमने अपने भीतर झांका है। चूंकि हम अपने को शरीर ही मालूम पड़ते हैं, दूसरा भी शरीर ही दिखाई पड़ता है। जो हम अपने को जानते हैं, वही हम दूसरे में देख भी पाते हैं। जिस दिन हम अपने भीतर परमात्मा को देख लेते हैं, उस दिन इस जगत में कोई कण परमात्मा से खाली नहीं रह जाता। वह सबकी आंतरिकता में दिखाई पड़ जाता है।
लेकिन भीतर प्रकाश चाहिए। उस प्रकाश की आकांक्षा, अभीप्सा, उसकी ही पुकार, उसकी ही प्यास, उनकी नित-नूतन चेष्टा है। वे थकते नहीं--अथक। ऐसा कोई दिन नहीं आता कि वे निराश हो जाएं और कहें कि बस, हो गया बहुत। अब तक नहीं हुआ, तो आगे क्या होगा? नहीं, वे थकते नहीं।
सूफी फकीर हसन जब मरा तो उसके मित्रों ने, उसके शिष्यों ने पूछा कि हसन, तुमने कभी बताया नहीं तुम्हारा गुरु कौन था। और जानने का मन होता है कि तुम इतने आलोकित, तुम्हारा गुरु कौन था? हसन ने कहा, नहीं बताने का कारण यह नहीं है कि गुरु को छिपाना चाहता हूं। नहीं बताने का कारण है कि इतने गुरु थे कि बताना मुश्किल है। और ऐसे-ऐसे गुरु थे कि बताने में थोड़ी दुविधा भी होती है। तो उन्होंने कहा कि पहली बात तो समझ में आई, दूसरी समझ में नहीं आती। बहुत गुरु हों तो बताना मुश्किल मालूम पड़ता है, किस-किस का नाम लें! लेकिन यह दूसरी बात समझ में नहीं आती कि बताने में थोड़ी दुविधा भी होती है।
हसन ने कहा, होती है। अब जैसे उदाहरण के लिए--एक गांव में आधी रात पहुंचा। भटक गया रास्ता। सारा गांव सो गया था। सराय का दरवाजा खटखटाया, कोई उठा नहीं। कहां ठहरूं! एक मकान के पास से गुजरता था। एक चोर दीवार में सेंध लगाता था। वही अकेला जागा हुआ आदमी था। उससे मैंने कहा कि भाई, बड़ी मुश्किल में पड़ा हूं। ठहरने की कोई जगह है? उसने कहा, जरूर ठहरा दूंगा। फकीर मालूम पड़ते हो। मेरे घर ठहरने की हिम्मत हो, तो मेरे घर ही ठहर जाओ। मैं एक चोर हूं।
लेकिन, हसन ने कहा, इतना ईमानदार आदमी मुझे इससे पहले नहीं मिला था, जिसने कहा, मैं एक चोर हूं। हसन ने कहा कि मेरा मन भी डरा कि ठहरूं इसके घर कि नहीं, क्योंकि कल सुबह गांव के लोग क्या कहेंगे! मगर जब चोर ने आमंत्रण इतने प्रेम से दिया है और कहकर दिया कि मैं चोर हूं, तो इंकार करते नहीं बना। चोर के घर जाकर ठहर गया। चोर ने कहा, तुम विश्राम करो। मैं भोर होते- होते आ जाऊंगा और तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा।
कोई पांच बजे चोर आया, हसन ने दरवाजा खोला। हसन ने पूछा, कुछ पाया? चोर
ने कहा, आज तो नहीं। लेकिन जिंदगी लंबी है और रातों की क्या कमी है। हसन ने कहा है कि मैं महीनेभर उस चोर के घर था। और रोज चोर आता और मैं पूछता, कुछ मिला? वह कहता, नहीं। लेकिन कल मिलेगा। जिंदगी लंबी है और रातों की क्या कमी है। महीनेभर बाद जिस दिन हसन ने उसका घर छोड़ा, उस दिन भी यही बात थी, उस दिन भी कुछ नहीं मिला था।
और हसन ने कहा कि जब मैं परमात्मा को खोजता था, तो बार-बार थक जाता था।
और सोचता था, अब तक नहीं मिला--वह चोर मेरे सामने खड़ा हो जाता और वह कहता,

रातों की क्या कमी है, जिंदगी लंबी है। तब फिर मैं हैरान होता कि जब एक चोर नहीं थकता, साधारण धन की तलाश, इतनी आशा से, इतना अथक, तो मैं परम धन को खोजने निकला हूं और इतनी जल्दी!
तो जिस दिन मुझे परमात्मा की प्रतीति हुई, मैंने परमात्मा को पहले धन्यवाद नहीं दिया, पहले उस चोर को आंख बंद करके नमस्कार किया कि तुझे मिला हो या न मिला हो, बाकी तू मेरा गुरु है। इसलिए दुविधा होती है। अथक--थकते नहीं वे, वे निरंतर उस प्रकाश की खोज में लगे रहते हैं।
और अ-मन में वे गति करते हैं--उन्मनी गतिः।
यह बड़ा अदभुत सूत्र है। यह सूत्र वैसा ही है जैसा कि आइंस्टीन ने एनर्जी का फार्मूला खोजा। यह सूत्र उतना ही कीमती है, उससे भी ज्यादा।
क्योंकि आइंस्टीन के बिना दुनिया में कुछ बड़ा फर्क न पड़ेगा। अगर एनर्जी का फार्मूला न हो, तो भी आदमी हो सकता है। मजे से था। एनर्जी के फार्मूले के बाद ही दिक्कत शुरू हुई है। हिरोशिमा नहीं होता, अगर एनर्जी का फार्मूला नहीं होता। नागासाकी नहीं बनता।
लेकिन, अ-मन में ही वे गति करते हैं--उन्मनी गतिः।
एक ही उनकी गति है, उस दिशा में, जहां मन नहीं। एक ही उनकी यात्रा है,
उस तरफ जहां मन नहीं। वे मन को छोड़कर, छोड़कर, छोड़कर बढ़ते चले जाते हैं। एक दिन आता है कि वे मन से बिल्कुल नग्न हो जाते हैं। मन गिर जाता है।
हम भी गति करते हैं, पर मन में, और-और मन के लिए। हम जो भी करते हैं, वह
मन का पोषण है। मन को हम बढ़ाते हैं, मजबूत करते हैं। हमारे अनुभव, हमारा ज्ञान, हमारा संग्रह, सब हमारे मन को मजबूत और शक्तिशाली करने के लिए है। बूढ़ा देखें, बूढ़ा आदमी कहता है, मुझे सत्तर साल का अनुभव है। मतलब? उनके पास सत्तर साल पुराना मजबूत मन है। और जैसे शराब पुरानी अच्छी होती है, लोग सोचते हैं, पुराना मन भी अच्छा होता है। वैसे शराब और मन में कुछ तादात्म्य है, एकरसता है। जैसे शराब और नशीली हो जाती है, वैसे ही मन जितना पुराना होता है, उतना नशीला हो जाता है। चेतना नहीं बदलती, चेतना तो वही बनी रहती है। मन की पर्त चारों तरफ घिर जाती है। मांग वही बनी रहती है, वासना वही बनी रहती है।
सुना है मैंने कि एक रात मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी ने कहा कि चालीस साल हो गए विवाह हुए। जब शुरू-शुरू में विवाह हुआ था, तो तुम मुझे इतना प्रेम करते थे कि कभी मेरी अंगुलियां काट लेते थे, कभी मेरे ओंठों पर घाव हो जाता था। लेकिन अब तुम वैसा प्रेम नहीं करते। और कल मेरा जन्म-दिन है, तो आज तो कुछ वैसा प्रेम करो। मुल्ला ने कहा, सो भी जा। अब रात खराब मत करवा। तो पत्नी नाराज हो गई। उसने कहा, मेरा कल जन्म-दिन है! मुल्ला ने कहा, बाहर बहुत सर्दी है, उठना ठीक नहीं। पत्नी ने कहा, उठने की जरूरत क्या है! मैं यहां पास ही हूं। एक बार तो तुम मेरी अंगुलियों को फिर वैसा काटो, जैसा चालीस साल पहले प्रेम में तुमने काटा था। मुल्ला ने कहा, ठीक, नहीं मानती। तो मुल्ला बिस्तर से उठा। पत्नी ने कहा, कहां जाते हो? उसने कहा, बाथरूम से दांत तो ले आऊं।
उम्र ढल जाती, वासनाएं वही चली जातीं। दांत गिर जाते, काटने का मन, कटवाने का मन नहीं गिरता। शरीर सूख जाता, वासना हरी ही बनी रहती है।
नहीं, अनुभव वगैरह से कुछ नहीं। जिसको संसार का अनुभव कहते हैं, वह मन
का पोषण है सिर्फ। संन्यासी अ-मन की तरफ चलता। गृहस्थ मन की तरफ चलता। सभी लोग मन लेकर पैदा होते हैं, लेकिन धन्य हैं वे, जो मन के बिना मर जाते हैं। सभी लोग मन लेकर जन्मते हैं, लेकिन अभागे हैं वे, जो मन को लेकर ही मर जाते हैं। फिर जीवन में कोई फायदा न हुआ। फिर यह यात्रा बेकार गई। अगर मृत्यु के पहले मन खो जाए, तो मृत्यु समाधि बन जाती है। और अगर मृत्यु के पहले मन खो जाए, तो मृत्यु के बाद फिर दूसरा जन्म नहीं होता, क्योंकि जन्म के लिए मन जरूरी है। मन ही जन्मता है। मन ही अपूर्ण वासनाओं के कारण, जो वासनाएं पूरी नहीं हो सकीं, उनके लिए पुनः-पुनः जन्म की आकांक्षा करवाता है। जब मन ही नहीं रहता, तो जन्म नहीं रहता। मृत्यु पूर्ण हो जाती है।
हम सब भी मरते हैं, हम अधूरे मरते हैं, क्योंकि वहां जन्म की आकांक्षा भीतर जीती चली जाती है। वह जन्म की वासना फिर नया शरीर ग्रहण कर लेती है।

संन्यासी जब मरता है, तो पूरा मरता है--टोटल डेथ। शरीर ही नहीं मरता, मन भी मरता है। भीतर कोई और जीने की वासना नहीं रह जाती है। और जो पूरा मर जाता है, वह उस जीवन को उपलब्ध हो जाता है, जिसका फिर कोई अंत नहीं।
लेकिन मार्ग क्या है? मार्ग है अ-मन, नो-माइंड। धीरे-धीरे मन को गलाना, छुड़ाना, हटाना, मिटाना है। ऐसा कर लेना है कि भीतर चेतना तो रहे, मन न रह जाए। चेतना और बात है। चेतना हमारा स्वभाव है। मन हमारा संग्रह है। इसलिए दुनिया जितनी सुशिक्षित और सभ्य होती जाती है, ध्यान उतना ही मुश्किल होता चला जाता है। क्योंकि सुशिक्षा और सभ्यता का मतलब क्या है? एक ही मतलब है कि ट्रेनिंग आफ द माइंड। मन और ट्रेण्ड हो जाता है। इसलिए जितना सुशिक्षित और जितना सभ्य होता जाता है मनुष्य, उतना ही मन से छूटना मुश्किल होता जाता है, क्योंकि मन का इतना प्रशिक्षण हो जाता है।
हमारी सारी शिक्षा, हमारी सारी व्यवस्था, हमारा सारा अनुशासन मन की तैयारी है मजबूती के लिए। कि बाजार में मन सफल हो सके, कि धंधे में मन सफल हो सके, कि संघर्ष में, प्रतियोगिता में, प्रतिस्पर्धा में मन सफल हो सके, तो उसको हम ट्रेण्ड कर रहे हैं। और ऋषि तो उलटी बात कहते हैं। वे कहते हैं, मन को विसर्जित करना है, डिसपर्स द माइंड।
यह ठीक है। अगर संसार में गति करनी हो, तो मन प्रशिक्षित होना चाहिए। अगर परमात्मा में गति करनी हो, तो मन विसर्जित होना चाहिए। अगर पदार्थ को पाने जाना हो, तो बहुत सुशिक्षित मन चाहिए। सुआयोजित, सुसंगठित, वेल आर्गनाइज्ड मन चाहिए। लेकिन अगर परमात्मा में जाना हो, तो मन चाहिए ही नहीं--शिक्षित-अशिक्षित कोई भी नहीं, संगठित-असंगठित कोई भी नहीं--मन चाहिए ही नहीं।
अ-मन उनकी गति है।
वे निरंतर इस चेष्टा में ही लगे रहते हैं कि मन कैसे कम होता चला जाए। बढ़ता कैसे है मन? बढ़ने का ढंग क्या है मन का? उसे समझ लें, तो घटने का ढंग ख्याल में आ जाए। बढ़ता कैसे है मन?
मन को हम सहारा देते हैं, पहली बात। वी कोआपरेट विद इट। रास्ते से गुजर रहे हैं, भूख बिल्कुल नहीं है, लेकिन रेस्तरां दिखाई पड़ गया। मन कहता है, भूख लगी है। पैर रेस्तरां की तरफ बढ़ने लगते हैं। पूछते भी नहीं अपने से कि भूख तो जरा भी न लगी थी, जब तक यह बोर्ड नहीं दिखाई पड़ा था। यह बोर्ड दिखाई पड़ने से भूख लगती है! यह मन है। मन से भूख का कोई संबंध नहीं है, स्वाद की आकांक्षा है। मन को प्रयोजन नहीं है शरीर से, मन को स्वाद से प्रयोजन है।
तो भूख तो बिल्कुल नहीं लगी थी, लेकिन इसको देखकर भूख लग गई। यह भूख झूठी है। अब आप अगर पैर रेस्तरां की तरफ बढ़ाते हैं, तो मन को आप बढ़ाते हैं, मजबूत करते हैं।
अंकुशो मार्गः। सोच से, विवेक से खड़े होकर ठहर जाएं एक क्षण। भीतर खोजें, भूख है? एक क्षण भी अगर रुक सकें, तो रेस्तरां में प्रवेश नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि मन कितना ही शक्तिशाली दिखाई पड़े, बहुत निर्बल है विवेक के सामने। लेकिन विवेक हो ही न, तो फिर मन बहुत सबल है। जैसे अंधेरा कितना ही हो, एक छोटा सा दीया पर्याप्त है। हां, दीया हो ही न, तो अंधेरा बहुत सघन है। एक क्षण के लिए भी विवेक, तो पैर ठहर जाएंगे।
शरीर में कहीं कोई कामवासना की लहर न थी, एक सुंदर स्त्री दिखाई पड़ गई,
या सुंदर पुरुष दिखाई पड़ गया और लहर उठ गई। यह मन है। इसलिए आदमी को छोड़कर इस पृथ्वी पर कोई भी जानवर सेक्सुअलिटी, कामुकता से पीड़ित नहीं है। कामवासना है, कामुकता नहीं है। सेक्स है, सेक्सुअलिटी नहीं है। इसलिए मनुष्य को छोड़कर सभी जानवरों का सेक्स पीरिआडिकल है। उसकी एक अवस्था है। वर्ष में महीने, दो महीने, तीन महीने काम आता है, बाकी नौ महीने काम से रिक्त हो जाते हैं। लेकिन आदमी चौबीस घंटे कामुक है--चौबीस घंटे, तीन सौ पैंसठ दिन! और दुखी होता है कि साल में तीन सौ पैंसठ दिन ही क्यों होते हैं! थोड़े ज्यादा भी हो सकते थे, ऐसी इतनी कृपणता की क्या जरूरत थी?
क्या बात क्या होगी? मनुष्य अकेला कामवासना को मन से जी रहा है, शरीर
से नहीं। शरीर से सारे पशु जी रहे हैं, पौधे जी रहे हैं, वृक्ष जी रहे हैं, सारी प्रकृति जी रही है, मनुष्य मन से भी जी रहा है। तो कामवासना तो

प्राकृतिक है, लेकिन कामुकता विकृति है। कामवासना से ऊपर उठ जाना तो परम क्रांति है। लेकिन आदमी कामवासना से भी नीचे गिर गया है, वह कामुकता में है। सेक्स से भी नीचे, सेक्सुअलिटी में है। मन है।
तो जब एक सुंदर स्त्री या सुंदर पुरुष को देखकर मन में कामवासना जगने लगती है, तब एक क्षण खड़े हो जाना और कहना कि यह बायलाजिकल है, यह कहीं कोई जैविक-प्राण की कोई गति है या मन का ही खेल है?
मन का ही खेल है। और जहां-जहां मन का खेल दिखे, डोंट कोआपरेट विद इट, नान-कोआपरेशन विल डू। सहयोग न करें। असहयोग। सिर्फ खड़े रह जाएं और कहें कि यह मन की बात है। एकदम गिर जाएगी। और ऐसे मन क्षीण होगा, नहीं तो सहयोग से मन बढ़ता चला जाएगा।
बैठे हैं खाली। मन बेकार के विचार कर रहा है, जिनसे कुछ लेना-देना नहीं; और आप उसमें भी सहयोग दिए चले जा रहे हैं। रुकें और कहें कि इस सबकी क्या जरूरत है? यह सब मैं क्या कर रहा हूं? यह कैसा पागलपन है, जो मेरे भीतर मैं ही चलाता हूं? असहयोग--और मन धीरे-धीरे विसर्जित होता है। और अगर चौबीस घंटे असहयोग चले और उसके साथ ध्यान हो, तो अ-मन में गति हो जाती है। उनका शरीर निर्मल, निरालंब उनका आसन है।
और जिसका मन शांत हो जाए, मन अ-मन हो जाए, उसका शरीर बड़ा निर्मल हो जाता है। क्योंकि शरीर में सब मल मन से आता है। इसे थोड़ा ख्याल में ले लें। शरीर बिल्कुल स्वच्छ चीज है। शरीर में कोई मल नहीं है। शरीर में जो भी विकार आते हैं, वे मन से आते हैं। लेकिन हम बड़े होशियार हैं। हम कहते हैं कि शरीर हममें विकार पैदा करवाता है।
नहीं, गलत है यह बात। शरीर विकार पैदा नहीं करवाता। विकार तो मन शरीर में डालता है। हां, शरीर सहयोग देता है। क्योंकि शरीर आपका सेवक है। आप जो चाहते हैं उससे... । आप कहते हैं, चोरी करनी है, तो पैर खजाने की तरफ चल पड़ते हैं। आप कहते हैं, प्रार्थना करनी है, पैर मंदिर की तरफ चल पड़ते हैं। न तो पैरों का आग्रह है कि हम चोरी करने जाएंगे, न पैरों का आग्रह है कि हम प्रार्थना करने जाएंगे। पैरों का कोई आग्रह ही नहीं है। अगर आप कामवासना में उत्सुक होते हैं, शरीर की ग्रंथियां कामवासना के लिए तैयार हो जाती हैं। अगर आप ब्रह्म की तरफ यात्रा करते हैं, शरीर की वे ही ग्रंथियां ब्रह्म-यात्रा के लिए, ब्रह्मचर्य के लिए तैयार हो जाती हैं।
शरीर को कोई भी आग्रह नहीं है। शरीर बिल्कुल तटस्थ शक्ति है-- ऐब्सल्यूटली न्यूट्रल। जो भी होता है, वह मन से होता है।
इसलिए अ-मन के बाद ऋषि कहता है, शरीर उनका निर्मल है। क्योंकि जब मन न बचा, तो शरीर में कौन सा पाप बच जाएगा। शरीर ने कोई पाप कभी किया ही नहीं है। सब पाप मन के हैं। शरीर ने कोई पुण्य भी नहीं किया। ध्यान रखना, सब पुण्य मन के हैं। शरीर ने न शुभ किया है, न अशुभ किया है। लेकिन शरीर को बड़े दंड भोगने पड़ते हैं अकारण। और हम शरीर को ही जिम्मेवार ठहराते हैं।
सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन पर चोरी का एक मुकदमा चला। उसके वकील ने बड़ी जिरह की। मुल्ला तो चुप ही खड़ा रहा। आखिर में वकील ने एक दलील दी और उसने मजिस्ट्रेट को कहा कि आप यह तो मानेंगे कि मेरा मुवक्किल, पूरा का पूरा, चोरी के लिए जिम्मेवार नहीं है, सिर्फ उसका दायां हाथ जिम्मेवार है। यह निकलता था खिड़की के पास से और खिड़की में कोई चीज रखी दिखाई पड़ गई। दायां हाथ बढ़ा और उसने खिड़की से चीज निकाल ली। इसके पैरों का तो कोई कसूर नहीं है। मजिस्ट्रेट ने कहा कि यह बात तो तर्कयुक्त है। और वकील ने कहा कि आप पूरे मुल्ला नसरुद्दीन को दो साल की सजा दे रहे हैं, यह अन्याय है। सिर्फ इसके दाएं हाथ को सजा मिलनी चाहिए। मजिस्ट्रेट ने कहा, यह बात भी ठीक है। लेकिन वह भी होशियार आदमी था। उसने कहा, ठीक है। तो हम तुम पर छोड़ते हैं। हम सिर्फ दाएं हाथ को दो साल की सजा देते हैं। मुल्ला नसरुद्दीन दाएं हाथ के साथ जेल में रहना चाहे रहे, न रहना चाहे न रहे। तत्काल नसरुद्दीन ने दायां हाथ निकालकर टेबिल पर रख दिया और दरवाजे के बाहर हो गया। वह लकड़ी का हाथ था।
मन कुछ करे, तो हमारा मन यह भी कहता है कि जिम्मेवार वह नहीं है। शरीर
पर जिम्मेवारी ठहराता है। जो अ-मन में पहुंच गए, उनका शरीर निर्मल हो जाता

है, स्वच्छ जल की भांति। शरीर बहुत ही निर्मल है। मन ही सारा विकार पैदा करता है।
निर्मल उनका शरीर, निरालंब उनका आसन है।
और जब मन नहीं रह जाता, तो उनका कोई आलंबन नहीं रह जाता। वे किसी चीज
का सहारा नहीं लेते, वे किसी चीज के सहारे नहीं जीते, वे किसी चीज को साधन नहीं बनाते। और जब कोई व्यक्ति सब भांति निरालंब हो जाता है, तो उसे परमात्मा का आलंबन मिलता है, उसके पहले नहीं। जब तक हम सोचते हैं, हम ही अपने सहारे खड़े कर लेंगे, तब तक परमात्मा प्रतीक्षा करता है। ठीक भी है। सहारा तभी मिल सकता है हमें, जब हम बिल्कुल बेसहारे हो जाएं--टोटली हेल्पलेस--उसके पहले नहीं।
लेकिन मन कहता है, क्या जरूरत है बेसहारा होने की? सहारा हम देते हैं। क्या चाहिए तुम्हें? ज्ञान चाहिए? तो चलो शास्त्र का अध्ययन कर लो, ज्ञान मिल जाएगा। मन कहता है, शास्त्र का अध्ययन कर लो, ज्ञान मिल जाएगा।
नहीं मिलेगा। मन शास्त्र से जो इकट्ठा करेगा, वह सिर्फ स्मृति होगी, ज्ञान नहीं; मेमोरी होगी, ज्ञान नहीं। वह आत्म-अनुभव नहीं होगा। वह पराए का अनुभव होगा। मन धोखा दे देगा, कहेगा कि अपना ही अनुभव है।
मन सब सहारे देने को तैयार है। वह कहता है कि क्या जरूरत है? मैं तो हूं! मैं सब कर दूंगा। मन परमात्मा बनने को तैयार है सदा। वह कहता है कि क्या जरूरत है! हम पूरा करने को तैयार हैं। परमात्मा के लिए प्रार्थना करने जाने की क्या जरूरत है!
एक नाव डूबने के करीब है। सभी यात्री हाथ जोड़कर, घुटने टेककर प्रार्थना कर रहे हैं। सिर्फ मुल्ला नसरुद्दीन शांत बैठा हुआ है। कोई यात्री कह रहा है कि हे प्रभु, बचाओ। मेरा जो मकान है, वह मैं दान कर दूंगा। कोई कह रहा है कि बचाओ, अब मैं व्रत-उपवास रखूंगा, नियम से जीऊंगा, कोई बुराई न करूंगा। कोई कुछ कह रहा है, कोई कुछ कह रहा है। आखिर में मुल्ला नसरुद्दीन जोर से चिल्लाया कि ठहरो, जरूरत से ज्यादा वचन मत दे देना। जमीन दिखाई पड़ रही है। नमाज-प्रार्थना टूट गई। लोग उठ गए, सामान-बिस्तर बांधने लगे। वे वचन, वे प्रतिज्ञाएं भूल गईं।
एक बार मुल्ला खुद ऐसी मुसीबत में पड़ गया था। उस वक्त उसने प्रॉमिस दे
दी थी। उसने कहा, उसी अनुभव से मैंने तुमको रोका। एक बार मेरी नाव भी इसी तरह डूबने लगी थी, तो मैं कह फंसा कि अगर मैं बच जाऊंगा तो अपना मकान बेच दूंगा और बेचकर सारा धन गरीबों को बांट दूंगा। बड़ा मकान था, दस लाख उसके दाम थे। बच गया। मुल्ला ने कहा, कहने के बाद तो मैं सोचने लगा कि अब न ही बचूं, तो अच्छा। लेकिन बच गया--दुर्भाग्य। झंझट सिर आ गई। मकान बेचना पड़ा और धन गरीबों में बांटना पड़ा।
लेकिन मुल्ला ने तरकीब की। मकान जब उसने नीलाम किया और सारा गांव इकट्ठा हुआ, तो उसने मकान के साथ एक छोटी सी बिल्ली भी बांध दी। और उसने कहा कि दोनों साथ बिकेंगे। मकान का दाम तो एक रुपया है, बिल्ली का दाम दस लाख रुपया है। कई लोगों ने कहा, हम तो मकान खरीदने आए हैं। मुल्ला ने कहा, हम को दोनों साथ ही बेचने हैं। फिर लोगों ने देखा कि कोई हर्जा तो है नहीं, दस लाख में बिल्ली खरीद लो, एक रुपए में मकान मिल रहा है। मकान के दाम इतने थे ही। मुल्ला ने दस लाख में बिल्ली बेच दी, एक रुपए में मकान। एक रुपया गरीबों में बांट दिया।
उसने कहा, एक दफे मैं भी फंस गया था, तो बड़ी झंझट हुई थी। जरूरत से ज्यादा वचन मत दे देना। जमीन दिखाई पड़ रही है।
मन सब भांति के सहारे देता है। जो मन से रहित हो जाते हैं, वे ही निरालंब हो पाते हैं। वे कहते हैं, अब परमात्मा ही है। अब वह जो करे ठीक।
अब अपनी तरफ से करने को कुछ नहीं बचता।
और जैसे निनाद करती अमृत-सरिता बहती है, ऐसे ही उनके जीवन की सब क्रियाएं हो जाती हैं।
जैसे निनाद करती हुई गंगा उतरती है हिमालय से--गीत गाती हुई, नाचती, आनंदमग्न, जैसे अपने प्रियतम से मिलने जाती हो, घूंघर बंधे उसके पैरों में, छाती में उसके गीत, ऐसा ही उनका सारा जीवन है। आनंद, अमृत के किल्लोल करता हुआ। उनका उठना, उनका बैठना सब प्रभु-मिलन है। उनका चलना, उनका बोलना,

उनका चुप होना, सब प्रभु-मिलन है। उनका होना एक अमृत की सरिता है, जो किल्लोल करती, आनंद के गीत गाती सागर की ओर भागती रहती है।

आज इतना ही।

अब हम ध्यान में उतरें।
दूर-दूर फैल जाएं! दूर-दूर फैल जाएं! दूर-दूर फैल जाएं, ताकि किसी को किसी का धक्का न लगे। पहले से ख्याल कर लें, पीछे अड़चन होती है, आपको ही अड़चन होती है। दूर-दूर फैल जाएं। पूरे ग्राउंड का उपयोग करना है, दूर-दूर फैल जाएं। मेरी आवाज आप तक पहुंचेगी, इसलिए कोई पास होने की जरूरत नहीं है।
आंख पर पट्टियां बांध लेनी हैं। आंख पर पट्टियां बांध लें, दूर-दूर फैल जाएं। अपनी जगह बना लें। आज तो बहुत जोर से होगा ध्यान, इसलिए काफी जगह बना लें।
शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
ग्यारहवां प्रवचन

अंतर-आकाश में उड़ान, स्वतंत्रता का दायित्व और शक्तियां प्रभु-मिलन की ओर

पांडरगगनम महासिद्धांतः।
शमदमादि दिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्र पात्र पटुता।
परात्पर संयोगः तारकोपदेशः।
अद्वैतसदानंदो देवता नियमः।
स्वान्तरिन्द्रिय निग्रहः।

शुद्ध परमात्मा उनका आकाश है। यही महासिद्धांत है।
शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है।
परात्पर से संयोग ही उनका तारक उपदेश है।
अद्वैत सदानंद ही उनका देव है।
अपने अंतर की इंद्रियों का निग्रह ही उनका नियम है।

पांडरगगनम महासिद्धांतः। परमात्मा ही उनका आकाश है, यही महासिद्धांत है।
एक आकाश, एक स्पेस तो बाहर है, जिसमें हम चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, जहां भवन निर्मित होते हैं और खंडहर हो जाते हैं, जहां आकाश में पक्षी उड़ते, सूर्य जन्मते, पृथ्वियां विलुप्त होतीं। एक आकाश हमारे बाहर है। यह जो बाहर है हमारे आकाश, यह जो बाहर फैला है हमारे आकाश, यही अकेला आकाश नहीं है। दिस स्पेस इ.ज नाट द ओनली स्पेस। एक और आकाश भी है। वह हमारे भीतर है।
और जो आकाश हमारे बाहर फैला है, वह असीम है। वैज्ञानिक कहते हैं, उसकी कोई सीमा का पता नहीं चलता। लेकिन जो आकाश हमारे भीतर फैला है, यह बाहर का आकाश उसके सामने कुछ भी नहीं है। कहें कि वह असीम से भी ज्यादा असीम है। अनंत आयामी उसकी असीमता है--मल्टी डायमेंशनल इनफिनिटी है। बाहर के आकाश में चलना, उठना होता है, भीतर के आकाश में जीवन है। बाहर के आकाश में क्रियाएं होती हैं, भीतर के आकाश में चैतन्य है।
तो जो बाहर के आकाश में ही खोजता रहेगा, वह कभी भी जीवन से मुलाकात न
कर पाएगा। उसकी चेतना से कभी भेंट न होगी। उसका परमात्मा से कभी मिलन न होगा। ज्यादा से ज्यादा पदार्थ मिल सकता है बाहर, परमात्मा का स्थान तो भीतर का आकाश है, अंतराकाश है, इनर स्पेस है।
ऋषि कहता है, यही महासिद्धांत है।
और तो सब सिद्धांत हैं, यह महासिद्धांत है कि अगर जीवन के सत्य को पाना हो, तो अंतर-आकाश में उसकी खोज करनी पड़ती है।
लेकिन हमें अंतर-आकाश का कोई भी, कोई भी अनुभव नहीं है। हमने कभी भीतर
के आकाश में कोई उड़ान नहीं भरी। हमने भीतर के आकाश में एक चरण भी नहीं रखा है। हम भीतर की तरफ गए ही नहीं। हमारा सब जाना बाहर की तरफ है। हम जब भी जाते हैं, बाहर ही जाते हैं। उसके कुछ कारण हैं।
एक मित्र ने प्रश्न पूछा है इस संबंध में। उन्होंने पूछा है, जब भीतर की, स्वरूप की स्थिति परम आनंद है, तो यह मन कहां से आ जाता है? जब भीतर नित्य आनंद का वास है, तो ये मन के विकार कैसे जन्म जाते हैं? ये कहां से अंकुरित हो जाते हैं?
इस अंतर-आकाश के संबंध में ही उसे भी समझ लेना उपयोगी है। यह प्रश्न सदा ही साधक के मन में उठता है कि जब मेरा स्वभाव ही शुद्ध है, तो यह अशुद्धि कहां से आ जाती है? और जब मैं स्वभाव से ही अमृत हूं, तो यह मृत्यु कैसे घटित होती है? और जब भीतर कोई विकार ही नहीं है, निर्विकार, निराकार का आवास है सदा से, सदैव से, तो ये विकार के बादल कैसे घिर जाते हैं? कहां

से इनका जन्म होता है? कहां इनका उदगम है? ये अंकुरित कैसे होते हैं? इसे समझने के लिए थोड़ी सी गहराई में जाना पड़े।
पहली बात तो यह समझनी पड़े कि चेतना, जहां भी चेतना है, वहां चेतना की स्वतंत्रताओं में एक स्वतंत्रता यह भी है कि वह अचेतन हो सके। ध्यान रखें, अचेतन का अर्थ जड़ नहीं होता। अचेतन का अर्थ होता है, चेतन, जो कि सो गया है। चेतन, जो कि छिप गया है। यह चेतना की ही क्षमता है कि वह अचेतन हो सकती है। जड़ की यह क्षमता नहीं है। आप पत्थर से यह नहीं कह सकते हैं कि तू अचेतन है। जो चेतन नहीं हो सकता, वह अचेतन भी नहीं हो सकता। जो जाग नहीं सकता, वह सो भी नहीं सकता। और ध्यान रखें, जो सो भी नहीं सकता, वह जागेगा कैसे!
चेतना की ही क्षमता है एक, अचेतन हो जाना। अचेतन का अर्थ चेतना का नाश नहीं है। अचेतन का अर्थ है, चेतना का प्रसुप्त हो जाना, छिप जाना, अप्रकट हो जाना। चेतना की मालकियत है यह कि चाहे तो प्रकट हो, और चाहे तो अप्रकट हो जाए। यही चेतना का स्वामित्व है। या कहें, यही चेतना की स्वतंत्रता है। अगर चेतना अचेतन होने को स्वतंत्र न हो, तो चेतना परतंत्र हो जाएगी। फिर आत्मा की कोई स्वतंत्रता न होगी।
इसे ऐसा समझें, अगर आपको बुरे होने की स्वतंत्रता ही न हो, तो आपके भले होने का अर्थ क्या होगा? अगर आपको बेईमान होने की स्वतंत्रता ही न हो, तो आपके ईमानदार होने का कोई अर्थ होता है? और जब भी हम किसी व्यक्ति को कहते हैं कि वह ईमानदार है, तो इसमें निहित है, इम्प्लायड है, कि वह चाहता तो बेईमान हो सकता था और नहीं हुआ। अगर हो ही न सकता हो बेईमान, तो ईमानदारी दो कौड़ी की हो जाती है। ईमानदारी का मूल्य बेईमान होने की क्षमता और संभावना में छिपा है। जीवन के शिखर छूने का मूल्य, जीवन की अंधेरी घाटियों में उतरने की भी हमारी क्षमता है, इसमें छिपा है। स्वर्ग पहुंच जाना इसीलिए संभव है कि नर्क की सीढ़ी भी हम पार कर सकते हैं। और प्रकाश इसीलिए पाने की आकांक्षा है कि हम अंधेरे में भी हो सकते हैं।
ध्यान रहे, अगर आत्मा के लिए बुरा होने का उपाय ही न हो, तो आत्मा के भले होने में बिल्कुल ही नपुंसकता, इंपोटेंसी हो जाएगी। विपरीत की सुविधा होनी चाहिए, और अगर चेतना को भी विपरीत की सुविधा नहीं है, तो चेतना गुलाम है। और गुलाम चेतना का क्या अर्थ होता है? उससे तो अचेतन होना, जड़ होना बेहतर है।
यह जो हमारे भीतर छिपा हुआ परमात्मा है, यह परम स्वतंत्र है, एब्सोल्यूट फ्रीडम। इसलिए शैतान तक होने का उपाय है और परमात्मा होने की भी सुविधा है। एक छोर से दूसरे छोर तक हम कहीं भी हो सकते हैं। और जहां भी हम हैं, वहां होना हमारी मजबूरी नहीं, हमारा निर्णय है, अवर ओन डिसीजन। अगर मजबूरी है, तो बात खत्म हो गई। अगर मैं पापी हूं और पापी होना मेरी मजबूरी है, पापी मुझे परमात्मा ने बनाया है, या मैं पुण्यात्मा हूं और पुण्यात्मा मुझे परमात्मा ने ही बनाया है, तो मैं पत्थर की तरह हो गया, मुझमें चेतना न रही। मैं एक बनाई हुई चीज हो गया, फिर मेरे कृत्य के कोई दायित्व मेरे ऊपर नहीं हैं।
एक मुसलमान मित्र मुझे मिलने आए थे, कुछ दिन हुए। बहुत समझदार व्यक्ति हैं। वे मुझसे कहने लगे--वृद्ध हैं--वे मुझसे कहने लगे कि मैं बहुत लोगों से मिला हूं, बहुत साधु-संन्यासियों के पास गया हूं, लेकिन कोई हिंदू मुझे यह नहीं समझा सका कि आदमी पाप में क्यों गिरा। हिंदू, जैन या बौद्ध, इस भूमि पर पैदा हुए तीनों धर्म यह मानते हैं कि अपने कर्मों के कारण। उन मुसलमान मित्र का पूछना बिल्कुल ठीक था। वे कहने लगे, अगर अपने कर्मों के कारण गिरा, तो पहले जन्म में, जब उसकी शुरुआत ही हुई होगी, तब तो उसके पहले कोई कर्म नहीं थे।
ठीक है, जब पहला ही जन्म हुआ होगा चेतना का, तब तो वह निष्कपट, शुद्ध पैदा हुई होगी। उसके पहले तो कोई कर्म नहीं थे। इस जन्म में हम कहते हैं कि फलां आदमी बुरा है, क्योंकि पिछले जन्म में बुरे कर्म किए। पिछले जन्म में बुरे कर्म किए, क्योंकि और पिछले जन्म में बुरे कर्म किए। लेकिन कोई प्रथम जन्म तो मानना ही पड़ेगा। उस प्रथम जन्म के पहले तो कोई बुरे कर्म नहीं थे, तो बुरे कर्म आ कैसे गए फिर?

मैंने उन मुसलमान मित्र से कहा कि यह बात बिल्कुल तर्कयुक्त है। लेकिन क्या इस्लाम और ईसाइयत जो उत्तर देते हैं, उन पर आपने विचार किया? उन्होंने कहा, वह ज्यादा ठीक मालूम पड़ता है कि ईश्वर ने आदमी को बनाया, जैसा चाहा वैसा बनाया। तो मैंने उनसे कहा, यहीं थोड़ी सी बात समझ लें। इस देश में पैदा हुआ कोई भी धर्म जिम्मेवारी ईश्वर पर नहीं डालना चाहता, मनुष्य पर डालना चाहता है। यह मनुष्य की गरिमा की स्वीकृति है। रिस्पांसबिलिटी इ.ज ऑन मैन, नाट ऑन गॉड।
ध्यान रहे, गरिमा तभी है, जब दायित्व हो। अगर दायित्व भी नहीं है--अगर मैं बुरा हूं तो परमात्मा ने बनाया, भला हूं तो परमात्मा ने बनाया, जैसा हूं परमात्मा ने बनाया--तो सारी जिम्मेवारी परमात्मा की हो जाती है। और तब और भी उलझन खड़ी होगी कि परमात्मा को बुरा आदमी बनाने में क्या रस हो सकता है? और परमात्मा ही अगर बुरा बनाता है, तो हमारी अच्छे बनने की कोशिश परमात्मा के खिलाफ पड़ती है। तो परमात्मा आदमी को बुरा बनाता है और तथाकथित साधु-संन्यासी आदमी को अच्छा बनाते हैं, यह तो बड़ा मुश्किल है। गुरजिएफ कहा करता था कि दुनिया के सब महात्मा परमात्मा के खिलाफ मालूम पड़ते हैं, दुश्मन मालूम पड़ते हैं। वह आदमी को बुरा बनाता है या जैसा भी बनाता है, फिर आप कौन हैं सुधारने वाले!
कर्म का सिद्धांत कहता है, व्यक्ति पर जिम्मेवारी है। लेकिन व्यक्ति
पर जिम्मेवारी तभी हो सकती है जब व्यक्ति स्वतंत्र हो। स्वतंत्रता के साथ दायित्व है--फ्रीडम इम्प्लाइज रिस्पांसबिलिटी। अगर स्वतंत्रता नहीं है, तो दायित्व बिल्कुल नहीं है। अगर स्वतंत्रता है, तो दायित्व है। लेकिन स्वतंत्रता हमेशा द्विमुखी है। दोनों तरफ की स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता होती है।
मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा जब बड़ा हो गया, तो मुल्ला ने उससे कहा, बेटा तिजोरी तेरी है, चाभी भर मेरे पास रहेगी। ऐसे तू जितना खर्च करना चाहे, खर्च कर सकता है, लेकिन ताला भर मत खोलना। स्वतंत्रता पूरी दी जा रही मालूम पड़ती है और जरा भी नहीं दी जा रही है।
मैंने एक मजाक सुना है कि जब पहली दफा फोर्ड ने कारें बनाईं, पहली दफा मोटरें बनीं अमरीका में, तो एक ही रंग की बनाई थीं, काले रंग की थीं। और फोर्ड ने अपने दरवाजे पर अपनी फैक्ट्री के एक वचन लिख छोड़ा था--यू कैन चू.ज एनी कलर, प्रोवाइडेड इट इ.ज ब्लैक। आप कोई भी रंग चुन सकते हैं, अगर वह काला है। प्रोवाइडेड इट इ.ज ब्लैक। काले रंग की कुल गाड़ियां ही थीं, कोई दूसरे रंग की तो गाड़ियां थीं नहीं, लेकिन स्वतंत्रता पूरी थी; आप कोई भी रंग चुन लें। बस, काला होना चाहिए। इतनी शर्त थी पीछे।
अगर आदमी से परमात्मा यह कहे कि यू आर फ्री, प्रोवाइडेड यू आर गुड; आप स्वतंत्र हैं, अगर आप अच्छे होना चाहते हैं तो ही, तो स्वतंत्रता दो कौड़ी की हो गई।
स्वतंत्रता का अर्थ ही यही होता है कि हम बुरे होने के लिए भी स्वतंत्र हैं। और जब स्वतंत्रता है, तभी दायित्व है। तब फिर जिम्मा मेरा है। अगर मैं बुरा हूं, तो मैं जिम्मेवार हूं। और अगर भला हूं, तो मैं जिम्मेवार हो जाता हूं। जिम्मेवारी मुझ पर पड़ जाती है।
फिर भारत यह भी कहता है कि परमात्मा हमसे बाहर नहीं है। वह हमारे भीतर छिपा है। इसलिए हमारी स्वतंत्रता अंततः उसकी ही स्वतंत्रता है। इसे और समझ लेना चाहिए। क्योंकि परमात्मा अगर बाहर बैठा हो हमसे और हमसे कहे कि आई गिव यू फ्रीडम, मैं तुम्हें स्वतंत्रता देता हूं, तो भी वह परतंत्रता हो जाएगी, क्योंकि किसी दूसरे के द्वारा दी गई स्वतंत्रता कभी स्वतंत्रता नहीं हो सकती। क्योंकि वह किसी भी दिन कैंसिल कर सकता है। वह किसी भी दिन कह देगा, अच्छा, बस बंद। अब इरादा बदल दिया। अब स्वतंत्रता नहीं देते हैं। तो हम क्या करेंगे?
नहीं, स्वतंत्रता आत्यंतिक है, अल्टीमेट है, क्योंकि देने वाला और लेने वाला दो नहीं हैं। वह हमारे भीतर ही बैठी हुई चेतना परम स्वतंत्र है, क्योंकि वही परमात्मा है। वह जो अंतरस्थ आकाश है, वही परमात्मा है। और परमात्मा को भी अगर बुरे होने की सुविधा न हो, तो परमात्मा की परतंत्रता

के अतिरिक्त और क्या घोषणा होगी। इसलिए मन पैदा हो सकता है। वह हमारा पैदा किया हुआ है। वह परमात्मा का पैदा किया हुआ है।
एक और बात ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि जीवन के प्रगाढ़ अनुभव के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य होता है। प्रौढ़ता के लिए, मैच्योरिटी के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य होता है। जिसने दुख नहीं जाना, वह सुख कभी जान नहीं पाता। और जिसने अशांति नहीं जानी, वह शांति भी कभी नहीं जान पाता। और जिसने संसार नहीं जाना, वह स्वयं परमात्मा होते हुए भी परमात्मा को नहीं जान पाता। परमात्मा की पहचान के लिए संसार की यात्रा पर जाना अनिवार्य है। अनिवार्य! उस पर कोई बचाव नहीं है। और जो जितना गहरा संसार में उतर जाता है, उतने ही गहन परमात्मा के स्वरूप को अनुभव कर पाता है। उस उतरने का भी प्रयोजन है।
कोई चीज जो हमारे पास सदा से हो, उसका हमें तब तक पता नहीं चलता, जब तक
वह खो न जाए। खोने पर ही पता चलता है। मेरे पास कुछ था, इसका अनुभव भी खोने पर पता चलता है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा है। खोना भी ठीक से पाने का उपाय है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा, अंग, अनिवार्य अंग है। जो हमारे भीतर छिपा है, उसे अगर हमें ठीक-ठीक अनुभव करना हो, तो हमें उसे खोने की यात्रा पर भी जाना पड़ता है।
कहते हैं लोग कि जब तक कोई परदेश नहीं जाता, तब तक अपने देश को नहीं पहचान पाता। वे ठीक कहते हैं। और कहते हैं लोग कि जब तक दूसरों से कोई परिचित नहीं होता, तब तक अपने से परिचित नहीं हो पाता। ईवेन द वे टु वनसेल्फ पासेस थ्रू द अदर। ज्यां पाल सार्त्र का बहुत प्रसिद्ध वचन है कि दूसरे को जाने बिना स्वयं को जानने का कोई उपाय नहीं। दूसरे से गुजरना पड़ता है स्वयं की पहचान के लिए। क्यों?
क्योंकि जब तक विपरीत का अनुभव न हो... जैसे शिक्षक काले ब्लैक बोर्ड
पर सफेद खड़िया से लिखता है। सफेद दीवार पर भी लिख सकता है, लिखने में कोई अड़चन नहीं है, लेकिन तब दिखाई नहीं पड़ेगा। लिखा भी जाएगा और दिखाई भी नहीं पड़ेगा। लिखा तो जाएगा, पढ़ा नहीं जा सकेगा। और ऐसे लिखने का क्या प्रयोजन, जो पढ़ा न जा सके।
सुना है मैंने कि एक आदमी सुबह-सुबह मुल्ला नसरुद्दीन के द्वार पर आया। गांव में अकेला ही पढ़ा-लिखा आदमी था नसरुद्दीन। और जहां एक ही आदमी पढ़ा-लिखा होता है, समझ लेना चाहिए, पढ़ा-लिखा कितना होगा! उस आदमी ने कहा कि जरा एक चिट्ठी लिख दो मुल्ला। मुल्ला ने कहा, मेरे पैर में बहुत दर्द है, मैं न लिख सकूंगा। उस आदमी ने कहा, हद हो गई। कभी हमने सुना नहीं कि लोग पैर से चिट्ठी लिखते हैं। हाथ से लिखो। पैर में दर्द है, रहने दो। हाथ में क्या अड़चन है? नसरुद्दीन ने कहा कि यह जरा रहस्य की बात है, यह न पूछो तो अच्छा। हम लिख न सकेंगे, चिट्ठी हम न लिखेंगे, पैर में बहुत तकलीफ है। उस आदमी ने कहा, जरा रहस्य ही बता दो। यह बात क्या है, मेरी समझ में नहीं आता। नसरुद्दीन ने कहा, बात यह है कि हमारी लिखी चिट्ठी हमारे सिवाय और कोई नहीं पढ़ पाता। तो दूसरे गांव की यात्रा करने की अभी हमारी हैसियत नहीं है। पैर में तकलीफ बहुत है। लेकिन जो, नसरुद्दीन ने कहा, जो पढ़ा ही न जा सके, उसके लिखने का क्या फायदा। इसलिए हाथ तो फुर्सत में है, लेकिन पढ़ेगा कौन? सफेद दीवार पर लिख तो सकते हैं हम, पढ़ा नहीं जा सकता। और जो पढ़ा नहीं
जा सकता, उस लिखने का कोई अर्थ नहीं। इसलिए काले ब्लैक बोर्ड पर लिखना पड़ता है। उस पर दिखाई पड़ता है उभरकर। आकाश पर जब काले बादल होते हैं, तो दिखाई पड़ती है बिजली कौंधती।
भीतर जो छिपा है परमात्मा, उसके अनुभव के लिए पदार्थ की गहनता में उतरना अनिवार्य है। संन्यास को भी जानने के लिए गृहस्थ हुए बिना कोई मार्ग नहीं। सत्य को भी जानने के लिए असत्य के रास्तों से गुजरना पड़ता है। और इसे जब कोई अनिवार्यता समझता है और इस रहस्य को समझ जाता है, तो फिर जिस असत्य से गुजरा, उसके प्रति भी धन्यवाद ही मन में उठता है। क्योंकि उसके बिना सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता था। जिस पाप से गुजरकर पुण्य तक पहुंचे, उस पाप की भी अनुकंपा ही मालूम होती है अंदर, क्योंकि उसके बिना पुण्य तक नहीं पहुंचा जा सकता था।

बोधिधर्म ने कहा है--और बोधिधर्म इस पृथ्वी पर दस-पांच लोगों में एक है, जिन्होंने गहनतम सत्य के अनुभव को जाना--बोधिधर्म ने कहा है मरने के क्षण में, कि संसार, तेरा धन्यवाद, क्योंकि तेरे बिना निर्वाण को जानने का कोई उपाय न था। शरीर, तुझे धन्यवाद, क्योंकि तेरे बिना आत्मा को पहचानने की सुविधा कैसे बनती। सब पापो, तुम्हारी अनुकंपा मुझ पर, क्योंकि तुमसे गुजरकर मैं पुण्य के शिखर तक पहुंचा। तुम सीढ़ियां थे।
तब जीवन विपरीत होकर भी विपरीत नहीं रह जाता। तब जीवन विपरीत होकर भी एकरस हो जाता है और वैपरीत्य में भी एक हार्मनी और एक संगीत उत्पन्न हो जाता है। संगीत पैदा होता है विभिन्न स्वरों से। और अगर संगीत के किसी स्वर को बहुत उभारना हो, तो उसके पहले बहुत धीमे स्वर पैदा करने पड़ते हैं। तब उभरकर संगीत प्रगट होता है।
सब अभिव्यक्ति विपरीत के साथ है, इसलिए चेतना मन को पैदा करती है। चेतना का ही काम है। चेतना ही बाहर जाती है। और बाहर भटक-भटककर ही उसे पता चलता है कि बाहर कुछ नहीं है। तब चेतना भीतर वापस आती है। और ध्यान रहे, जो चेतना कभी बाहर नहीं गई थी उस चेतना में और जो चेतना बाहर भटककर भीतर आती है, रिचनेस का, समृद्धि का बहुत फर्क है।
इसलिए जब पापी कभी पुण्यात्मा होता है, तो उसके पुण्य की जो गहराई है,
वह साधारण आदमी के पुण्य की गहराई नहीं होती, जो कभी पापी नहीं हुआ। क्योंकि पापी बहुत जानकर पुण्य तक पहुंचता है।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अच्छे आदमी की कोई जिंदगी नहीं होती। अगर आप नाटककारों से पूछें, उपन्यासकारों से पूछें, फिल्म-कथा लिखने वालों से पूछें, तो वे कहेंगे, अच्छे आदमी पर तो कोई कथा ही नहीं लिखी जा सकती। अगर आदमी बिल्कुल अच्छा हो, तो कोरा सपाट होता है। रामायण में से राम को छोड़ने में बहुत असुविधा नहीं है, रावण को छोड़ने में सब कथा गड़बड़ हो जाती है। राम के बिना चल सकता है, रावण के बिना नहीं चल सकता है। कोई कितना ही कहे कि राम नायक हैं, जो कथा लिखना जानते हैं, वे कहेंगे, रावण नायक है, क्योंकि सारी कथा उसके इर्द-गिर्द घूमती है। और अगर राम भी प्रखर होकर प्रकट होते हैं, तो रावण के सहारे और रावण के कंधे पर। रावण के बिना राम भी सफेद दीवार पर खींची गई सफेद रेखा हो जाएंगे। वह काला ब्लैक बोर्ड तो रावण है।
लेकिन स्कूल में शिक्षक जब काले ब्लैक बोर्ड पर लिखता है, तो बच्चे ब्लैक बोर्ड का विरोध नहीं करते। वे जानते हैं कि सफेद रेखा उसी पर उभरती है। लेकिन जब रावण के ब्लैक बोर्ड पर राम उभरते हैं, तो हम नासमझ विरोध करते हैं कि रावण नहीं होना चाहिए। रावण दुनिया से मिटा दो। जिस दिन आप रावण को दुनिया से मिटा देंगे, उस दिन राम तिरोहित हो जाएंगे। वह कहीं खोजे से नहीं मिलेंगे।
जीवन विपरीत स्वरों के बीच एक सामंजस्य है। चेतना ही पैदा करती है मन को। चेतना ही विचार को पैदा करती है, ताकि निर्विचार को जान सके। परमात्मा ही संसार को बनाता है, ताकि स्वयं को अनुभव कर सके। यह आत्म-अन्वेषण की यात्रा है। इसमें भटकना जरूरी है।
एक कहानी मैं निरंतर कहता रहा हूं। एक गांव के बाहर एक आदमी उतरा अपने घो.ड़े से, झाड़ के पास बैठे नसरुद्दीन के सामने उसने हाथ में ली झोली पटकी, और कहा कि करोड़ों के हीरे-जवाहरात इस झोली में हैं। इसे मैं लेकर घूम रहा हूं गांव-गांव। मुझे कोई रत्तीभर भी सुख दे दे, तो मैं ये सब हीरे उसे सौंप दूं, लेकिन अब तक मुझे कोई रत्तीभर सुख नहीं दे पाया।
नसरुद्दीन ने कहा, तुम बहुत दुखी हो? उसने कहा, मुझसे ज्यादा दुखी कोई
भी नहीं हो सकता। तभी तो मैं रत्तीभर सुख के लिए करोड़ों के हीरे देने को तैयार हूं। नसरुद्दीन ने कहा, तुम ठीक जगह आ गए, बैठो।
वह जब तक बैठा, तब तक नसरुद्दीन उसकी थैली लेकर भाग खड़ा हुआ। वह आदमी स्वभावतः नसरुद्दीन के पीछे भागा कि मैं लुट गया, मैं मर गया। यह आदमी डाकू है, यह लुटेरा है। किसने कहा कि यह फकीर है! किसने कहा कि यह ज्ञानी है! लेकिन गांव के गली-कूचे नसरुद्दीन के परिचित थे। उसने काफी चक्कर खिलाए। पूरा गांव जग गया। सारा गांव दौड़ने लगा। करोड़ों का मामला था। और नसरुद्दीन आगे और वह धनपति छाती पीटता हुआ पीछे जार-जार चिल्ला रहा है कि

मेरी जिंदगीभर की कमाई वही है। और मैं सुख खोजने निकला हूं, और यह दुष्ट मुझे और दुख दिए दे रहा है।
भागकर नसरुद्दीन उसी झाड़ के पास पहुंच गया, जहां उसका घोड़ा खड़ा था अमीर का, झोला जाकर घोड़े के पास रखकर वह झाड़ के पीछे खड़ा हो गया। दो क्षण बाद ही अमीर भागा हुआ पहुंचा, पूरा गांव भागा हुआ पहुंचा। अमीर ने झोला पड़ा देखा, उठाकर छाती से लगा लिया और कहा, हे परमात्मा, तेरा बड़ा धन्यवाद। नसरुद्दीन ने झाड़ के पीछे से पूछा, कुछ सुख मिला? पाने के लिए खोना जरूरी है। उस आदमी ने कहा, कुछ? कुछ नहीं, बहुत मिला। इतना सुख मैंने जीवन में जाना ही नहीं। नसरुद्दीन ने कहा, अब तू जा। नहीं तो इससे ज्यादा अगर मैं सुख दूंगा, तो तुम मुसीबत में पड़ सकते हो। अब तू एकदम चला जा।
बहुत बार खोना बहुत जरूरी है। असली सवाल यह नहीं है कि हमने क्यों अपने को खोया। असली सवाल यह है कि या तो हमने पूरा अपने को नहीं खोया, या हम खोने के इतने अभ्यासी हो गए कि लौटने के सब रास्ते टूट गए मालूम पड़ते हैं। असली सवाल यह नहीं है कि क्यों हमने खोया। खोना अनिवार्य है। असली सवाल यह है कि कब तक हम खोए रहेंगे?
इसलिए बुद्ध से अगर कोई पूछता था कि यह आदमी अंधकार में क्यों गिरा?
तो बुद्ध कहते, व्यर्थ की बातें मत करो। अगर पूछना हो तो यह पूछो कि अंधकार के बाहर कैसे जाया जा सकता है? यह संगत सवाल है। यह असंगत है। बुद्ध कहते थे, इस बेकार की बातचीत में मुझे मत खींचो कि आदमी अंधकार में क्यों गिरा? वह तुम बाद में खोज लेना। अभी तुम मुझसे यह पूछ लो कि प्रकाश कैसेमिल सकता है?
बुद्ध कहते थे कि तुम उस आदमी जैसे हो, जिसकी छाती में जहरीला तीर घुसा हो और मैं उसकी छाती से तीर खींचने लगूं तो वह आदमी कहे, रुको, पहले यह बताओ कि यह तीर किसने मारा? पहले यह बताओ कि यह तीर पूरब से आया कि पश्चिम से? और पहले यह बताओ कि यह तीर जहर-बुझा है या साधारण है? तो बुद्ध कहते, मैं उस आदमी से कहता, यह सब तुम पीछे पता लगा लेना, अभी मैं तीर को खींचकर बाहर निकाल देता हूं। लेकिन वह आदमी कहता है कि जब तक जानकारी पूरी न हो, तब तक कुछ भी करना क्या उचित है?
तो यह फिक्र मत करें कि मन कैसे पैदा हुआ? यह फिक्र करें कि मन कैसे विसर्जित हो सकता है। और ध्यान रहे, बिना विसर्जन किए आपको कभी पता न चलेगा कि कैसे इसका सर्जन किया था। उसके कारण हैं।
उसके कारण हैं, क्योंकि सर्जन किए अनंत काल बीत गया। उस स्मृति को खोजना आज आपके लिए आसान नहीं होगा। रास्ता है। अगर आप लौटें अपने पीछे जन्मों में। लौटते जाएं, लौटते जाएं। आदमी के जन्म चुक जाएंगे, पशुओं के जन्म होंगे। पशुओं के जन्म चुक जाएंगे, कीड़े-मकोड़ों के जन्म होंगे। कीड़े- मकोड़ों के जन्म चुक जाएंगे, पौधों के जन्म होंगे। पौधों के जन्म चुक जाएंगे, पत्थरों के जन्म होंगे। लौटते जाएं उस जगह जहां पहले दिन आपकी चेतना सक्रिय हुई और मन का निर्माण शुरू हुआ।
लेकिन वह बड़ी लंबी यात्रा है और अति कठिन है। उसमें मत पड़ें कि यह मन कैसे बना। हां, लेकिन एक और सरल उपाय है कि इस मन को विसर्जित करें। और विसर्जन को अभी आप देख सकते हैं। और जब आप विसर्जन को देख लेंगे, तो आप जान जाएंगे कि विसर्जन की जो प्रक्रिया है, उससे उलटी प्रक्रिया सर्जन की है। बुद्ध एक दिन अपने भिक्षुओं के बीच सुबह जब बोलने गए, तो उनके हाथ में
एक रेशम का रूमाल था। बैठकर उन्होंने उस पर पांच गांठें लगाईं। भिक्षु बड़े चिंतित हुए, क्योंकि बुद्ध कभी कुछ हाथ में लेकर आते न थे। रेशम का रूमाल क्यों ले आए? और फिर बोलने की जगह बैठकर उस पर गांठें लगाने लगे! बड़ी उत्सुकता, बड़ी आतुरता हो गई। क्या कोई जादू दिखाने का ख्याल है? क्योंकि जादूगर रूमाल वगैरह लेकर आते हैं। बुद्ध को क्या रूमाल लेकर आने की बात थी?
लेकिन बुद्ध शांति से, सन्नाटे में पांच गांठें लगा लिए और फिर उन्होंने कहा, भिक्षुओ, ये रूमाल में गांठें लग गईं। मैं तुमसे दो सवाल पूछना चाहता हूं। एक तो यह कि जब रूमाल में गांठें नहीं लगीं थीं तब के रूमाल में, और अब जब रूमाल में गांठें लग गई हैं अब के रूमाल में, क्या कोई फर्क है स्वरूपगत?

एक भिक्षु ने कहा, स्वरूपगत तो फर्क बिल्कुल नहीं है, रूमाल वही का वही है। जरा भी, इंचभर भी तो रूमाल के स्वरूप में फर्क नहीं है। लेकिन आप हमें फंसाने की कोशिश कर रहे हैं। फर्क हो भी गया, क्योंकि तब रूमाल में गांठें न थीं और अब गांठें हैं। लेकिन फर्क बहुत ऊपरी है, क्योंकि गांठें रूमाल के स्वभाव पर नहीं लगतीं, केवल शरीर पर लगती हैं।
संसार और निर्वाण में इतना ही फर्क है। निर्वाण में भी वही स्वरूप होता है, जो संसार में। सिर्फ संसार में रूमाल पर पांच गांठें होती हैं। बुद्ध ने कहा, तो भिक्षुओ, यह जो रूमाल है गांठ लगा हुआ, ऐसे ही तुम हो। तुममें और मुझमें बहुत फर्क नहीं। स्वरूप एक जैसा है। सिर्फ तुम पर कुछ गांठें लगी हैं।
बुद्ध ने कहा, इन गांठों को मैं खोलना चाहता हूं। और उस रूमाल को पकड़कर बुद्ध ने खींचा। स्वभावतः, खींचने से गांठें और मजबूत हो गईं। एक भिक्षु ने कहा, आप जो कर रहे हैं, इससे गांठें खुलेंगी नहीं, खुलना मुश्किल हो जाएगा। बुद्ध ने कहा, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक गांठों को ठीक से न समझ लिया जाए, तब तक खींचना खतरनाक है। हम सब गांठों को खींच रहे हैं बिना समझे कि गांठ कैसे लगी हैं।
एक भिक्षु से बुद्ध ने कहा, तो मैं क्या करूं? तो उस भिक्षु ने कहा, जानना जरूरी है कि गांठ कैसे लगी, तभी खोला जा सकता है। क्योंकि लगने का जो ढंग है, उससे विपरीत खुलने का ढंग होगा। बुद्ध ने कहा, गांठें अभी लगी हैं, इसलिए तुम्हारे ख्याल में है कि कैसे लगीं, लेकिन गांठें अगर बहुत काल पहले लगी होतीं, तो तुम कैसे पता लगाते कि गांठें कैसे लगीं? लग चुकीं। तो फिर उस भिक्षु ने कहा, तब तो हम खोलकर ही पता लगाते। खोलने से पता लग जाएगा। क्योंकि खोलने का जो ढंग है, उसका उलटा ढंग लगने का होगा।
तो आप इस फिक्र में न पड़ें कि यह मन कैसे पैदा हुआ, आप इस फिक्र में पड़ें कि यह मन कैसे चला जाए। और जिस क्षण चला जाएगा, उस दिन आप जान लेंगे उसी क्षण कि यह कैसे पैदा हुआ था। जो विसर्जन करता है, वही सर्जन करने वाला है। और जो विसर्जन कर सकता है, वह सर्जन कर सकता था। विसर्जन की जो प्रक्रिया है, उससे उलटी प्रक्रिया सर्जन की है।
ऋषि कहता है, शुद्ध परमात्मा ही उनका आकाश है। यही महासिद्धांत है।
यह भीतर का जो आकाश है बादलरहित, मेघरहित, विचाररहित, मनरहित--आकाश का तभी पता चलेगा। जब आकाश में बादल घिर जाते हैं, तो बादलों का पता चलता है, आकाश का पता नहीं चलता। हालांकि आकाश मिट नहीं गया होता, सदा बादलों के पीछे खड़ा रहता है। और बादल भी आकाश में ही होते हैं, आकाश के बिना नहीं हो सकते। लेकिन जब बदलियों से घिरा होता है आकाश, तो बदलियों का पता चलता है, आकाश का पता नहीं चलता। विचारों से, मन से घिरे हुए भीतर के आकाश का भी पता नहीं चलता।
डेविड ह्यूम ने कहा है कि सुनकर ये बातें कि भीतर भी कोई है, मैं बहुत बार खोजने गया, लेकिन जब भी भीतर गया, तो मुझे कोई आत्मा न मिली, कोई परमात्मा न मिला। कभी कोई विचार मिला, कभी कोई वासना मिली, कभी कोई वृत्ति मिली, कभी कोई राग मिला, लेकिन आत्मा कभी भी न मिली। वह ठीक कहता है। अगर आप अपने हवाई जहाज को उड़ाएं, या अपने पंखों को फैलाएं आकाश की तरफ और बदलियां आपको मिलें, और बदलियों की ही खोज करके आप वापस लौट आएं, बदलियों को पार न करें, तो लौटकर आप भी कहेंगे, आकाश कोई भी न मिला। बदलियां ही बदलियां थीं, धुआं ही धुआं था, बादल ही बादल थे, कहीं कोई आकाश न था।
अपने भीतर भी हम सिर्फ बदलियों तक जाकर लौट आते हैं। उनके पार प्रवेश नहीं हो पाता। जब तक उनके पार प्रवेश न हो--जैसे आप कभी हवाई जहाज पर उड़े हों बादलों के ऊपर, और बादल नीचे छूट जाते हैं--वैसे ही ध्यान में भी एक उड़ान होती है, जब विचार नीचे छूट जाते और आप ऊपर हो जाते हैं, तब खुला आकाश मिलता है। तब अंतर का आकाश मिलता है। इसे ऋषि कहता है, महासिद्धांत। क्योंकि इस पर सब कुछ निर्भर है।
कहा है, शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है।
शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है। मनुष्य के पास शक्तियां हैं। मनुष्य के पास शक्तियां

तो जरूर हैं, लेकिन समझ सबकी जागी हुई नहीं है। इसलिए शक्तियों का दुरुपयोग हो जाता है। और शक्ति के साथ समझ न हो, तो खतरनाक है। हां, समझ के साथ शक्ति न हो, तो कोई खतरा नहीं है। लेकिन होता ऐसा है कि समझ के साथ अक्सर शक्ति नहीं होती और नासमझ के साथ अक्सर शक्ति होती है। इस दुनिया का दुर्भाग्य यही है कि नासमझों के हाथ में काफी शक्ति होती है। उसका कारण है कि नासमझ शक्ति की ही तलाश करते हैं। समझदार तो शक्ति की तलाश बंद कर देते हैं।
फ्रेड्रिक नीत्से ने अपने जीवन का सार-सिद्धांत जिस किताब में लिखा है, उसका नाम है, द विल टु पावर। शक्ति को खोजने की वासना, आकांक्षा, अभीप्सा, संकल्प। नीत्से कहता है, इस जगत में पाने योग्य एक ही चीज है, वह है शक्ति, पावर। नीत्से कहता है, कोई सुख नहीं पाना चाहता। सब लोग शक्ति पाना चाहते हैं। और जब शक्ति मिलती है, तब सुख एक बाय-प्रोडक्ट है। और शक्ति पाने के लिए आदमी कितने दुख उठा लेता है। अनंत दुख उठाने को राजी हो जाता है।
नीत्से की बात, जहां तक साधारण आदमी का सवाल है, सौ प्रतिशत सही है। आपको जब भी सुख का अनुभव हुआ है, वह वही क्षण है, जब आपको शक्ति का अनुभव हुआ है। अगर चार आदमी की गर्दन आपकी मुट्ठी में है, तो आपको बड़ा सुख मालूम पड़ता है।
राष्ट्रपतियों को या प्रधानमंत्रियों को कौन सा सुख मालूम पड़ता होगा? कितने आदमियों की गर्दन है उनकी मुट्ठी में। प्रधानमंत्री पद से नीचे उतर जाता है, तो ऐसी हालत हो जाती है जैसे क्रीज मिट गई हो उस कपड़े की। लुंज-पुंज हो जाता है। जान निकल जाती है, रीढ़ टूट जाती है, बिना रीढ़ के सरकने वाले पशु की हालत हो जाती है। बिना रीढ़ के, कोई रीढ़ नहीं रह जाती, बैकबोनलेस। ऐसा उठाओ, छोड़ दो, बोरे की तरह नीचे गिर जाता है। यही आदमी राजसिंहासन पर ऐसा रीढ़ वाला मालूम पड़ता था! लेकिन वह रीढ़ इसकी नहीं थी, वह सिंहासन के पीछे की हड्डी थी, वह इसकी अपनी हड्डी न थी।
धन पाकर आदमी को क्या मिलता होगा? और उस धन को पाकर जिससे कुछ भी खरीदने को नहीं बचता, क्या मिलता होगा? पावर! धन पोटेंशियल पावर है। एक रुपया मेरे खीसे में पड़ा है, तो बहुत चीजें पड़ी हैं एक साथ। चाहूं तो एक आदमी से रातभर पैर दबवा लूं। चाहूं तो एक आदमी से कहूं कि रातभर कहते रहो, हुजूर, हुजूर, तो वह हुजूर, हुजूर कहता रहेगा। इस एक रुपए में बहुत कुछ, बहुत शक्ति छिपी है। वह बीज में छिपी है। इसलिए रुपया खीसे में होता है, तो भीतर आत्मा मालूम पड़ती है कि मैं भी हूं। क्योंकि अभी कुछ भी करवा लूं। खीसे में रुपया नहीं होता है, तो भीतर से आत्मा सरक जाती है। हालत उलटी होती है, अब जिसके खीसे में रुपया है, वह मुझसे कुछ करवा ले।
सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन पर, एक अंधेरे रास्ते पर, चार चोरों ने हमला कर दिया। मुल्ला ऐसा लड़ा जैसा कि कोई लड़ सकता था। चारों को पस्त कर दिया। फिर भी चार थे, हड्डी-पसली तोड़ दी चारों की। बामुश्किल वे चार मुल्ला पर कब्जा पा सके। खीसे में हाथ डाला, तो केवल अठन्नी निकली। तो उन्होंने नसरुद्दीन से कहा कि भैया, अगर रुपया तेरे खीसे में होता, तो आज हम जिंदा न बचते। हद कर दी तूने भी। अठन्नी के पीछे ऐसी मार-काट मचाई! और हम इसलिए सहे गए और इसलिए लड़े चले गए कि तेरी मार-पीट से ऐसा लगा कि बहुत माल होगा।
मुल्ला ने कहा, सवाल बहुत माल का नहीं है। आई कैन नाट एक्सपोज माई फाइनेंशियल कंडीशन टु टोटल स्ट्रैंजर्स। अपनी माली हालत मैं बिल्कुल अजनबी लोगों के सामने प्रकट नहीं कर सकता। अठन्नी ही है! लेकिन इससे माली हालत तो सब खराब हो गई न! तुम चार आदमियों के सामने पता चल गया कि अठन्नी। सब बात ही खराब हो गई। इसलिए लड़ा। अगर मेरे खीसे में लाख-दो लाख रुपए होते, तो लड़ता ही नहीं। कहता, निकाल लो।
माली हालत पावर सिंबल है। धन चाहते हैं--शक्ति। पद चाहते हैं--शक्ति। लेकिन नीत्से को पता नहीं है कि कुछ लोग हैं जो शक्ति नहीं चाहते, शांति चाहते हैं। बहुत थोड़े हैं, न्यून हैं। ऐसा कभी कोई ऋषि होता है, जो शांति चाहता है, शक्ति नहीं चाहता। और जो शांति चाहता है, उसे समझ मिलती है। और जो शक्ति चाहता है, वह नासमझ होता चला जाता है।

इसलिए इस दुनिया में शक्तिशाली लोगों से ज्यादा नासमझ और स्टुपिड आदमी खोजना कठिन है। चाहे वह हिटलर हो, चाहे माओ हो और चाहे निक्सन हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। असल में शक्ति की खोज ही मूढ़ता है। उससे कुछ मिलने वाला नहीं। उससे सिर्फ दूसरे को दबाने की सुविधा मिलती है, अपने को पाने की नहीं। और दूसरे को मैं कितना ही दबाऊं, इससे क्या हल होता है? समझदार खोजता है शांति, शक्ति नहीं। और शांति में समझ का फूल खिलता है। यह दुर्भाग्य है कि जिनके पास समझ होती है, उनके पास शक्ति नहीं होती;
और जिनके पास शक्ति होती है, उनके पास समझ नहीं होती। यह इतिहास की दुर्घटना है। इससे हम पीड़ित हैं। क्योंकि समझदार राह के किनारे खड़े रह जाते हैं और बुद्धू राजसिंहासनों पर चढ़ जाते हैं। फिर उपद्रव होने ही वाला है। यह सारा जो उपद्रव है, उसका कारण है। और यह उपद्रव मिट नहीं सकता। क्योंकि शक्ति मिलते ही, जिसके पास बुद्धि नहीं है, वह भी शक्ति की गर्मी में बुद्धिमान मालूम पड़ने लगता है। वह भी बुद्धिमत्ता की बातें करने लगता है।
सुना है मैंने कि नसरुद्दीन एक सम्राट के घर सेवक हो गया था। भोजन के लिए पहले ही दिन बैठा था, तो सम्राट ने कहा कि देखो, यह सब्जी कैसी बनी है? नसरुद्दीन ने कहा, यह सब्जी, यह अमृत है। रसोइए ने सुना, दूसरे दिन भी वही सब्जी बना लाया। सम्राट थोड़ा बेचैन हुआ, लेकिन नसरुद्दीन उसकी तारीफ हांके जा रहा था कि यह बिल्कुल अमृत है। इसको जो खाता है, वह कभी मरता ही नहीं। तो सम्राट किसी तरह खा गया। रसोइए ने तारीफ सुनी। तीसरे दिन फिर बना लाया। सम्राट ने कहा, हटाओ इस अमृत को यहां से। यह मरने के पहले ही मुझे मार डालेगा। हाथ मारकर उसने थाली नीचे पटक दी। नसरुद्दीन ने कहा, हुजूर, यह बिल्कुल जहर है। इससे सावधान रहना।
सम्राट ने कहा, तू आदमी कैसा है? तू दो दिन तक अमृत कहता रहा, अब जहर कहने लगा? उसने कहा, मैं सब्जी का गुलाम नहीं हूं, आपका गुलाम हूं। यू पे मी, तुम मुझे तनख्वाह देते हो, सब्जी मुझे तनख्वाह नहीं देती। जब तुम खा रहे थे तो अमृत थी, जब तुम फेंक रहे हो तो जहर है। हमें क्या लेना-देना है! न हम खा रहे हैं, न हम फेंक रहे हैं।
तो जिसके हाथ में ताकत है, उसके आसपास ऐसे लोग इकट्ठे हो जाते हैं, जो कहते हैं, आप--आप ईश्वर हैं।
हिटलर ने एक नाटक मंडली में काम करने वाले एक अभिनेता को पकड़वाकर बुलवाया। क्योंकि वह वहां मजाक का काम करता था। नाटक मंडली में मसखरे का काम करता था। और जर्मनी में जब हिटलर ताकत में था, तो हेल हिटलर, हिटलर की जय हो, वह महामंत्र था। गायत्री जर्मनी की वह थी। यह जो अभिनेता था, मसखरा, यह मंच पर आकर कहता था, हेल... । और फिर कहता, क्या नाम है उस नालायक का? इतना ही कहकर रुक जाता। हेल... क्या नाम है उस मूर्ख का? तो सारे लोग समझ तो जाते कि हेल के बाद हिटलर होना चाहिए, इसमें कोई शक तो था नहीं। पूरा हाल हंसता। हिटलर ने उसको बुलवा लिया। उसने कहा कि तूने मेरा व्यंग्य किया? और उसने कहा, मैंने कभी जिंदगी में आपका नाम ही नहीं लिया। मैं तो सिर्फ इतना ही कहता हूं, हेल... क्या नाम है उस मूर्ख का? इससे ज्यादा मैंने कभी कुछ कहा नहीं। वह तो जेल में डाल दिया गया। वह सड़ा जेल में, मरा, क्योंकि शक्ति के अंधे लोग व्यंग्य भी तो नहीं समझ सकते हैं। हिटलर की जगह कोई बुद्धिमान होता, तो हंसता, प्रसन्न होता, पुरस्कार देता। भारी चोट पड़ गई।
यह जो शक्ति की तलाश है, हिंसक मन की तलाश है।
ऋषि कहता है, शक्तियों का समुचित उपयोग चतुराई है।
शक्तियां सब दिव्य हैं। जो भी है, सब दिव्य है। अगर आज एटम बम हमारे हाथ में है, तो वह भी दिव्य है। उससे विराट शुभ फलित हो सकता है, मंगल की वर्षा हो सकती है। लेकिन दिव्य शक्तियों का सम्यक उपयोग चतुराई, बुद्धिमत्ता, विजडम है। वह विजडम उस व्यक्ति को ही उपलब्ध होती है वह बुद्धिमत्ता, जो अपनी इंद्रियों, अपनी वासनाओं, अपनी इच्छाओं के पार खड़े होकर देख पाता है, जो अपने मन से दूर होकर देख पाता है। तब बुद्धिमान होता है। बुद्धिमान वही होता है, जो तटस्थ होता है स्वयं से भी। अगर अपने से भी बहुत लगाव है, तो आदमी तटस्थ नहीं हो पाता। तटस्थ होने के लिए अपने मन से भी लगाव नहीं चाहिए।

तो अंतर-आकाश में जो जाता है मन की बदलियों के पार, वही अपनी शक्तियों
का सम्यक उपयोग कर पाता है, बुद्धिमानीपूर्वक उपयोग कर पाता है। शक्तियां हम सबके पास हैं समान--बुद्ध हों कि हिटलर, महावीर हों कि स्टैलिन, मोहम्मद हों कि माओ, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। शक्तियां सबके पास बराबर हैं। लेकिन बुद्धिमानीपूर्ण उपयोग, वह सबके पास नहीं दिखाई पड़ता। अधिक लोग अपनी ही शक्तियों के दुरुपयोग में दबते हैं और नष्ट होकर मर जाते हैं।
कामवासना शक्ति है, ब्रह्मचर्य बन सकती है, लेकिन व्यभिचार बनकर समाप्त हो जाती है। जो भी हमारे पास है, अगर उसका प्रज्ञापूर्वक उपयोग न हो सके, तो दिव्यशक्ति आत्मघाती हो जाती है। और स्वतंत्र हैं हम उपयोग करने को। कोई कहेगा नहीं कि ऐसा मत करो। हम स्वतंत्र हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन एक झाड़ पर बैठा है कालिदास के पोज में। काट रहे हैं उसी शाखा को जिस पर बैठे हुए हैं। बिल्कुल गिरने के करीब हैं। नीचे से एक आदमी गुजरता है। वह कहता है, देखो महानुभाव, आप गिर जाओगे। तो मुल्ला ने कहा, तुम कोई ज्योतिषी हो? जब हम अभी गिरे नहीं, तो तुम भविष्य बता रहे हो और मुफ्त में बता रहे हो। बिना पूछे बता रहे हो। जाओ अपने रास्ते से, ज्योतिष में मेरा विश्वास नहीं!
अब ज्योतिष का कुछ लेना-देना न था। काट रहे थे, काटते चले गए, क्योंकि ज्योतिष में उनका भरोसा नहीं था। फिर गिरे। जब नीचे गिरे, तो कहा कि मान गए, आदमी ज्योतिषी था। भागे। दूर निकल गया था दो मील आदमी। पकड़ा, पैरों पर गिर पड़े। कहा, जरा हाथ देखकर बता, मेरी मौत कब होगी? उस आदमी ने कहा कि मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूं। मुल्ला ने कहा, अब मैं छोडूंगा नहीं। हम समझ गए कि भविष्य तू देख लेता है। बताना ही पड़ेगा। उसने कहा, ज्योतिष से मेरा कोई संबंध नहीं है। साधारण आंखों का, छोटी सी बुद्धि का उपयोग किया है। मुझे कुछ पता नहीं भविष्य-अविष्य का। लेकिन इतना कोई भी कह सकता है कि जिस डाल पर बैठे हो उसको काटोगे, तो मरोगे, गिरोगे।
हम करीब-करीब सभी जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काट रहे हैं। सभी कालिदास के पोज में हैं। यह कालिदास बड़ा, कहना चाहिए टाइप, ऐसा आदमी है जो हम सबके भीतर के टाइप की खबर देता है। हम सब उसी डाल को काटते रहते हैं। पर पता नहीं चलता, क्योंकि डालें सूक्ष्म हैं, काटने का ढंग सूक्ष्म है। एक साधारण वृक्ष पर कोई बैठकर काटता है, तो हमको भी दिख जाता है कि गिरेगा। लेकिन हम सब काट रहे हैं। न हमें उन डालों का पता है, जिन पर हम बैठे हैं; न हमें उन हथियारों का पता है, जिनसे हम काट रहे हैं। न हमें नीचे की गहराई का पता है, जहां हम गिरेंगे। और अगर कोई नीचे से कहता हुआ भी निकले कि देखो, गिर जाओगे, तो हम उससे कहते हैं, तुम कोई ज्योतिषी हो? भविष्य बता रहे हो और बिना पूछे बता रहे हो!
क्या कर रहे हैं हम अपनी शक्तियों के साथ? स्युसाइड, आत्मघात कर रहे हैं। तर्क, एक शक्ति है हमारे पास दिव्य, लेकिन हम करते क्या हैं? तर्क हमें परमात्मा तक पहुंचा सकता है, अगर हम उसका ठीक उपयोग कर पाएं। लेकिन तर्क का हम उपयोग करते हैं परमात्मा से दूर रहने के लिए, बचने के लिए। अगर हम तर्क का ठीक उपयोग कर पाएं, जैसा कि सुकरात ने किया... । सुकरात ने तर्क का बहुत उपयोग किया। और आखिर में उसने कहा कि तर्क का उपयोग कर-कर के मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि तर्क दोनों ही बातें सिद्ध कर सकता है, इसलिए उसके सिद्ध करने का कोई अर्थ नहीं है। दोनों ही बातें सिद्ध कर सकता है। कह सकता है ईश्वर है और सिद्ध कर सकता है, और कह सकता है ईश्वर नहीं है और सिद्ध कर सकता है। ऐसा हुआ।
मुल्ला नसरुद्दीन को एक आदमी ने चैलेंज कर दिया, चुनौती दे दी कि विवाद होकर रहेगा। तुम बड़े ज्ञानी बने हो! तुम जो बातें कह रहे हो, उसका खंडन किया जाएगा। दिन तय हो गया, भीड़ इकट्ठी हो गई। नसरुद्दीन आया। नसरुद्दीन ने उस आदमी से कहा कि बोलो मेरे खिलाफ। तुम्हें जो कहना है, वह कहो। उस आदमी ने नसरुद्दीन का खूब खंडन किया। जो-जो नसरुद्दीन के विचार थे, उनको तोड़ा। एक-एक को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। फिर गौरव से, जीतकर गौरव से उसने नसरुद्दीन की तरफ देखा। नसरुद्दीन ने कहा, आश्चर्य! कुशल हो, प्रतिभाशाली हो। अब एक काम और करो। अब जितनी चीजें तुमने खंडित की हैं, उनको सिद्ध करके बताओ। तब तुम्हारे तर्क की पूरी कुशलता का पता चले।

वह आदमी तो आ गया था जोश में। गर्मी में था, होश में तो था नहीं। वह नसरुद्दीन की ट्रिक समझ न पाया। उसने नसरुद्दीन सही है, यह सिद्ध करना शुरू कर दिया। घंटेभर में तोड़ा था जमीन पर, घंटेभर में फिर नसरुद्दीन को बनाकर खड़ा कर दिया। नसरुद्दीन ने लोगों से कहा कि देखो, यह आदमी पागल है। इसकी तुम कौन सी बात में भरोसा करते हो--पहली कि दूसरी? उन लोगों ने कहा, इसकी हम अब कभी भी किसी बात में भरोसा न करेंगे। नसरुद्दीन ने कहा कि जाओ, तुम हार गए। नसरुद्दीन ने एक तर्क भी न दिया।
असल में तर्क दोनों ही काम कर सकता है। तर्क दुधारी तलवार है। वह दोनों काम बराबर करता है।
सागर यूनिवर्सिटी के निर्माता डाक्टर हरिसिंह गौर के संबंध में एक बहुत प्रसिद्ध घटना है कि वह प्रिवी कौंसिल में एक मुकदमा लड़ रहे थे। संभवतः भारत में उन जैसा कानूनविद उस समय नहीं था। हिंदुस्तान के शायद वह अकेले वकील थे, जिनके तीन आफिस थे--एक पेकिंग में और एक लंदन में और एक दिल्ली में। पूरे साल यहां से वहां भटकते रहते थे। करोड़ों रुपए उन्होंने कमाए। वह सब सागर विश्वविद्यालय बना। लेकिन कभी किसी भिखारी को एक पैसा दान नहीं दिया। सागर में ऐसा कहा जाता था कि अगर कोई भिखारी उनके घर की तरफ चला जाए, तो लोग समझ जाते थे कि नया भिखारी है। क्योंकि वे कभी... । नया भिखारी है, अपरिचित है गांव से, क्योंकि हरिसिंह गौर के घर से कभी एक पैसा किसी को नहीं मिला। और लोग सोचते ही नहीं थे, कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि यह आदमी चुकता दान कर देगा।
तो वह एक बड़े मुकदमे में थे। भूल-चूक हो गई कुछ। जल्दी में थे, रात काम में उलझे रहे, फाइल न देख पाए। वह समझते थे कि अ के वकील हैं, थे ब के वकील। दो पार्टी में ब के वकील थे, अ के वकील नहीं थे। भूल-चूक हो गई। तो अदालत में जाकर उन्होंने जो वक्तव्य दिया, उनका जो मुवक्किल था, उसका तो पसीना छूट गया, क्योंकि वह उसके खिलाफ बोल रहे थे। उसकी तो जान निकल गई, वह तो मर गया, क्योंकि अभी दूसरा तो खिलाफ बोलने ही वाला है। जब अपना खिलाफ बोल रहा है, तब तो कोई उपाय न रहा। करोड़ों का मामला था, बड़ा मुकदमा था, किसी स्टेट का मुकदमा था। घबड़ाहट फैल गई। मजिस्ट्रेट भी चकित हुआ। विरोधी वकील भी घबड़ाया कि यह हो क्या रहा है! किसी की समझ में न पड़े। लेकिन डाक्टर गौर को रोकने की हिम्मत भी किसी में नहीं कि कोई बीच में रोक दे।
जब वह पूरा बोल चुके, तो सदा बोलने के बाद एक गिलास पानी पीते थे, जब वे पानी पी रहे थे, तब उनके असिस्टेंट ने कहा कि जरा भूल हो गई। आप अपने ही आदमी के खिलाफ बोल दिए। उन्होंने कहा, कोई फिक्र न कर। गिलास नीचे रखकर उन्होंने मजिस्ट्रेट से कहा कि अभी मैं वे बातें कह रहा था, जो मेरा विरोधी कहना चाहेगा। अब मैं इनका खंडन करता हूं। नाऊ आई बिगिन द रिफिटेशन। अभी तो मैंने वे दलीलें दीं, जो विरोधी देगा। अब मैं विरोध में खंडन शुरू करता हूं। और वे मुकदमा जीत गए।
तर्क का कोई बहुत मूल्य नहीं है। जो तर्क नहीं जानते, उन्हीं को मूल्य मालूम पड़ता है। जो तर्क जानते हैं, वे समझते हैं, तर्क से फिजूल और कुछ भी नहीं है। लेकिन इतना तर्क को जो समझ लेता है, वह फिर जीवन में अनुभव की दिशा पर बढ़ता है, तर्क को छोड़ देता है। तर्क को जानने वाला बुद्धिमान व्यक्ति तर्क को छोड़ देता है और अतर्क्य अनुभव की तरफ जाता है। जो अभी तर्क ही कर रहा है, वह अभी बचकाना है, जुविनायल है। और अगर ऐसा बुद्धिमान पुरुष कभी तर्क का उपयोग करता है, तो सिर्फ इसीलिए ताकि अतर्क्य की तरफ आपको ले जाया जा सके। अन्यथा उपयोग नहीं करता है।
शक्तियां तटस्थ हैं। सारी शक्तियां दिव्य हैं। उनका कैसा उपयोग, इस
पर सब निर्भर करता है। ऋषि कहता है, इन शक्तियों का क्षेत्र और पात्र के हिसाब से अनुसरण करना ही बुद्धिमानी है। समय, स्थान, स्थिति, इन सबको ध्यान में रखकर! नहीं तो कई बार, कई बार शक्ति अपव्यय होती है, कई बार अपने ही विरोध में पड़ जाती है, कई बार घातक हो जाती है। और यह जो कहा है, क्षेत्र और काल, समय और स्थिति, स्थान और परिस्थिति, इनको देखकर। क्योंकि कोई भी नियम इस जगत में ऐब्सल्यूट नहीं है, निरपेक्ष नहीं है, सापेक्ष है। तो कहीं तो जहर भी अमृत हो जाता है--किसी काल और किसी क्षेत्र में। किसी रोग में जहर औषधि बन जाता है और किसी रोग में भोजन जहर हो जाता है।

तो अगर हमने अंधे की तरह अनुसरण किया सिद्धांतों का, तो वह बुद्धिमानी नहीं है। लेकिन हम करते हैं। हम सब अंधों की तरह अनुसरण करते हैं। बिल्कुल अंधों की तरह। एक सिद्धांत को पकड़ लेते हैं लकीर के फकीर की तरह और फिर चाहे स्थिति बदले, समय बदले, काल बदले, हम नहीं बदलते। हम तो अपने सिद्धांत पर दृढ़ रहते हैं। यह मूढ़ता का लक्षण है। कोई सिद्धांत ऐसा नहीं है, जो काल और स्थिति के साथ बदल न जाता हो। लेकिन हम कहते हैं, सब बदल जाए, लेकिन हम सिद्धांत नहीं बदलेंगे। सिद्धांत तो हमारा अटल है। ऐसे अटल सिद्धांत बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है।
कृष्ण जैसा आदमी सिद्धांतों की तरलता को जानता है। कृष्ण को भी पता
है कि अहिंसा बहुमूल्य है, परम सिद्धांत है, भलीभांति पता है। लेकिन अर्जुन को हिंसा के लिए तत्पर करते हैं, क्योंकि काल और क्षेत्र बिल्कुल भिन्न हैं। क्योंकि सवाल अहिंसा का नहीं है इस जगत में, इस जगत में कृष्ण के सामने सवाल यह था कि अर्जुन से जो हिंसा होगी, वह हिंसा दुर्योधन से होने वाली हिंसा से बेहतर होगी।
यह सवाल नहीं है। चुनाव अहिंसा और हिंसा के बीच नहीं है, चुनाव सदा कम हिंसा और ज्यादा हिंसा के बीच है। चुनाव अच्छाई और बुराई के बीच नहीं है, चुनाव सदा कम बुराई और ज्यादा बुराई के बीच है। तो लेसर ईविल, वह जो कम से कम बुरा है, उसे चुनना ही पड़ेगा इस जगत में, व्यवहार में--चारों ओर जो फैलाव है जीवन का उसमें।
इसलिए कृष्ण को अहिंसक मानने वाले लोग सदा बड़ी दुविधा में देखे गए हैं। जैनों ने तो नर्क में डाला है। कंसीडर्डली, काफी सोच-विचारकर ऐसा किया है। गांधीजी को भी बड़ी मुसीबत थी कृष्ण से। गीता को माता कहते थे, लेकिन माता को ऐसे कपड़े पहनाते थे जो बिल्कुल उनके अपने थे। उनका गीता से कोई संबंध न था।
गांधीजी को अड़चन होती थी। अहिंसा की बात करनी और गीता को माता कहना बिल्कुल इनकंसिस्टेंट, असंगत बातें हैं। अहिंसा को परम धर्म कहना और हिंसा के परम व्याख्याकार कृष्ण, जिन्होंने हिंसा को ऐसा सबल बल दिया, तो कुछ तालमेल नहीं था। पर तालमेल बिठाया जा सकता है। तर्क कुशल है। गांधीजी कहते थे कि युद्ध कभी हुआ नहीं। यह युद्ध तो सिर्फ मिथ है। ये कौरव और पांडव कभी वास्तविक रूप से लड़े नहीं। कौरव तो बुराई के प्रतीक हैं, पांडव भलाई के प्रतीक हैं। यह तो आदमी के भीतर जो शुभ और अशुभ की वृत्तियां हैं, उनकी लड़ाई है। यह युद्ध कभी हुआ नहीं।
यह ट्रिक उपयोग की गई, तो फिर दिक्कत न रही। बुराई से लड़ने में कोई हर्जा नहीं है। बुराई से लड़ने में हिंसा भी नहीं है। लेकिन यह बात झूठ है। यह युद्ध हुआ है। और कृष्ण बुराई और भलाई के बीच ही लड़ाई नहीं करवा रहे हैं, यह युद्ध बहुत वास्तविक हुआ है।
लेकिन कृष्ण को समझना हो, तो जो बात समझनी पड़ेगी, वह यह ऋषि जो कह रहा है, वह बात है। कृष्ण भी कहते हैं कि अहिंसा परम धर्म है, लेकिन वे कहते हैं कि अहिंसा परम धर्म होते हुए भी जीवन में सीधा चुनाव कभी नहीं आता है हिंसा और अहिंसा का। जीवन में चुनाव सदा आता है कम हिंसा और ज्यादा हिंसा का। तो कम हिंसा को चुनना अहिंसक का लक्षण है। इसलिए वह कम हिंसा को चुनने को राजी हैं। और अहिंसा के नाम से कम हिंसा से भी भाग जाना सिर्फ कायर का लक्षण है।
तो ऋषि कह रहा है कि काल और क्षेत्र, परिस्थिति का पूरा का पूरा हिसाब रखकर जो सिद्धांतों का अनुसरण करता है, वही बुद्धिमान है। और नहीं तो सिद्धांतों का अनुसरण... ।
मैंने सुना है, पंचतंत्र में एक बहुत प्रसिद्ध कथा है कि चार बहुत बुद्धिमान पंडित काशी से वापस लौटते हैं। बारह वर्ष काशीवास करके ज्ञानी बनकर वापस लौटते हैं। चारों परम ज्ञानी हैं अपने-अपने शास्त्रों के, स्पेशलिस्ट। और जैसे स्पेशलिस्ट खतरनाक होते हैं, वैसे ही खतरनाक हैं। क्योंकि स्पेशलिस्ट का मतलब ही यह होता है कि वन हू नो.ज मोर एंड मोर अबाउट लेस एंड लेस। मतलब ही यह होता है, कम से कम के संबंध में जो ज्यादा से ज्यादा जानता है। उसका उलटा मतलब यह हो जाता है कि जो ज्यादा से ज्यादा के संबंध में कम से कम जानता है।

स्वभावतः, चारों एक्सपर्ट थे, विशेषज्ञ थे। उसमें जो विशेषज्ञ था वनस्पति-शास्त्र का, तीनों ने कहा, तुम सब्जी खरीद लाओ, जब रास्ते में रुके पड़ाव पर। वनस्पति-शास्त्र का विशेषज्ञ था, सब्जी तो कभी खरीदी नहीं थी। सब्जियों के बाबत जानकारी भारी थी। उसने बैठकर बड़ा चिंतन-मनन किया। अंततः उसने कहा कि नीम की पत्तियों के सिवाय कोई चीज उचित नहीं है। सिद्धांत यही है। सभी चीजों में कोई न कोई खामी, कोई न कोई दोष। कोई वात पैदा करती है, कोई कुछ पैदा करती है, कोई कुछ पैदा करती है। नीम की पत्ती एकदम निर्दोष है। तो वह नीम की पत्तियां तोड़कर बड़ा प्रसन्न वापस लौटा। शास्त्र का पूरा उपयोग हुआ। विशेषज्ञ पूरा था वह।
दूसरा था तर्कशास्त्री, एक लाजीशियन। नव्य-न्याय पढ़कर लौट रहा था। न्याय की गहराइयों में उतरा था। अब न्यायशास्त्र में उदाहरण में सदा यह आता है कि घृत रखा है पात्र में, तो प्रश्न उठाया जाता है कि पात्र घृत को सम्हालता है कि घृत पात्र को सम्हालता है? कौन किसको सम्हालता है? तो इसको किताब में तो पढ़ा था। तर्कशास्त्री को भेजा गया घी लेने, क्योंकि तर्कशास्त्री से निरंतर उसके मित्रों ने यह बात सुनी थी कि कौन किसको सम्हालता है--पात्र घृत को सम्हालता है कि घृत पात्र को सम्हालता है? लेकिन तर्कशास्त्री ने कभी न तो घृत पकड़ा था और न पात्र पकड़ा था हाथ में। बाजार से लौटते वक्त जब घी का पात्र लेकर वह चला, तो उसने कहा, आज अवसर मिला है तो देख ही लूं कि कौन किसको सम्हालता है! उसने उलटा कर देखा। जो होना था, वह हुआ। घृत तो नीचे गिर गया, पात्र खाली रह गया। वह बड़ा प्रसन्न लौटा। उसने कहा, सिद्ध हो गया कि पात्र ही सम्हालता है।
वह जो तीसरा व्यक्ति था, उसको सम्हाला था काम--वह एक व्याकरण का विशेषज्ञ था--उसको कहा था कि तू आग वगैरह जला ले। चूल्हा तैयार रख, पानी चढ़ा देना। सब सामान आया जाता है, तो तब बना लेंगे। आटा बन जाएगा।
चौथे को भेजा था लकड़ियां लेने। क्योंकि वह एक मूर्तिकार था और लकड़ियों पर उसने बड़ी मेहनत की थी और मूर्तियां बनाई थीं। लेकिन उसे यह पता ही नहीं था कि गीली लकड़ियां जलाई नहीं जा सकतीं। वह सौंदर्य का पारखी था, मूर्तिकार था, चित्रकार था। तो वह सुंदरतम लकड़ियां जंगल से छांटकर लाया, लेकिन वे सब गीली थीं। असल में सूखी लकड़ी सुंदर रह भी नहीं जाती। हरी होनी चाहिए--जीवंत, युवापन। तो युवा से युवा, कोमल से कोमल, सुंदर से सुंदर लकड़ियां काटकर वह सांझ होते-होते वापस लौटा। क्योंकि चुनाव करने में बड़ी मुश्किल पड़ी, जंगल बड़ा था। वे कोई लकड़ियां मतलब की न थीं, एक भी जल न सकती थी।
जिसको दिया था अवसर कि वह आग थोड़ी जलाकर तैयार रखे, लकड़ियां आ जाती हैं, थोड़ी-बहुत लकड़ियां वहीं बीनकर वह आग जला ले। लकड़ियां आ जाएंगी, तब तक सामान आ जाता है। उसने आग भी जला ली थोड़ी। पानी रखकर बर्तन चढ़ा दिया। पानी में बुदबुद की आवाज होने लगी। वह था व्याकरण का ज्ञाता। उसने पढ़ा था कि अशब्द को कभी न तो सुनना चाहिए, न सहना चाहिए। अशब्द! तो यह बुदबुद तो कोई शब्द है नहीं। बहुत शास्त्र पढ़ डाले थे उसने, यह बुदबुद क्या बला है! यह निश्चित अशब्द है। शब्द नहीं है, तो अशब्द तो है ही पक्का। उसने कहा, इसको सुनना खतरनाक है। यह तो बिल्कुल पाणिनी के खिलाफ जाना है। उठाकर लट्ठ उसने बर्तन में मारा कि अशब्द को बंद करो। वह बर्तन टूट गया, चूल्हा गिर गया, आग बुझ गई।
सांझ को जब वे चारों मिले तो चारों भूखे ही रात सोए, क्योंकि चारों विशेषज्ञ थे। सिद्धांत उनके पक्के थे, गलती किसी ने न की थी। फिर भी गलती हो गई थी।
नहीं, जीवन तरल है, लोचपूर्ण है। सिद्धांत सख्त और मुर्दा होते हैं। जिंदगी सख्त और मुर्दा नहीं होती। तो जो आदमी सिद्धांतों को लोचपूर्ण नहीं बना सकता, वह बुद्धिमान नहीं है। सब शक्तियां, सब सिद्धांत, सब, सब जीवन में जो भी है; वह तरल, जितना तरल हो, जितना लोचपूर्ण हो, जितना परिवर्तित हो सके, प्रवाहमान हो, डायनेमिक हो, गत्यात्मक हो, उतना बुद्धिमानी है।

तो शम की शक्तियां हों या दम की शक्तियां हों, जो भी शक्तियां हैं मनुष्य के पास, वे सब दिव्य हैं और उनका सम्यक उपयोग बुद्धिमानी है, चतुराई है।
परात्पर से संयोग ही उनका तारक उपदेश है।
और उनका सम्यक उपयोग जिस बुद्धिमानी से होता है, उस बुद्धिमानी को ऋषि सदा कहते हैं, परात्पर से संयोग ही हमारा उपदेश है। अगर तुम अपनी सारी शक्तियों का, शम और दम की सारी शक्तियों का चतुराई से उपयोग करो, तो आज नहीं कल तुम्हारा परात्पर परम ब्रह्म से संयोग हो जाएगा।
शक्तियां जब गलत उपयोग की जाती हैं, तो प्रभु से विपरीत बहती हैं। और
जब ठीक उपयोग की जाती हैं, तो प्रभु की ओर बहती हैं। शक्तियों का सम्यक उपयोग, शक्तियों का परमात्मा की ओर प्रवाह है। शक्तियों का गलत उपयोग परमात्मा के विपरीत प्रवाह है, उलटा। इसलिए जो शक्तियों का जितना गलत उपयोग करेगा, उतना धीरे-धीरे परमात्मा से रिक्त और खाली होता चला जाएगा। आज पश्चिम में एक शब्द का बहुत ही बहुत प्रचलन है, वह शब्द हैः एम्पटीनेस खालीपन, रिक्तता। आज अगर पश्चिम के जो भी विचारशील लोग हैं-- चाहे अल्बर्ट कामू और चाहे ज्यां पाल सार्त्र और चाहे हाइडेगर और चाहे काफ्का--पश्चिम के जो भी विचारशील लोग हैं, जिन्होंने पचास वर्षों में पश्चिम की बुद्धि को थिर किया है, उन सबकी जबान पर एक शब्द जो बहुत चलता है वह है एम्पटीनेस, खालीपन, रिक्तता। क्या बात है? पश्चिम को खालीपन का ऐसा अनुभव क्यों हो रहा है? इतना खालीपन का क्या ख्याल है? कहते हैं वे कि भीतर सब खाली है, आदमी के भीतर कुछ भी नहीं।
पूरब के सब मनीषियों को पूर्णता का, फुलफिलमेंट का अनुभव हुआ है। वे कहते हैं, भीतर भरा है। अनंत-अनंत भरा है। और पूरब का मनीषी जब शून्य शब्द का भी उपयोग करता है, तब भी उसका अर्थ एम्पटीनेस नहीं होता। शून्य भी बड़ा भराव है। शून्य का अर्थ रिक्तता नहीं है, शून्य का भी अपना भराव है। उसकी भी अपनी मौजूदगी है। उसकी भी अपनी बीइंग, अपना अस्तित्व, अपनी सत्ता है। इसलिए शून्य का अर्थ एम्पटीनेस नहीं है। शून्य का अर्थ है, द वायड--रिक्त नहीं, खाली नहीं, शून्य। शून्य का अपना अस्तित्व है। रिक्तता तो केवल किसी का अभाव है, ऐब्सेंस है।
पश्चिम में इतने जोर से इस बीसवीं सदी में आकर रिक्तता की ऐसी प्रतीति का कारण इस ऋषि के सूत्र में है। वह ऋषि कहता है, अगर शक्तियों का सम्यक उपयोग न हो, तो आदमी धीरे-धीरे परमात्मा के विपरीत हटता जाता है। और जब परमात्मा से विपरीत हटता है, तो रिक्तता का भाव होता है, खाली होता जाता है। एक दिन लगता है, खाली डब्बा रह गया, भीतर कुछ भी नहीं है। कुछ है ही नहीं। जो परमात्मा की तरफ चलता है, धीरे-धीरे भरता जाता है और एक दिन कहता है कि भीतर इतना भर गया है, इतना भर गया है कि अब कोई जगह न बची जिसे और भरना है। उसे पा लिया, जिसके आगे अब पाने के लिए भी कोई जगह नहीं है, रखने के लिए भी कोई जगह नहीं है। सब मिल गया।
महावीर ने कहा है, एक को पा लेने से सब पा लिया जाता है। इससे उलटा भी होता है। एक को खोने से सब खो दिया जाता है। वह एक है परमात्मा। अगर उसकी तरफ हमारी पीठ है, तो आज नहीं कल हमें एम्पटीनेस घेर लेगी, खाली हम हो जाएंगे। धन कितना ही हो, फिर भरेगा नहीं। और यश कितना ही हो, फिर भरेगा नहीं। और महल कितने ही हों, पद कितने ही हों, ज्ञान कितना ही हो; फिर भरेगा नहीं, खाली ही हम होंगे। और अगर परमात्मा की तरफ मुंह हो, तो न हो ज्ञान, न हो त्याग, न हो पद, न हो धन; तो भी, तो भी सब भर जाता है। तो भी सब भर जाता है। उसकी तरफ नजर उठाते ही सब भर जाता है।
लेकिन उसकी तरफ नजर उनकी ही उठती है, ऋषि कहता है, जो अपनी शक्तियों का सम्यक, ठीक-ठीक बुद्धिमानीपूर्वक उपयोग करते हैं।
अद्वैत सदानंद ही उनका देव है।
और ऋषि जिसकी पूजा के लिए कहते हैं, जिसकी श्रद्धा के लिए कहते हैं, वह
है अद्वैत सदानंद, एक सदा ठहरने वाला आनंद।
अपने अंतर की इंद्रियों का निग्रह ही उनका नियम है।
अपने अंतर की इंद्रियों का निग्रह ही उनका नियम है। इसे थोड़ा सा समझ लेना जरूरी है।

इंद्रियों के दो हिस्से हैं। एक तो बहिर-इंद्रिय है, आंख है, बाहर है। आंख को निकाल भी दें, तो भी देखने की वासना नहीं चली जाती। देखने की वासना अंतर-इंद्रिय है। आंख बहिर-इंद्रिय है। देखने की क्षमता बहिर-इंद्रिय है, देखने की वासना अंतर-इंद्रिय है। आंख के कारण आप नहीं देखते हैं, देखने की वासना के कारण आंख पैदा होती है।
अब तो वैज्ञानिक भी इसको स्वीकार कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि अगर अंधा आदमी देखने की वासना से बहुत भर जाए, तो अंगुलियों से भी देख सकता है, पैर के अंगूठों से भी देख सकता है। क्योंकि आंख में जो चमड़ी काम में आई है, वह चमड़ी पूरे शरीर पर वही है। क्वालिटेटिवली कोई फर्क नहीं है, गुणात्मक कोई फर्क नहीं है। आंख में जो चमड़ी है, वह वही है, जो पूरे शरीर पर है। आंख की चमड़ी के पीछे देखने की वासना ने हजारों-हजारों, लाखों-लाखों साल तक काम किया है। और वह चमड़ी पारदर्शी हो गई है, बस।
कान के पीछे सुनने की वासना ने काम किया है और वह चमड़ी सुनने में समर्थ हो गई है। वे हड्डियां सुनने में समर्थ हो गई हैं। उन हड्डियों में कोई क्वालिटेटिव फर्क नहीं है। शरीर की सब हड्डियों जैसी हड्डियां हैं। और अभी तो बहुत प्रयोग हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध हो सका है कि आदमी शरीर के और अंगों से भी देख सकता है, और अंगों से भी सुन सकता है, लेकिन तीव्र वासना करके उस अंग की तरफ उस वासना को प्रवाहित करना पड़ेगा। तब ऐसा हो सकता है। ऋषि कहता है, अंतर-इंद्रियों का निग्रह। बाहर की इंद्रियों का सवाल नहीं है। भीतर की जो वासना की इंद्रिय है, जो अंतर-इंद्रिय है, जो सूक्ष्म इंद्रिय है, उसका निग्रह ही उनका नियम है। वे ऐसा नहीं कि अंधे हो जाते हैं, आंख फोड़ लेते हैं। नहीं, वे देखने की वासना को शून्य कर लेते हैं। आंख फिर भी देखती है, लेकिन अब देखने की कोई वासना पीछे नहीं होती। इसलिए आंख अब वही देखती है, जो देखना जरूरी है; कान वही सुनता है, जो सुनना जरूरी है; हाथ वही छूता है, जो छूना जरूरी है। गैर-जरूरी गिर जाता है। इंद्रियां मात्र दासियां हो जाती हैं।
आज इतना ही।
फिर कल हम बात करेंगे।

अब हम रात्रि के प्रयोग के लिए तैयार हो जाएं। दो-तीन बातें ख्याल में
ले लें।
पांच मिनट तक तो तीव्र श्वास लेनी है, ताकि शक्ति जग जाए। मेरे आसपास
वे ही लोग खड़े होंगे, जो तीव्रता से कर सकें। फिर उनके बाद कम तीव्रता वाले लोग। फिर उनके पीछे और कम तीव्रता वाले लोग। लेकिन पीछे जो खड़े होते हैं, पीछे खड़े होने से ही उन्हें नहीं करना है, ऐसा नहीं, उन्हें भी पूरी शक्ति लगानी है।
जैसे ही मैं आपको सूचना दूं, तैयार हो जाएं। आंख की पट्टियां आंख से अलग कर लें, सिर पर बांध लें। आंख खुली चाहिए। मेरी तरफ देखते रहना है। मेरी तरफ देखते रहना है, अपलक, आंख की पलक न झपे। मेरी तरफ देखते रहें, उछलते रहें, कूदते रहें। मेरी तरफ देखते रहें, उछलते रहें, कूदते रहें, हू की आवाज करते रहें, हू की चोट करते रहें।
शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
बारहवां प्रवचन

सम्यक त्याग, निर्मल शक्ति और परम अनुशासन मुक्ति में प्रवेश

भय मोह शोक क्रोध त्यागस्त्यागः।
परावरैक्य रसास्वादनम्।
अनियामकत्व निर्मल शक्तिः।
स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्वे शिवशक्ति सम्पुटित प्रपंचच्छेदनम्।
तथा पत्राक्षाक्षिक कमंडलुः भावाभावदहनम्।
विभ्रत्याकाशाधारम्।

भय, मोह, शोक और क्रोध का छोड़ना, यही उनका त्याग है।
परब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं।
अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है।
स्वयं प्रकाश ब्रह्मतत्व में शिव-शक्ति से संपुटित प्रपंच का छेदन करते हैं।
जैसे इंद्रिय रूपी पत्रों से ढंका हुआ मंडल होता है, ऐसे ही ढंकने वाले भाव और अभाव के आवरण को भस्म कर डालने के लिए वे आकाश रूप आधार को धारण करते हैं।

ऋषि ने पहले ही सूत्र में एक बहुत अनूठी बात कही।
कहा है, त्यागियों का त्याग है भय, मोह, शोक और क्रोध।
इसका अर्थ हुआ, भोगियों का भी कुछ त्याग होता है। भोगी जब छोड़ता है कुछ, तो धन छोड़ता है, मोह नहीं। भोगी जब छोड़ता है कुछ, तो वस्तु छोड़ता है, वृत्ति नहीं। और वस्तु के त्याग से कुछ भी नहीं होता। क्योंकि वस्तु से कोई संबंध ही नहीं है, संबंध वृत्ति से है। दो बातें ख्याल में ले लें। भीतर मोह है, इसलिए बाहर मोह का विस्तार होता है--व्यक्तियों पर, वस्तुओं पर, संबंधों में। भीतर क्रोध है, इसलिए निमित्त खोजे जाते हैं, कारण खोजे जाते हैं बाहर, जिससे क्रोध प्रकट किया जा सके।
जब कोई मुझे गाली देता है, तो लगता है ऐसा मन को कि उसने गाली दी, इसलिए मैं क्रोधित हुआ। सच्चाई उलटी है। क्रोध तो मेरे भीतर है, गाली तो सिर्फ निमित्त है उसके बाहर आ जाने का। अगर कोई मुझे गाली न दे, तो क्रोध बाहर तो नहीं आएगा, लेकिन मैं अक्रोधी नहीं हो जाऊंगा--क्रोध मेरे भीतर ही बना रहेगा।
इतना इकट्ठा करता है आदमी परिग्रह, अगर सारी वस्तुएं उससे छीन ली जाएं, वह बिल्कुल दिगंबर और नग्न हो जाए--छीन ली जाएं या वह स्वयं छोड़ दे-- तो भी जरूरी नहीं है कि भीतर से मोह विदा हो गया। वस्तु तो सिर्फ मोह के विस्तार की सुविधा है, अपरचुनिटी है, अवसर है। और छोटी से छोटी वस्तु भी बड़े से बड़े मोह के विस्तार के लिए सुविधा बन जाती है। ऐसा नहीं कि एक बहुत बड़ा राज्य ही चाहिए मोह को फैलने के लिए, एक छोटी सी लंगोटी भी काफी है। एक आदमी दो पैसे की चोरी करे कि दो लाख की, अगर दो पैसे की चोरी करेगा,
तो भोगी कहेगा, छोटी सी ही तो चोरी है; दो लाख की करेगा, तो कहेगा, बहुत बड़ी चोरी है। लेकिन त्यागी कहेगा, चोरी बड़ी और छोटी नहीं होती। दो पैसा भी उतनी ही चोरी को फैलने के लिए अवसर बन जाता है, जितना दो लाख। जहां तक चोरी का संबंध है, दो पैसे या दो लाख की चोरी बराबर होती है। जहां तक पैसों का संबंध है, दो पैसे में और दो लाख में बड़ा फर्क है। लेकिन जहां तक चोरी का संबंध है, दो पैसे और दो लाख की बराबर है। और थोड़ा भीतर उतरें, तो चोरी का भाव और चोरी का कृत्य भी बराबर है। दो पैसा भी चुराना जरूरी नहीं है चोर होने के लिए, चोरी का भाव करना ही काफी है।
यह सूत्र कहता है, त्यागियों का त्याग... । बड़ी मजे की बात है। क्योंकि इससे साफ हो जाता है कि भोगियों का भी त्याग है कुछ। त्यागियों का त्याग है भय, मोह, शोक और क्रोध। वृत्तियों का त्याग। वह अंतर में जो छिपे हुए कारण हैं, मूल कारण, उनका त्याग। वस्तु का नहीं है सवाल, मोह का त्याग। और

निश्चित ही जब मोह ही गिर जाता है, तो वस्तु से हमारा कोई सेतु, कोई संबंध नहीं रह जाता। फिर त्यागी महल के बीच में भी हो सकता है, महल उसे बांध नहीं पाता। और अगर महल के बीच रहकर त्यागी को महल बांध लेता है, तो झोपड़ा भी बांध लेगा। कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। झोपड़ा नहीं होगा, वृक्ष के नीचे बैठेगा, तो वृक्ष ही बांध लेगा।
जिसके भीतर मोह है, वह कहीं भी बंध जाएगा। क्षुद्रतम से बंध जाएगा। कोई बड़े साम्राज्य आवश्यक नहीं हैं बंधने के लिए। नहीं तो इस दुनिया में दो-चार ही लोग बंध पाएं, बाकी तो सब मुक्त ही रहें। हीरा ही जरूरी नहीं है, कौड़ी भी बांध लेती है।
त्यागी का त्याग तो, संन्यासी का त्याग तो उस आधार के ही विसर्जन का है, जिससे उपद्रव पैदा होता है। मूल पर आघात है।
एक आदमी वृक्ष के पत्ते काटता रहता है। लेकिन वृक्ष के पत्ते काटना अगर वह सोचता है कि वृक्ष को काटने का उपाय है, तो खतरे में पड़ सकता है। क्योंकि वृक्ष के पत्ते जब भी कोई काटता है, तो सिर्फ कलम होती है, वृक्ष कटता नहीं, और एक पत्ते की जगह दो पत्ते निकल आते हैं। लगता है, काट रहा है वृक्ष को, शाखाएं काट रहा है। लेकिन जो भी वृक्षों से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वृक्ष के लिए और सुविधा दे रहा है फैलने की। जब एक शाखा कटती है, तो अनेक अंकुर निकल आते हैं, कलम हो जाती है। अनंत-अनंत जन्मों तक काटते रहें शाखाओं को, पत्तों को, कहीं पहुंचेंगे नहीं, क्योंकि मूल पर कोई चोट नहीं की जा रही है। वृक्ष पत्तों से नहीं जीता, वृक्ष जड़ों से जीता है। जड़ें भीतर छिपी हैं जमीन के, वे दिखाई नहीं पड़तीं। वृक्ष जिनसे जीता है, वे छिपी हैं, भूमिगत हैं। इसीलिए छिपी हैं। क्योंकि जिससे जीना है उसे भीतर छिपा होना जरूरी है, नहीं तो कोई भी नुकसान पहुंचा सकता है।
इसे ठीक से समझ लें। वृक्ष भी अपनी जड़ों को छिपाए है सुरक्षा में। प्रकट नहीं हैं। जो प्रकट है, उसको चोट पहुंचाने से गहरी चोट नहीं पहुंचने वाली है। पत्ते फिर निकल आएंगे, शाखाएं फिरफूट जाएंगी।
अभी पिछली बार जब मैं आया था आबू, तो सारा रास्ता सूखा हुआ था। एक पत्ता न था वृक्षों पर। लेकिन जड़ें भीतर हरी रही होंगी, क्योंकि अब आया हूं, तो सब वृक्ष हरे हो गए हैं। सूरज हमला न कर पाए जड़ों पर, जानवर हमला न कर पाएं, आदमी हमला न कर पाएं, धूप हमला न कर पाए जड़ों पर, इसलिए जड़ें जमीन में छिपी हैं। और वृक्षों की आत्मा वहां है। धूप आएगी, गर्मी आएगी, पत्ते सूखेंगे, गिर जाएंगे। वृक्ष निश्चिंत है। थोड़ी प्रतीक्षा की बात है। फिर वर्षा होगी, फिर अंकुर निकल आएंगे। जड़ें सुरक्षित हैं, तो पत्ते तो कभी भी निकल आएंगे।
लेकिन इससे उलटा नहीं हो सकता कि जड़ें टूट जाएं, कट जाएं, पत्ते सुरक्षित हों और जड़ें फिर से निकल आएं। इससे उलटा नहीं होता।
जड़ कहां हैं हमारी बीमारी की? वह हमारा जो फैलाव है, विस्तार है, धन है, मकान है, मित्र हैं, प्रियजन हैं, परिवार है, वे हमारी जड़ें हैं। ये जड़ें भीतर हैं। वे हमारी जड़ें भी भीतर छिपी हैं। सब जड़ें छिपी होती हैं। मोह भीतर छिपा है, मोह का विस्तार बाहर है।
एक आदमी पत्नी को छोड़कर भाग जा सकता है, बच्चों को छोड़कर जंगल जा सकता है। लेकिन उस आदमी को पता नहीं कि जिसने पत्नी बनाई थी और जिसने बच्चे निर्मित किए थे, वह मोह साथ चला गया। वह मोह नई पत्नियां निर्मित कर लेगा, नए बच्चे बना लेगा। मन इतना चालाक है कि नए नाम रख देगा, नई व्यवस्था कर लेगा। जड़ें सुरक्षित थीं, अंकुर फिर निकल आएंगे। नाम से कोई फर्क नहीं पड़ता है।
वह आदमी घर छोड़कर आश्रम बना लेगा। अब उसको आश्रम कहेगा और आश्रम के लिए उतना ही चिंतारत हो जाएगा, जितना घर के लिए था। और आश्रम की जमीन के लिए अदालत में वैसे ही मुकदमा लड़ेगा, जैसे घर के लिए लड़ता था। आश्रम की ईंट-ईंट के लिए पैसा जुटाएगा, जैसे घर के लिए जुटाता था। और अब एक बड़ा धोखा है। वह है गृहस्थ, और जहां रह रहा है, उस जगह का नाम आश्रम है। अब वह अपने को और भी धोखा दे सकता है, सेल्फ डिसेप्शन और आसान है। क्योंकि वह कहेगा, मैं अपने लिए थोड़े ही करता हूं, आश्रम के लिए करता हूं।

आप यह नहीं कह सकते कि मैं अपने लिए थोड़े ही करता हूं। हालांकि हम भी कोशिश करते हैं। बाप कहता है, मैं अपने लिए थोड़े ही करता हूं, बेटे के लिए करता हूं। अपने लिए थोड़े ही करता हूं, पत्नी के लिए करता हूं। जिम्मेदारी है।
वह अब कहेगा, परमात्मा के लिए कर रहा हूं। यह तो आश्रम है, यह कोई मेरा
घर नहीं है। लेकिन उसके सारे संबंध वही हैं, जो उसके घर से थे। वह मोह तो साथ ले आया, क्रोध तो साथ ले आया, राग तो साथ ले आया, आसक्ति तो साथ ले आया। इसलिए ऋषि कहता है, त्यागी का त्याग बाह्य त्याग नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि त्यागी बाह्य त्याग नहीं करेगा। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि त्यागी जड़ों को तोड़ देता है। फिर बाहर जो है, वह स्वप्नवत हो जाता है। वह घर हो कि आश्रम, वह अपना हो कि पराया, वह महल हो कि झोपड़ा, वह स्वप्नवत हो जाता है।
एक और मजे की बात है कि भोगी अगर छोड़कर भागता है, तो जिस चीज को छोड़कर भागता है, उससे डरता है। सदा डरता रहता है। क्योंकि उसे पक्का पता है कि अगर वह चीज फिर सामने आ जाए, तो फिर उसके भीतर जो छिपी हुई जड़ें हैं, वे अंकुरित हो जाएंगी। अगर वह धन को छोड़कर भागा है, तो वह ऐसी जगह से बचकर निकलेगा जहां धन मिल सकता है फिर। अगर वह स्त्री को छोड़कर भागा है, तो वह बचेगा ऐसी जगह से जहां स्त्री दिखाई पड़ सकती है फिर।
यह तो गृहस्थ से भी ज्यादा बदतर स्थिति हो गई। यह तो भय भयंकर हो गया।
यह तो दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंककर पीने लगा। यह तो बहुत भय से आक्रांत स्थिति है। और भय से आक्रांत स्थिति ब्रह्म में प्रवेश नहीं बन सकती। और यह सारा का सारा जो भय है, उसे ऐसी सीमाएं निर्मित करने को मजबूर करेगा, जिनके भीतर वह एक कारागृह का कैदी हो जाएगा।
आगे सूत्र आता है, बहुत ही क्रांतिकारी है--टू मच रेवल्यूशनरि। शायद यही कारण है कि निर्वाण उपनिषद पर टीकाएं नहीं हो सकीं। यह निग्लेक्टेड उपनिषदों में से एक है, उपेक्षित। जब पहली दफा मैंने तय किया कि इस शिविर में इस पर बात करनी है, तो अनेक लोगों ने मुझे पूछा कि ऐसा भी कोई उपनिषद है--निर्वाण उपनिषद? कठोपनिषद है, छांदोग्य है, मांडूक्य है--यह निर्वाण क्या है? यह बहुत ही खतरनाक है।
ऋषि कह रहा है, वे वही छोड़ देते हैं, जिससे फैलाव के बीज ही नष्ट हो जाते हैं, दग्ध हो जाते हैं।
ऐसा देखें, भय है, इसलिए हम बहुत आयोजन करते हैं। जब एक आदमी महल बना रहा है, दीवारें उठा रहा है, परकोटे घेर रहा है, तो भयभीत है, इसलिए इतना सुरक्षा का इंतजाम कर रहा है। एक आदमी तलवार बगल में लटकाए हुए चल रहा है, भयभीत है। हम बहादुरों की जो मूर्तियां बनाते हैं, तो उनके हाथ में तलवार जरूर रखते हैं। घोड़ों पर चढ़ा देते हैं, तलवारें रख देते हैं, चौरस्तों पर खड़े कर देते हैं। ये भय की मूर्तियां हैं। क्योंकि तलवार निर्भय आदमी के लिए कैसी आवश्यकता है? कहां है जरूरी? वह तलवार तो बताती है कि भीतर भय छिपा है। अगर हमें एटम बम बनाना पड़ा है, तो उसका कारण है कि आदमी आज जितना भयभीत है, इतना इसके पहले कभी भी नहीं था।
हमारे अस्त्र-शस्त्र हमारे भय के अनुपात में विकसित होते हैं। जिस दिन आदमी निर्भय हो जाएगा, अस्त्र-शस्त्र फेंक दिए जाएंगे। उनकी कोई भी तो जरूरत नहीं है। अस्त्र-शस्त्र हमारे भय का विस्तार हैं। तो जितने अस्त्र-शस्त्र बढ़ते हैं, वे खबर देते हैं, बिल्कुल आनुपातिक खबर देते हैं कि आदमी कितना भयभीत हो गया होगा कि एटम बम के बिना वह अपने को सुरक्षित अनुभव नहीं करता। बड़े से बड़े राष्ट्र--चाहे वह रूस हों और चाहे अमरीका और चाहे चीन--जिनके पास विराट शक्ति है, उनका बड़प्पन क्या है! उनका बड़प्पन यह है कि उनके पास विराट अस्त्र-शस्त्रों का ढेर है। लेकिन विराट अस्त्र-शस्त्रों का ढेर सिवाय भीतर के भय के और किसी बात की सूचना नहीं देता है।
और मजा यह है कि आप अस्त्र-शस्त्र कितने ही बढ़ाते चले जाएं, कोई भीतर
का भय नहीं मिट जाता, बढ़ता चला जाता है। तो एक तरकीब यह हो सकती है कि अस्त्र-शस्त्र का त्याग कर दें, छोड़ दें। तो भी जरूरी नहीं कि आप अभय को उपलब्ध हो जाएं। अगर अस्त्र-शस्त्र को आप छोड़ते हैं, तो आप दूसरे सूक्ष्म

अस्त्र-शस्त्र बनाना शुरू करेंगे। आप कहेंगे, निर्बल के बल राम। अब यह भी अस्त्र है। कहना चाहिए, एटम से भी बड़ा।
तो गांधीजी अस्त्र-शस्त्र का उपयोग नहीं करते, लेकिन रोज प्रार्थना करते हैं, निर्बल के बल राम। मगर बल, चाहे वह एटम से आए और चाहे राम से आए, आना जरूर चाहिए। निर्बल होने को राजी नहीं हैं, बल कहीं से आना ही चाहिए। सूक्ष्म बल की खोज शुरू हो जाएगी।
त्यागी वह है, जो सब खोज ही छोड़ देता है। और मजा यह है कि राम का बल तभी मिलता है, जब निर्बल इतना निर्बल होता है कि राम का बल भी उसके पास नहीं होता, कोई बल नहीं होता उसके पास। वह आयोजन छोड़ देता है, क्योंकि वह कहता है कि भयभीत होना असंगत है। जहां मृत्यु निश्चित है, वहां भयभीत होने की जरूरत क्या है? जहां मरना होगा ही, वहां अब भय का कारण क्या है?
मैंने एक घटना सुनी है कि जापान में, जैसे राजस्थान में राजपूत कभी थे--अब तो नहीं हैं, कभी थे--ऐसा जापान में लड़ाकों का एक वर्ग था जो समुराई कहलाता है। वे जापान के राजपूत थे। एक बहुत प्रसिद्ध समुराई--कहते हैं, जापान में उसकी जोड़ का कोई तलवारबाज नहीं था--एक दिन घर लौट आया जल्दी, देखा कि उसका रसोइया उसकी पत्नी से प्रेम कर रहा है। तलवार खींच ली, लेकिन तभी उसे ख्याल आया कि जब दूसरे के हाथ में तलवार न हो तब उसे मारना समुराई धर्म के खिलाफ है, क्षत्रिय के धर्म के खिलाफ है। तो उसने एक तलवार रसोइए को दी कि तू यह तलवार हाथ में ले और मुझसे जूझ।
रसोइए ने कहा, ऐसे ही मार डालो। इस जूझने का कोई मतलब ही नहीं है। यह
और नाहक तुम अपने को समझाओगे कि तुम बड़े क्षत्रिय हो। मैंने कभी तलवार पकड़ी नहीं। मुझे पता नहीं तलवार पकड़ी कैसे जाती है। तुम क्षणभर में मुझे मार डालोगे। तुम ऐसे ही मार डालो, यह और बहाना क्यों लेते हो?
लेकिन समुराई ने कहा कि यह तो नियमयुक्त नहीं है किसी को ऐसे मार डालना। तो मैं सदा के लिए कलंकित हो जाऊंगा और समुराई की बदनामी होगी कि एक निहत्थे आदमी को मार दिया। तुझे मैं समय दे सकता हूं। तू चाहे तो छह महीने तलवार चलाना सीख ले। उसने कहा कि वह कुछ न होगा। छह महीने क्या छह जन्म सीखूं, तो भी मैं तुम्हारे सामने तलवार नहीं चला सकता, यह मुझे भलीभांति पता है। पूरे मुल्क में तुम्हारे मुकाबले कोई आदमी नहीं है। तो समुराई ने कहा, फिर मरने के लिए तैयार हो जा।
उस रसोइए ने सोचा कि एक उपाय कर लेने में हर्ज क्या है। जब मरना ही है,
तो नहीं पता है तलवार का पकड़ना, लेकिन हर्ज क्या है अब। तो उसने कहा, फिर ठीक है मैं तलवार... दे दे तलवार। समुराई ने सोचा भी न था कि रसोइया इतने जोर से लड़ेगा। लेकिन जब मृत्यु सुनिश्चित हो, तो भय मिट जाता है। व्हेन डेथ इ.ज डेफिनिट, फियर डिसएपीयर्स। भय तो तभी तक रहता है जब मृत्यु अनिश्चित होती है। रसोइए की मृत्यु तो निश्चित थी। तलवार उठाकर उलटे-सीधे हाथ चलाने उसने शुरू कर दिए।
समुराई तो घबड़ाया, क्योंकि नियम के विपरीत तलवार चला रहा था वह! वह डरा, क्योंकि वह लड़ा था सदा--नियम थे, मर्यादाएं थीं, ढंग थे--जानता था कि दूसरा आदमी क्या वार करेगा। एक-एक वार परिचित था। लेकिन यह रसोइया तो ऐसे वार करने लगा, जो तलवार के शास्त्र में कहीं लिखे ही नहीं हैं। और समुराई के लिए तो जीवन अभी शेष था। रसोइए का जीवन समाप्त हो गया था। समुराई बड़ा बहादुर लड़ाका था, लेकिन भय भीतर था। क्योंकि मौत निश्चित न थी। रसोइया सिर्फ रसोइया था, लेकिन मौत इतनी निश्चित थी कि भय का कोई कारण न था।
थोड़ी ही देर में रसोइए ने समुराई को दीवार से टिका दिया। छाती पर तलवार रख दी। समुराई ने कहा, माफ कर। मगर तू ऐसा लड़ाका है, यह मैंने कभी सोचा भी न था! उसने कहा, लड़ाका मैं बिल्कुल नहीं हूं। यह तो मौत के सुनिश्चित हो जाने से हुआ है।
संन्यासी जानता है, मौत सुनिश्चित है, भय कैसा! भय का कोई अर्थ ही नहीं है। इर्रेलेवेंट, असंगत है। जो होना ही है, वह एक अर्थ में हो ही गया। अब भय कैसा!
मोह को हम फैलाते हैं क्यों? क्योंकि अकेले हम काफी नहीं हैं। दूसरा
हो साथ, तीसरा हो साथ, अपने लोग हों, तो भरे-भरे लगते हैं। लेकिन संन्यासी जानता है कि अकेला होना नियति है, टु बी अलोन इ.ज द डेस्टिनी, कोई उपाय नहीं

है दूसरे के साथ होने का। है ही नहीं उपाय। चाहे पत्नी बनाओ, चाहे पति बनाओ, चाहे मित्र बनाओ, पिता, बेटा, दूसरा दूसरा ही रहेगा। कोई उपाय नहीं, कोई मार्ग नहीं है। अकेले-अकेले हैं। अकेला होना नियति है। धोखा दे सकते हैं दूसरे को साथ रखकर कि नहीं, अकेले नहीं हैं।
और धोखे में तो हम बड़े कुशल हैं। आदमी अंधेरी गली से गुजरता है तो सीटी बजाने लगता है। कोई नहीं है, मालूम है कि हम ही सीटी बजा रहे हैं। लेकिन अपनी ही सीटी सुनकर ताकत आती मालूम पड़ती है। आदमी गाना गाने लगता है। अपना ही गाना सुनकर ऐसा लगता है कि अकेले नहीं हैं। आदमी के धोखे का तो कोई अंत नहीं है।
अकेला है आदमी, इसलिए मोह को फैलाता है, बांधता है, भ्रम खड़े करता है
कि अकेला नहीं हूं, मेरे साथ कोई है, संगी है, साथी है। और उसे पता नहीं है कि जिसको उसने संगी-साथी बनाया है, उसने भी उसे इसीलिए संगी-साथी माना हुआ है कि वह अकेला है। अब ध्यान रखें, दो अकेले मिलकर दुगुने अकेले हो जाएंगे, या क्या होगा? गणित तो कहेगा, दुगुने अकेले हो जाएंगे--द लोनलीनेस विल बी डबल्ड। होना भी यही चाहिए। अगर दो बीमार मिलें, तो बीमारी दुगुनी हो जाती है। अगर दो अकेले आदमी इकट्ठे हो जाएं, तो अकेलापन दोहरा और गहरा हो जाता है।
संन्यासी कहता है, दो होने का मार्ग ही नहीं है, अकेले हम हैं। इसकी स्वीकृति, मोह का विसर्जन हो जाता है--इसकी स्वीकृति, एक्सेप्टीबिलिटी कि अकेला मैं हूं।
शोक क्या है? दुख क्या है? एक ही दुख है जगत में, अपेक्षाजनित। सब दुख आते हैं, थ्रू एक्सपेक्टेशन। सोचते कुछ हैं, होता कुछ है। सोचते थे, आदमी रास्ते पर मिलेगा, नमस्कार करेगा, वह आंखें बचाकर निकल गया। शोक पैदा हो गया। शोक क्या है? अपेक्षाओं की राख। और शोक से हम पीड़ित होते हैं, दुख से हम पीड़ित होते हैं। दुख बहुत छिद जाता है, छाती में छिदता चला जाता है। फिर भी हम अपेक्षाएं किए चले जाते हैं, बिना यह देखे कि दुख के आने का दरवाजा क्या है--अपेक्षा।
जहां अपेक्षा की, वहां दुख आया। दुख से हम बचना चाहते हैं और अपेक्षा करते चले जाते हैं। वही कालिदास का पो.ज, बैठे हैं उसी शाखा पर, काट रहे हैं उसी को। रोज दुखी होते हैं और रोज अपेक्षाएं करते हैं। और कभी इस तर्क को नहीं देख पाते, इस नियम को नहीं देख पाते कि अपेक्षाएं दुख पैदा करती हैं। संन्यासी कहता है कि दुखी होना नहीं, तो अपेक्षा करना नहीं। कोई अपेक्षा न करेंगे। अपेक्षा ही न करेंगे। अपेक्षा तो अपने हाथ में है। जिस दिन मैंने अपेक्षा की, किसी भी भांति की अपेक्षा की, उसी दिन शोक उतर आएगा। क्योंकि इस दुनिया में कोई आदमी मेरी अपेक्षाएं पूरा करने के लिए पैदा नहीं हुआ, हर आदमी अपनी अपेक्षाएं पूरा करने के लिए पैदा हुआ है।
बाप की अपेक्षा और है बेटे से, बेटे की अपेक्षा और है बाप से। होगी ही, क्योंकि बेटा बेटा है, बाप बाप है। दोनों की अपेक्षाएं दोनों को दुखी कर जाएंगी। और जितना दुख होता है, उतनी अपेक्षाएं हम ज्यादा करने लगते हैं। हम सोचते हैं, अपेक्षाओं से सुख मिलेगा। और अपेक्षाओं से मिलता दुख है।
शोक क्या है? एक ही शोक है कि जो हम चाहते हैं, वह नहीं होता। जैसा हम चाहते हैं, वैसा नहीं होता। जैसा हम मानकर चलते हैं, वह नहीं होता।
मुल्ला नसरुद्दीन से किसी ने कुछ रुपए उधार मांगे। पचास रुपए उधार मांगे हैं। मुल्ला ने उसे पचास रुपए लाकर दे दिए हैं। वह बड़ा हैरान हुआ। ऐसी अपेक्षा न थी कि मुल्ला बिना कुछ कहे चुपचाप उठेगा और पचास रुपए दे देगा। पंद्रह दिन बाद वायदे के अनुसार वह पचास रुपए वापस लौटा गया। मुल्ला बहुत चकित हुआ, क्योंकि ऐसी अपेक्षा न थी कि वह रुपए वापस लौटा जाएगा। लेकिन महीनेभर बाद वह फिर हाजिर हुआ। उसने कहा कि एक पांच सौ रुपए की जरूरत है। मुल्ला ने कहा, अब की बार तुम धोखा न दे पाओगे, पिछली बार तुम धोखा दे गए। यू डिसीव्ड मी द लास्ट टाइम। उसने कहा, धोखा! मैं तुम्हारे पचास रुपए लौटा नहीं गया? उसने कहा, वही तो धोखा है, क्योंकि अपेक्षा यह थी कि रुपए लौटने वाले नहीं हैं। वही तो धोखा हुआ। पिछली दफे धोखा दे गए, लेकिन अब की दफे न दे पाओगे। मैं रुपया देने वाला नहीं हूं।

हम सब जी रहे हैं। भीतर बड़े रस पैदा कर रहे हैं, बड़ी अपेक्षाएं निर्मित कर रहे हैं। इसलिए कभी आपने ख्याल किया कि रास्ते से आप गुजर रहे हैं और एक आदमी आपका गिरा हुआ छाता उठाकर दे देता है, तो कितना अनुग्रह मालूम पड़ता है। क्योंकि कोई अपेक्षा नहीं थी कि वह उठाकर दे। लेकिन आपकी पत्नी उठाकर दे देती, तो कोई अनुग्रह पैदा नहीं होता। क्योंकि यह अपेक्षा थी ही कि उठाकर देना चाहिए। अगर न दे तो दुख पैदा होता है, लेकिन दे तो सुख पैदा नहीं होता।
जहां-जहां अपेक्षा बन जाती है, वहां-वहां सुख क्षीण हो जाता है और दुख गहन हो जाता है। और जब अपेक्षाएं बिल्कुल थिर हो जाती हैं, तो दुख ही दुख हाथ में रह जाता है, सुख का तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता।
इसलिए अजनबी कभी थोड़ा-बहुत सुख भला दे दें, अपने लोग कभी सुख नहीं दे पाते। इसका कारण अपने लोग नहीं हैं, इसका कारण अपेक्षा है। अपरिचित, अनजान लोग कभी सुख की झलक दे जाएं, लेकिन परिचित, जाने-माने, संबंधित, मित्र, परिवार के कभी सुख नहीं दे पाते।
कोई बेटा किसी मां को सुख नहीं दे पाता। यह वक्तव्य थोड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम पड़ेगा। आप कहेंगे कि चोर हो जाता है, तो नहीं दे पाता होगा। नहीं, बुद्ध हो जाए, तो भी नहीं दे पाता। बेईमान हो जाए, तब तो दे ही नहीं पाता; ईमानदार हो जाए, तब भी नहीं दे पाता। सजा काटे, जेलखाने में चला जाए, तब तो दे ही नहीं पाता; साधु हो जाए, सरल हो जाए, तो भी नहीं दे पाता। कुछ भी करे बेटा, कोई मां आज तक तृप्त हुई है, इसकी खबर नहीं मिली। कोई बाप आज तक तृप्त हुआ है, इसकी खबर नहीं मिली।
बात क्या है? कारण क्या है? बाप की अपनी अपेक्षाएं हैं। बेटे का अपना जीवन है। और यह भी बड़े मजे की बात है और बड़े राज की कि अगर बेटा बिल्कुल बाप की मानकर चले तो भी सुख नहीं दे पाता, क्योंकि तब वह गोबर-गणेश मालूम पड़ता है--बिल्कुल गोबर के गणेश। बाप कहे बैठो, तो बैठ जाए; बाप कहे उठो, तो उठ जाए; बाप कहे चलो, तो चलने लगे--तो बाप सिर ठोक लेता है कि बिल्कुल गोबर-गणेश है। अगर बाप की न माने, तो दुख होता है। बाप की माने, तो दुख होता है। हमारे एक्सपेक्टेशंस कंट्राडिक्ट्री हैं, बड़े विरोधी हैं। अगर पति पत्नी की न माने, तो पीड़ा होती है। अगर बिल्कुल मानकर चले, तो समझती है, कैसा पति है! किसी मतलब का नहीं, हुए न हुए, बराबर। पति तो ऐसा चाहिए, रोबीला! और ऐसा भी चाहिए कि गुलाम। बड़ी मुश्किल है। पति चाहिए पुरुष, और ऐसा चाहिए कि पैर दाबता रहे। दोनों बातें हो नहीं सकतीं। वह पैर दाबे, तो पुरुषत्व क्षीण हो जाता है। पुरुषत्व क्षीण हो जाता है, तो पत्नी की दृष्टि गिर जाती है उस पर। नौकर-चाकर हो जाता है।
मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन घर लौटा है। और पत्नी से कहने लगा, यह तूने क्या किया! मैनेजर नौकरी छोड़कर चला गया। पत्नी ने कहा, मैनेजर और मेरा क्या संबंध? उसने कहा कि तूने आज फोन करके उससे इस तरह के अपशब्द बोले कि उसने तत्काल इस्तीफा दे दिया। पत्नी ने कहा, अरे, बड़ी भूल हो गई। मैं तो समझी कि फोन पर तुम हो।
हमारी ऐसी अपेक्षाएं हैं। अगर प्रतिभाशाली बेटा होगा, तो बाप की खींची गई लक्ष्मण रेखाओं के भीतर नहीं चल सकता। प्रतिभा सदा स्वतंत्र होती है। बाप चाहता है, बेटा प्रतिभाशाली हो, लेकिन बाप यह भी चाहता है कि मेरी मानकर चले। मानकर सिर्फ मंद-बुद्धि चल सकते हैं। अब बड़ी मुश्किल है। मंद-बुद्धि और प्रतिभा एक साथ नहीं हो सकती। मंद-बुद्धि होगा तो दुख देगा, प्रतिभाशाली होगा तो दुख देगा। यह खेल क्या है?
संन्यासी इस सत्य को समझकर अपेक्षाएं करना बंद कर देता है। वह कहता है, अपेक्षाएं विरोधाभासी हैं, इसलिए मैं अपेक्षाएं नहीं करता। और अपेक्षाएं दूसरे से की जा रही हैं। दूसरा उनको पूरा करने के लिए बाध्य क्यों हो? दूसरा दूसरा है! और जब मैं अपेक्षा करता हूं, तो मैं दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा डालता हूं। जब भी मैं छोटी सी अपेक्षा भी--बिल्कुल छोटी सी अपेक्षा, ऐसी जिसका कोई मतलब नहीं है कि रास्ते से निकलूं तो नमस्कार कर लो, इसका कोई मतलब नहीं है, जिसमें कुछ खर्च नहीं होता किसी का-- इतनी सी अपेक्षा भी दूसरे की स्वतंत्रता पर बाधा है, हिंसा है, वायलेंस है।

संन्यासी कहता है कि जब मैं स्वतंत्र होने को आतुर और उत्सुक हूं, तो सभी जीवन स्वतंत्र होने को आतुर और उत्सुक हैं। नहीं, कोई अपेक्षा नहीं। अपेक्षा नहीं, तो शोक नहीं, दुख नहीं। अपेक्षा नहीं, तो संताप नहीं पैदा होता। शोक को छोड़ना हो, तो अपेक्षा की जड़ें छोड़ देनी पड़ती हैं, शोक छूट जाता है। जब भी क्रोध पैदा होता है मन में, तब ऐसा लगता है, दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध का कारण, दूसरा जिम्मेवार है, ऐसी धारणा।
मुल्ला नसरुद्दीन एक नई जगह नौकरी करने गया। इंटरव्यू हुआ। मालिक ने उसकी भेंट ली और कहा कि ध्यान रखो, तुम आदमी देखने से रिस्पांसिबल नहीं मालूम पड़ते, कुछ जिम्मेवार आदमी नहीं मालूम पड़ते तुम्हारे ढंग-डौल से। और मैंने अखबार में जो विज्ञापन दिया था, उसमें लिखा था कि इस पद के लिए बहुत रिस्पांसिबल, योग्य, जिम्मेवार, उत्तरदायित्व को समझने वाला आदमी चाहिए। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि इसीलिए तो मैंने यह दरखास्त दी। बिकाज व्हेनएवर एनीथिंग रांग हैपंस, आई एम आलवेज हेल्ड रिस्पांसिबल। कहीं कुछ गड़बड़ हो जाए, तो पच्चीस जगह नौकरी कर चुका, कोई भी गड़बड़ हो, जिम्मेवार सदा मैं ही सिद्ध होता हूं। और तुमने लिखा कि जिम्मेवार आदमी की जरूरत है, तो मैं हाजिर हो गया।
क्रोध का सूत्र क्या है? सदा दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध का सूत्र यही है, सदा दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध छोड़ना हो, तो समझना पड़े, सदा मैं ही जिम्मेवार हूं। फिर क्रोध का कोई कारण नहीं रह जाता। फिर क्रोध का कोई कारण नहीं रह जाता। फिर क्रोध की जड़ें कट जाती हैं। तो संन्यासी कसम नहीं खाता कि मैं क्रोध नहीं करूंगा। वह क्रोध के राज को, रहस्य को, उसकी जड़ों को समझ लेता है और मुक्त हो जाता है।
मुक्त होने में कठिनाई नहीं है। लेकिन आप पुराने सूत्र पकड़े रखें और कसमें खाते चले जाएं, तो मुश्किल में पड़ेंगे। भीतर तो यही मानते रहें कि जिम्मेवार दूसरा है और ऊपर से कहें कि मैं क्रोध नहीं करूंगा। यह नहीं होने वाला है। क्रोध भीतर बनेगा। रस्ते खोजेगा। और रस्ते ऐसे खोज सकता है... ।
एक ईसाई पादरी के बाबत मैंने सुना है। ईसाई पादरी ने कसम ली थी कि गालियां नहीं देगा, बुरे शब्द, अपशब्द नहीं बोलेगा। जिस दिन वह दीक्षित हुआ पादरी के पद पर, उसी दिन उसके स्वागत-समारोह में गांव में एक भोज हुआ। कसम तो खा ली थी कि गाली नहीं देगा। पहले ही दिन मुसीबत में पड़ा।
कसम खाने वाले सदा मुसीबत में पड़ जाते हैं, क्योंकि कसम कोई समझ नहीं है। समझदार आदमी कसम नहीं खाता। समझ काफी है, कसम की जरूरत नहीं है। गैर-समझदार आदमी समझ की कमी कसम से पूरी करने की कोशिश करता है। और जब समझ ही नहीं है, तो कसम खाकर समझ पैदा नहीं हो जाएगी।
कसम तो खा ली थी। पहले ही दिन भोज था। बड़े बढ़िया, अच्छे से अच्छे कपड़े पहनकर पहुंचा था। और बेरा ने भोजन परोसते वक्त सब्जी का पूरा का पूरा बर्तन उसके कपड़ों पर गिरा दिया। आग जल गई भीतर, गालियां ओंठों पर आ गईं। लेकिन कसम खा चुका था, तो उसने कहा कि भाइयो, कोई गृहस्थ आदमी इस समय पर जो कहना जरूरी है, जरा इससे कहे। क्योंकि मैं तो कसम ले लिया हूं, जरा ऐसी बातें कहो, जो इस वक्त बिल्कुल जरूरी हैं।
यही होने वाला है। क्योंकि कसमें क्या करेंगी, कसमें समझ नहीं हैं। नासमझ कसमें खाते हैं, संन्यासी व्रत नहीं लेता। यह बहुत हैरानी होगी सुनकर, संन्यासी व्रत नहीं लेता। संन्यासी समझ से ही जीता है। समझ ही उसका एकमात्र व्रत है। और जो समझ जाता है, जो समझ में आ जाता है, वह विसर्जित हो जाता है।
परब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं।
एक ही उनका स्वाद और एक ही उनका रस है। व्यक्तियों से नहीं है वह स्वाद। वस्तुओं से नहीं है वह स्वाद। वह रस व्यक्तियों से नहीं, वस्तुओं से नहीं। वह रस और स्वाद उनका सिर्फ परमात्मा से है। लेकिन वहां भी वे भय, मोह, शोक और क्रोध का संबंध नहीं बनाते। अब यह बहुत समझने जैसी बात है। आमतौर से भक्त जिनको हम कहते हैं, वे परमात्मा से भी भय, मोह, शोक और क्रोध का संबंध निर्मित कर लेते हैं। परमात्मा तक से रूठ जाते हैं। परमात्मा उनकी मानकर चले, इसकी अपेक्षा हो जाती है। वे जैसा कहें, वैसा

परमात्मा करे, इसकी भी अपेक्षा बन जाती है। परमात्मा पर भी नाराज हो सकते हैं। तब उन्होंने अपने सब रोगों को परमात्मा पर आरोपित कर लिया। वे रोगों से मुक्त नहीं हुए।
संन्यासी परमात्मा से कोई अपेक्षा नहीं करता। यही उसका संबंध बनता है। परमात्मा जो करता है, उसके लिए राजी है। क्रोध नहीं करता कि इससे अन्यथा होना था। परमात्मा से भी मोह नहीं बनाता। नहीं तो कोई भी निमित्त मोह के लिए कारण बन जाता है।
एक संत के संबंध में मैंने सुना है। वे राम के भक्त थे। कृष्ण के मंदिर में गए, तो नमस्कार करने से इनकार कर दिया। और कहा कि जब तक धनुष-बाण हाथ में न लोगे, तब तक मैं सिर न झुकाऊंगा।
भारी अजीब मोह हो गया! यह मोह तो पागलपन हो गया। यह तो विक्षिप्तता हो गई। धनुष-बाण हाथ में हों, तो ही मेरा सिर झुकेगा। तब तो मेरे सिर झुकने में भी कंडीशन हो गई, शर्त हो गई कि लो धनुष-बाण हाथ रखो, नहीं तो मेरा सिर झुकने वाला नहीं। अब यह मेरा सिर ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया।
हम सबके मोह हैं। मस्जिद के सामने से हम ऐसे निकल जाते हैं, जैसे कुछ नहीं। मंदिर के सामने सिर झुका लेते हैं। मंदिर में भी फर्क हैं--अपने- अपने मंदिर हैं। अपने मंदिर के सामने सिर झुका लेते हैं, दूसरे के मंदिर के सामने ऐसे ही निकल जाते हैं। मोह वहां भी खड़ा है।
संन्यासी का कोई मोह नहीं। इसलिए मैं कहता हूं, संन्यासी के लिए मंदिर और मस्जिद और गुरुद्वारा एक है। कभी मस्जिद करीब हो, तो वहां प्रार्थना कर लें। और कभी गुरुद्वारा करीब हो, तो वहां प्रार्थना कर लें। और कभी मंदिर करीब हो, तो वहां प्रार्थना कर लें। और कुछ भी करीब न हो, तो कहीं भी बैठ जाएं। वहीं मंदिर है, वहीं मस्जिद है, वहीं गुरुद्वारा है। पर बड़े मोह होते हैं मन में।
संन्यासी का एक ही रस है, एक ही स्वाद है, परम सत्ता की तरफ। और यह स्वाद तभी पैदा हो सकता है, जब ये चार ऊपर के स्वाद गिर गए हों, नहीं तो यह पैदा नहीं हो सकता। अगर ये चार स्वाद बने रहें, ये क्रोध के, मोह के, शोक के, ये स्वाद बने रहें, तो यह परम सत्ता की तरफ बहने वाला रस, यह रसधार पैदा नहीं होती।
इसके बाद का सूत्र है, अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है।
यह सूत्र बड़ा क्रांति का है। इसी सूत्र की मैं बात कर रहा था। अनियामकत्व, इनडिसिप्लिन, अनुशासन-मुक्ति ही उनकी निर्मल शक्ति है। वे नियमन नहीं करते, वे अपने को डिसिप्लिन नहीं करते, वे अपने को अनुशासन में बांधते नहीं, वे व्रत नहीं लेते, नियम नहीं लेते। वे कोई मर्यादा नहीं बांधते। वे ऐसा नहीं कहते कि मैं ऐसा करूंगा। ऐसी कसम नहीं खाते। अनियम में जीते हैं, इनडिसिप्लिन में।
बड़ी अजीब बात है! क्योंकि हम तो सोचते हैं, संन्यासी को एक डिसिप्लिन में जीना चाहिए। लेफ्ट-राइट वाले डिसिप्लिन में होना चाहिए। हमारे संन्यासी हैं तथाकथित, बिल्कुल लेफ्ट-राइट हैं वे। लेकिन यह ऋषि कहता है कि अनियामकपन!
कैसे अदभुत और प्यारे लोग रहे होंगे! और कैसा साहस और कैसी गहरी समझ रही होगी! वे कहते हैं, संन्यासी का कोई नियम नहीं है। संन्यास का कोई नियम नहीं है। असल में सब नियमों के बाहर हो जाना संन्यास है। घबराहट होगी मन को। अगर सब नियम टूट गए, तब तो सब अस्त-व्यस्त, अराजक हो जाएगा। तब तो जिंदगी की सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी।
नहीं होगी। क्योंकि इस अवस्था तक आने के लिए ऋषि कहता है, मोह, लोभ, काम, क्रोध ये सब विसर्जित हो जाएं, परमात्मा ही रस रह जाए, फिर अनियामकपन। जिसका काम न रहा, क्रोध न रहा, जिसका मोह न रहा, लोभ न रहा, भय न रहा, अब उस पर नियम की और क्या जरूरत रही? और अगर अब भी नियम की जरूरत है, तो स्वतंत्रता कब मिलेगी फिर? और जिसका परमात्मा ही रस रह गया, अब उसके लिए नियम की क्या जरूरत रही!
नहीं, संन्यासी रेल की तरह पटरियों पर नहीं दौड़ सकता। वह सरिताओं की तरह स्वतंत्र है। सागर ही उसकी खोज है। वह सरिताओं की तरह स्वतंत्र है। रेल की बंधी हुई पटरियां, जिन पर रेलगाड़ी के डिब्बे दौड़ते रहते हैं, वह

गृहस्थ का ढंग है जीने का। गृहस्थ रेलगाड़ी की पटरियों पर दौड़ता रहता है। और अक्सर तो कहीं नहीं पहुंचता, शंटिंग में ही होता है। कोई स्टेशन वगैरह कभी आता ही नहीं, शंटिंग ही चलती है। क्योंकि पत्नी इस तरफ जाती है, पति उस तरफ जाता है, बेटा उस तरफ जाता है; शंटिंग होती रहती है। धीरे-धीरे डिब्बे जीर्ण-जर्जर होकर वहीं गिर जाते हैं। कोई यात्रा कभी पूरी नहीं हो पाती। और ठीक भी है, क्योंकि गृहस्थ जो है, वह पैसेंजर गाड़ी की तरह कम और मालगाड़ी की तरह ज्यादा है--गुड्स ट्रेन। तो गुड्स ट्रेन की शंटिंग आप देखते ही हैं, होती ही रहती है।
गृहस्थ भारी बोझ और सामान लिए हुए चल रहा है। बोझ इतना है कि चलना हो नहीं पाता और बोझ बढ़ाता चला जाता है। रोज बोझ बढ़ता चला जाता है। पुराना तो रहता ही है, नए को इकट्ठा करता चला जाता है। आखिर में उसी बोझ के नीचे दबकर मरता है। नियम जरूरी हैं गृहस्थ की दुनिया में, क्योंकि इतने रोग हैं वहां कि अगर चारों तरफ सिपाही बंदूकें लिए न खड़े हों, तो बड़ी कठिनाई हो जाए। संन्यासी के लिए नियम का कोई सवाल न रहा, क्योंकि जिस चीज के लिए हम नियम करते थे, उसको छोड़ने को ही ऋषि संन्यास कह रहा है। इसे ठीक से समझ लेना चाहिए।
जिसे छोड़ने के लिए ऋषि संन्यास कह रहा है, उसी के लिए तो हम नियम बनाते थे। नियम सिर्फ पुअर सब्स्टीट्यूट थे, बहुत कमजोर। रास्ते पर एक सिपाही खड़ा है, क्योंकि पक्का पता है कि सिपाही हटा कि बाएं चलने का नियम समाप्त हो जाता है।
मेरे एक मित्र हैं, पद्मश्री हैं, वर्षों से एम.पी. हैं, बड़े कवि हैं,
सब गुण हैं। मगर भारतीय होने का गुण भी है। लंदन पहली दफा गए थे। तो कहीं मित्र के घर से भोजन करके लौट रहे हैं रात कोई एक बजे। टैक्सी में लौट रहे हैं। रास्ता सुनसान है, कोई नहीं। न पुलिस वाला है, न कोई ट्रैफिक है, न कुछ। लेकिन ड्राइवर टैक्सी का, लाल बत्ती देखकर, कार को रोककर खड़ा है, तो उन्होंने उससे कहा कि जब कोई पुलिस वाला ही नहीं है और रास्ते पर कोई गाड़ी भी नहीं है, तो निकल चलो। यह भारतीय का गुण है और पद्मश्री हो तो यह गुण थोड़ा और ज्यादा ही होना चाहिए। तो उस ड्राइवर ने बहुत चकित होकर उन्हें देखा और उसने कहा, खिड़की के बाहर जरा कांच खोलकर देखें। एक बूढ़ी औरत साइकिल रोककर सर्दी में खड़ी कंप रही है, क्योंकि लाल लाइट है। उसने कहा कि आप तो कार के भीतर बैठे हैं। एक मिनट में क्या बिगड़ा जा रहा है! और पुलिस वाला खड़ा हो, तब तो एक बार निकला भी जा सकता है धोखा देकर। लेकिन जब कोई भी नहीं खड़ा है और हम पर ही सारी बात छोड़ दी गई है, तो यह धोखा किसी दूसरे को नहीं, अपने को है।
संन्यासी को मुक्त कहा है ऋषियों ने। उस पर कोई नियम हम नहीं रखते, क्योंकि हम मानते हैं कि वह अपने को धोखा नहीं देगा। बस, इतना ही इतना सूत्र है उसका, अपने को वह धोखा नहीं देगा। और जिसे यह पता चल गया कि अपने को धोखा नहीं दिया जा सकता, देन ए न्यू डिसिप्लिन इस बॉर्न, ए इनर डिसिप्लिन। तब एक नया अनुशासन पैदा होता है, जो आंतरिक है, जिसे ऊपर से आयोजित नहीं करना पड़ता। संन्यासी ऐसा नहीं कहता कि मैं सत्य बोलूंगा। जब भी घटना घटती है, वह सत्य बोलता है। संन्यासी ऐसा नहीं कहता कि मैं चोरी नहीं करूंगा। जब भी ऐसा अवसर आए, तो वह चोरी नहीं करता है। ये एक भीतरी अनुशासन है और बाहरी कोई अनुशासन नहीं है।
अनियामकपन, टु बी अनडिसिप्लिण्ड। इट इ.ज बेटर टु यूज अनडिसिप्लिण्ड दैन इनडिसिप्लिण्ड, अनुशासनमुक्त, अनुशासनहीन नहीं। क्योंकि हीन कहना ठीक नहीं। उसके भीतर एक नया अनुशासन जन्म गया, इसलिए बाहर के अनुशासन हटा लिए गए।
लेकिन कोई अगर सोचता हो--और ऐसा मन में होता है, और कई को हुआ, और उससे बहुत उपद्रव इस मुल्क में पैदा हुए--कोई अगर सोचता हो कि यह तो बहुत बढ़िया बात हुई। संन्यासी हो जाएं और अनियामकपन में प्रवेश कर जाएं। अनियामकपन बड़े नियमन से आता है। अनियामकपन की स्थिति और हैसियत बड़ी यात्रा से पैदा होती है। बड़ी साधना से जन्मती है। कोई सोचे कि हम यहीं, इसी क्षण अनियम में उतर जाएं, तो सिर्फ अराजकता में उतर जाएगा। और अराजकता में उतरकर बड़ा दुखी

हो जाएगा। क्योंकि उसकी खुद की अपेक्षाएं दूसरों से तो यही रहेंगी कि वे नियम पालन करें।
मुल्ला नसरुद्दीन पकड़ लिया गया है एक धोखे में। मजिस्ट्रेट पूछता है
कि तुमने इस आदमी को धोखा दिया, जो तुम पर इतना भरोसा करता था? नसरुद्दीन कहता है, योर ऑनर, अगर यह भरोसा न करता, तो मैं धोखा कैसे देता! अगर मैं धोखा दे पाया, तो हम बराबर जिम्मेवार हैं। क्योंकि इसने भरोसा किया, तभी मैं धोखा दे पाया। अगर यह भरोसा ही नहीं करता, तो यह अपराध घटित ही नहीं होने वाला था। अगर सजा दी जाए, तो दोनों को बराबर दी जाए और मूल अपराधी यही है। हमारा नंबर तो दो है। नंबर एक यह है। इसने भरोसा कर लिया, हमने धोखा दे दिया। हमारा धोखा पीछे आया है।
धोखा देने वाला भी आपके भरोसे पर निर्भर होता है। अराजक जो अपने को बना रहा है, वह भी आपकी व्यवस्था पर निर्भर होता है।
अब आज हिप्पी हैं, या सारी दुनिया में जो नए युवक अराजक हैं, अनियामक हुए जा रहे हैं, नियम छोड़कर जी रहे हैं, हमें ख्याल में नहीं है कि वे हमारी व्यवस्था पर निर्भर हैं। अगर हम पूरी व्यवस्था तोड़ दें, हिप्पी इसी वक्त मिट जाए, जी नहीं सकता। वह जी रहा है इसलिए कि बड़ी व्यवस्था जारी है। जिसको हम क्रांतिकारी कहते हैं, वह जी नहीं सकता, अगर वे लोग न बचें, जो कन्फर्मिस्ट हैं। एक आदमी अगर रंग-बिरंगे, बेढब कपड़े पहनकर बाजार में खड़ा हो जाता है, तो वह इसीलिए खड़ा हो पा रहा है कि बाकी लोग व्यवस्थित ढंग के कपड़े पहनकर चल रहे हैं। अगर बाकी लोग भी सब वैसे ही कपड़े पहनकर खड़े हो जाएं, वह आदमी भाग खड़ा होगा। वह वहां चौराहे पर फिर खड़ा होने वाला नहीं, क्योंकि एग्जीबीशन का फिर कोई अर्थ ही न रहा। हो सकता है, वह आदमी व्यवस्थित कपड़े पहनकर चौरस्ते पर खड़ा हो जाए, क्योंकि भिन्न दिखाई पड़ने में उसे रस आ रहा था। जो लोग नियम तोड़ने में रस ले पाते हैं, वे इसीलिए ले पाते हैं कि नियम चारों तरफ जारी हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन अदालत में लाया गया है एक बार। और मजिस्ट्रेट ने कहा कि हजार दफे तुम्हें कहा मुल्ला कि शराब पीना बंद करो। फिर तुम आ गए वापस वही जुर्म में! मुल्ला ने कहा, योर ऑनर, आई फेल इनटु ए बैड कंपनी, मुझे बुरे लोगों का साथ मिल गया। मजिस्ट्रेट ने कहा कि यह मैं न मानूंगा। कैसे बुरे लोग? नसरुद्दीन ने कहा, पूरी बोतल शराब की थी और तीनों ऐसे थे कि कहते थे, शराब न पीएंगे। तीनों जिद्दी थे। तीनों कहने लगे, हमने शराब पीना बंद कर रखी है, हम शराब नहीं पीते। ऐसी बुरी कंपनी मिल गई, पूरी बोतल मुझे ही पीनी पड़ी। सो आई फेल इन ए बैड कंपनी, उसका यह फल है। यह जिम्मा मेरा नहीं। वे तीनों दुष्ट अगर थोड़ी भी पी लेते, बंटा लेते, तो यह उपद्रव पैदा होने वाला नहीं था। पूरी शराब मुझे ही पीनी पड़ी।
अगर सारी दुनिया बेईमान हो जाए, बेईमानी गिर जाए। अगर सारे लोग चोर हो जाएं, चोरी गिर जाए। चोरी को भी खड़े होने के लिए अचोर का साथ चाहिए। और जो चोर है, वह अपेक्षा करता है कि आप चोरी न करेंगे। आप चोरी न करेंगे।
इस व्यवस्था के भीतर संन्यासी अव्यवस्था पैदा नहीं करता है। सिर्फ उन बीमारियों के बाहर हो जाता है, जिनको व्यवस्थित करने के लिए व्यवस्था थी। ही ट्रांसेन्ड्स, वह अतिक्रमण कर जाता है। और वह आपसे कोई अपेक्षा नहीं करता। और जो भी उस पर घटित हो जाए, उसके अनियामकपन में जो भी परिणाम आ जाए, वह उसके लिए राजी होता है।
डायोजनीज नग्न घूमता था। तो पुलिस ने उसे पकड़ लिया। तो वह चला गया। वह जेलखाने में बैठ गया। सम्राट ने उसे बुलाया और कहा कि डायोजनीज, तूने कोई विरोध न किया! तो उसने कहा, कोई अपेक्षा ही न थी। विरोध तो तब हो, जब अपेक्षा हो। नग्न रहना हमारी मौज है, बंद करना तुम्हारी मौज है, हम राजी हैं। बात खतम हो गई। इसमें विरोध कैसा? अगर हम यह मानकर चलें कि हम नग्न रहेंगे और तुम बंद मत करो, तब झंझट खड़ी होगी। जब हम अपने लिए स्वतंत्र हैं, तुम भी स्वतंत्र हो। तुम नंगे आदमी को नहीं घूमने देना चाहते सड़क पर, तुमने बंद किया। हम नंगे रहना चाहते हैं, हम जेल के भीतर नंगे रहेंगे। कहीं कोई उपद्रव नहीं है, डायोजनीज ने कहा, कोई विरोध नहीं। हमारा मत बिल्कुल एक है। हम दोनों का मतैक्य है। सम्राट ने कहा, इस आदमी को छोड़ दो,

क्योंकि यह आदमी नियम के बाहर हो गया। इस पर नियम का कोई अर्थ ही न रहा। हम इसको सजा नहीं दे सकते।
मुझे खुद बचपन में व्यायाम का बहुत शौक था। तो मेरे एक शिक्षक थे। जब मैं उनकी क्लास में गया--उनके दंड देने की बात यह थी कि वे कहते थे, पच्चीस उठक-बैठक लगाओ--तो जब भी वे मुझसे कहते कि पच्चीस उठक-बैठक लगाओ, मैं सौ लगा जाता, क्योंकि मुझे उसका मजा ही था। उन्होंने मुझसे कहा कि यह नहीं चलेगा। हम कह रहे हैं पच्चीस लगाओ और तुम सौ लगा रहे हो। उनकी पक्की व्यवस्था थी उठक-बैठक लगाने की। उन्होंने मुझे एक ही दफा लगवाई, फिर नहीं लगवाई। मैंने दो-चार दफे उनसे पूछा कि यह गलती मुझसे हो गई, उठक-बैठक लगाऊं? उन्होंने कहा, छोड़ो भी, उठक-बैठक की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि उठक-बैठक लगवाने का मजा तभी तक है, जब तक लगाने वाला दुखी हो रहा हो। लगाने वाला प्रसन्न हो रहा है... ।
फिर तो मुझे तरकीब हाथ लग गई। फिर मुझे कोई शिक्षक दंड नहीं दे पाया।
एक शिक्षक थे। वे जरा कुछ गड़बड़ हो तो कमरे के बाहर कर देते थे। तो मैं कमरे के बाहर का आनंद लेने लगा। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हें किस प्रकार का दंड दिया जाए! मैंने उनसे कहा, मुझे तो क्लास के बाहर, क्लास के भीतर से ज्यादा अच्छा लगता है। मजे से दंड दें।
हमारी जो व्यवस्था है, नियम है, वह तभी तक लागू है, तभी तक अर्थपूर्ण है, जब तक हम अपने लिए अलग और दूसरे के लिए अलग नियम की मांग करते चले जाते हैं। संन्यासी जो अपने लिए मानता है, वही सबके लिए मानता है। फिर अनियामक हो सकता है। फिर कोई उसे नियम बांधने की कोई जरूरत नहीं है।
इन्हीं सूत्रों की वजह से जिन लोगों ने भी पश्चिम में पहली दफे उपनिषद पढ़े, वे घबरा गए कि इससे तो सब टूट जाएगा, सब नष्ट हो जाएगा। पर उन्हें पता नहीं कि कुछ भी नष्ट नहीं होगा, क्योंकि इस सूत्र तक आने के पहले संन्यासी जो यात्रा करता है, उसमें सब रोगों से मुक्त हो जाता है। अगर हम उससे कहते हैं, कोई दवा मत पीयो, तो तभी कहते हैं जब वह बीमार ही नहीं रह जाता। हम उससे कहते हैं, दवा फेंक दो।
मुल्ला नसरुद्दीन बीमार है। डाक्टर ने उससे कहा, जब वह ठीक हो गया दस दिन बाद, तो उसने पूछा, डिड यू फालो द इंस्ट्रक्शंस गिवेन ऑन द मेडिसिन? मुल्ला ने कहा कि नहीं, आई बिकेम आलराइट बिका.ज आई डिडंट फालो द इंस्ट्रक्शंस एंड डिडंट फालो द मेडिसिन। डाक्टर ने कहा, मतलब! मुल्ला ने कहा, सात मंजिल ऊपर से तुम्हारी दवाई मैंने फेंकी। अगर उसके पीछे मैं फालो करूं, तो फैसला हो जाए। तुम्हारा प्रिस्क्रिप्शन भी उसी में रख दिया था। सब फेंक दिया, बच गया। अगर दवाई का पीछा करता या अनुसरण करता, तो मरते।
हम जिन नियमों का अनुसरण करके जीते हैं, जिनके बिना हमें लगता है हम
जी ही न सकेंगे, उसका कारण है भीतर छिपी हुई बीमारियां। बीमारियां ही न हों, तो इन नियमों का पीछा जो करेगा, मरेगा, झंझट में पड़ेगा। अगर संन्यासी नियमों का पालन करेगा, तो झंझट में पड़ेगा, रुग्ण होगा, परेशान हो जाएगा। क्योंकि जो बीमारी ही नहीं है, उसकी दवा पीता रहेगा।
इसलिए ऋषि कहता है, अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है।
अब यह बहुत अदभुत बात है, निर्मल शक्ति। हम तो मानते हैं कि डिसिप्लिन क्रिएट्स फोर्स, डिसिप्लिन इ.ज पावर। तो सब मानते हैं कि शक्ति तो अनुशासनबद्ध होने में है। मिलिट्री की ताकत यही है कि वह अनुशासनबद्ध है। और जितनी अनुशासनबद्ध है, उतनी शक्तिशाली है। शक्ति तो पैदा होती है अनुशासन से। यह ऋषि कहता है कि अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है। यह कोई और ही शक्ति की बात है, पर इसमें निर्मल लगाया उसने।
असल में ऐसा समझें कि अनुशासन से जो शक्ति पैदा होती है, वह दूषित होती है। और इसलिए जहां-जहां हमें दूषित शक्ति का उपयोग करना पड़ता है, वहां डिसिप्लिन थोपनी पड़ती है। चाहे वह पुलिस हो और चाहे अदालत का कानून हो और चाहे सेना हो, जहां-जहां हमें कुछ उपद्रव खड़ा करना पड़ता है, या उपद्रव को दबाने के लिए कोई दूसरा उपद्रव उसके प्रतिकार में खड़ा करना पड़ता है, वहां-वहां दूषित शक्ति का उपयोग होता है। दूषित शक्ति तथाकथित अनुशासन से पैदा होती है।

अगर हिटलर इस दुनिया में इतना उपद्रव कर सका, तो वह जर्मन कौम की अनुशासित होने की क्षमता की वजह से। भारत में हिटलर पैदा नहीं हो सकता। लाख उपाय करे वह, यहां उपद्रव वह नहीं करवा सकते, क्योंकि अनुशासन ही पैदा करवाना मुश्किल है। जर्मन कौम की जो प्रतिभा है, वह यह है, अनुशासित होने की क्षमता। इसलिए जर्मन कौम से सदा खतरा रहेगा अभी। वह कभी भी उपद्रव में पड़ सकता है। क्योंकि कोई भी अगर ठीक से आवाज दे, तो जर्मन कौम अनुशासित हो सकती है। वह उसके खून में और हड्डी में समा गया है।
हम भारतीय हैं, हमारी खून और हड्डी में अनुशासन नहीं है। उसके कारण,
वह सौभाग्य है ऐसे, क्योंकि उसकी वजह से हमने भला कितने दुख सहे हों, लेकिन हमने किसी को दुख नहीं दिया। हमने भला कितनी गुलामी सही हो, लेकिन हम किसी को गुलाम बनाने नहीं गए। उसके जाने के लिए बहुत अनुशासित होना जरूरी है। वह काम हमसे नहीं हो सकता। और उसका कारण क्या है कि इस मुल्क में अनुशासन नहीं पैदा हुआ? उसका कारण है कि इस मुल्क का जो श्रेष्ठतम व्यक्ति था, वह अनुशासनमुक्त था। और श्रेष्ठतम को देखकर लोग चलते हैं।
हिटलर हमारा श्रेष्ठतम व्यक्ति नहीं है। नेपोलियन नहीं है, सिकंदर नहीं है, चंगेज नहीं है, तैमूर नहीं है। अगर हम ठीक से सोचें तो तैमूर, चंगेज, हिटलर, मुसोलिनी, स्टैलिन, माओ, इनके मुकाबले हमने इतिहास में एक भी आदमी पैदा नहीं किया। पांच हजार साल का इतिहास, इतनी बड़ी कौम, एक चंगेज हमने पैदा नहीं किया। हम कर नहीं सकते, क्योंकि शिखर उठाने के लिए पूरा भवन चाहिए, नीचे एक-एक ईंट चाहिए।
हम बुद्ध पैदा कर सके, महावीर पैदा कर सके, पतंजलि पैदा कर सके। ये बहुत और तरह के लोग हैं--अनियामक। ये अनुशासनमुक्त, अनप्रेडिक्टेबल, इनकी कोई घोषणा नहीं कर सकता कि ये कल सुबह क्या करेंगे, क्या कहेंगे, क्या होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। हमने इस पृथ्वी पर एक और ही प्रयोग किया है। और शायद हमारा प्रयोग अंततः जगत के काम पड़ेगा। बीच में चाहे हमें कितनी ही तकलीफ उठा लेनी पड़ी हो, अंततः हमारा प्रयोग ही जगत के काम पड़ेगा।
आज पश्चिम के मनोवैज्ञानिक यह बात स्वीकार करने लगे हैं कि किसी भी कौम को बहुत ज्यादा डिसिप्लिन सिखाना अंततः युद्ध में घसीटने का रास्ता है। और अगर एक कौम भी डिसिप्लिण्ड हो जाएगी, तो वह युद्ध थोप देगी दूसरों पर। क्योंकि उसको पक्का भरोसा आ जाएगा कि तुमको हम मिटा सकते हैं, हमारे पास अनुशासनबद्ध शक्ति है। इसका मतलब यह हुआ कि मनोवैज्ञानिक कह रहे हैं कि अब बच्चों को डिसिप्लिन मत सिखाओ। अगर दुनिया से युद्ध मिटाना है, तो बच्चों को स्वतंत्रता दो, पंक्तिबद्ध मत खड़ा करो उनको। उनको यूनिफार्म मत पहनाओ। उनको व्यक्तित्व दो, भीड़ और समूह की व्यवस्था मत दो। तो दुनिया से युद्ध मिट सकते हैं, नहीं तो युद्ध नहीं मिट सकेगा।
कोई नहीं कह सकता कि आने वाले सौ वर्ष के भीतर भारत के ऋषियों ने जो कहा था, वह जगत का परम ज्ञान नहीं बन जाएगा। बन जा सकता है। उसका कारण है, क्योंकि पहली दफा अनुशासन के हाथ में इतने खतरनाक अस्त्र पड़ गए हैं कि अगर दुनिया अब अनुशासित हुई, तो नष्ट होगी, अब बच नहीं सकती। अब हमें उन दिशाओं में खोज करनी पड़ेगी, जहां व्यक्ति को हम इतना सरल कर देते हैं कि वह नियममुक्त होकर जी सके।
पर अनियम से जो शक्ति आती है, वह बड़ी निर्मल है। फर्क उसका ऐसा समझें। शक्ति तो वह भी है। आग जलती है, तो गर्मी पैदा होती है। पास जाएं, तो जलन पैदा होती है। हाथ लगा दें, तो जल जाते हैं। लेकिन ठंडा आलोक भी होता है, जो सिर्फ स्पर्श करता है, लेकिन कोई ऊष्मा नहीं होती, कोई गर्मी नहीं होती।
रात चांद भी निकलता है, उसका भी प्रकाश है। दिन में सूरज भी निकलता है, उसका भी प्रकाश है। लेकिन चांद का प्रकाश बड़ा शीतल है, आघात नहीं करता। छूता है, फिर भी स्पर्श का पता नहीं चलता, बहुत शीतल है।
शक्ति के भी दो रूप हैं, एक तो बहुत उष्ण, जब वह हिंसा बन जाती है और दूसरे को छेदने लगती है। और एक बहुत निर्मल और शीतल, चांद जैसी, जब वह दूसरे को सिर्फ सहलाती है, छूती है, लेकिन कहीं कोई आघात नहीं होता। पद-चाप भी नहीं होता, पैरों की आवाज भी नहीं मालूम पड़ती। बुद्ध आपके पास से निकल जाएं, तो ऐसे निकल जाते हैं जैसे कोई भी न निकला हो। लेकिन चंगेज खां निकले, तो ऐसा नहीं निकल सकता।

सुना है मैंने कि चंगेज जब किसी गांव पर हमला करता, तो उस गांव के सब बच्चों के सिर कटवाकर भालों में छिदवा देता। चंगेज चलता अपने घोड़े पर, उसके सामने दस-दस हजार बच्चों के सिर भालों पर छिदे रहते। किसी ने पूछा कि बच्चों को इन भालों पर छिदवाने का क्या मतलब है? ये बच्चे तुम्हारा क्या बिगाड़ रहे हैं? चंगेज ने कहा, पता कैसे चलेगा कि चंगेज इस गांव से गुजर गया? पीढ़ी दर पीढ़ी याद रहेगी कि चंगेज इस गांव से गुजरा था!
चंगेज एक गांव को लूटकर गांव के बाहर जंगल में ठहरा हुआ है। गांव की वेश्याओं को बुला लिया है उसने नृत्य के लिए। रात, तीन बजे रात तक वह नृत्य देखता रहा। अंधेरी रात है। वेश्याओं ने कहा, हम यहीं रुक जाएं? रात बहुत अंधेरी है और गांव तक जाना और निर्जन वन। चंगेज ने कहा, घबराओ मत। सैनिकों से कहा कि आगे बढ़ो और जिन-जिन गांव से इनको गुजरना हो, उनमें आग लगा दो। दस गांव में आग लगा दी गई। वेश्याएं रोशनी में वापस अपने गांव लौट गईं। किसी ने कहा कि इतनी सी छोटी बात के लिए! वेश्याओं को चार सिपाहियों के साथ भी भेजा जा सकता था। चंगेज ने कहा, याद कैसे रहेगा कि वेश्याएं चंगेज के घर से वापस लौट रही थीं!
एक तामसिक शक्ति है, जिसका मजा यही है कि वह आपको धूल चटा दे, जमीन पर गिरा दे, और बता दे कि मैं हूं। निर्मल शक्ति वह है, जो आपको कभी नहीं बताती कि मैं हूं। आप ही उसे खोजें, तो बामुश्किल खोज पाते हैं। बामुश्किल! आपको ही खोजने जाना पड़ता है, फिर भी बामुश्किल खोज पाते हैं। निर्मल शक्ति ऐसी अनुपस्थित होती है, जैसे परमात्मा अनुपस्थित है। पर ऐसी निर्मल शक्ति नियम से पैदा नहीं होती, आयोजना से पैदा नहीं होती, संगठना से पैदा नहीं होती। ऐसी शक्ति परम अनियामकपन में रहने से पैदा होती है।
संन्यासी परम अनियामकपन को ही अपना सूत्र, अपनी मर्यादा, अपना नियम मानता है।
स्वयं प्रकाश ब्रह्म में शिव-शक्ति से संपुटित प्रपंच का छेदन करते हैं।
ऐसे अनियामकपन को उपलब्ध हुई ऊर्जा, यह जो विराट प्रपंच है, इसको छेदकर परम ब्रह्म में प्रवेश कर जाती है। अगर जगत में कुछ बनाना हो तो तामसिक शक्ति चाहिए--दूषित, अंधेरी, ब्लैक। अगर इस जगत के पार जाना हो तो शुभ, ह्वाइट, निर्मल, शांत, पगध्वनि-शून्य शक्ति चाहिए। अगर जगत में कुछ करना हो, तो अनुशासन के बिना नहीं होगा; और अगर जगत के प्रपंच के पार यात्रा करनी हो, तो सब अनुशासन छोड़कर परम अनुशासनहीनता में, परम अनुशासनमुक्ति में प्रवेश करना पड़ता है।
लेकिन यह वही कर सकता है, जो भयभीत नहीं है, मोहग्रस्त नहीं है, क्रोधी नहीं है, शोकग्रस्त नहीं है। वही कर सकता है। नहीं तो, भयभीत तो नियम बनाएगा।
नीत्से ने एक बहुत अदभुत बात कही है। नीत्से ने कहा है कि दुनिया में
जो भी नियम बनाए गए हैं, वे कमजोर लोगों ने बनाए हैं, द वीकलिंग्स।
इस बात में थोड़ी सच्चाई है। शक्तिशाली क्यों नियम मानकर चले! शक्तिशाली कभी चलता भी नहीं रहा नियम मानकर। लेकिन निर्बल लोग भी हैं।
अगर नियम न हो, तो निर्बल कहां टिकेंगे? तो निर्बल इकट्ठे होकर नियम को बनाते हैं। निर्बल की भीड़ इकट्ठी हो जाए, तो सबल से ज्यादा सबल हो जाती है।
नीत्से कहता था, डेमोक्रेसी इ.ज एन एफर्ट टु डीथ्रोन द पावरफुल।
लोकतंत्र है, वह शक्तिशालियों को सिंहासन से नीचे उतारने के लिए है। वह कमजोरों का शड्यंत्र है, कांसपिरेसी आफ वीकलिंग्स। नियम बना लेती है भीड़। शक्तिशाली को नीचे उतार देती है। और शक्तिशाली को भी, अगर तथाकथित शक्तिशाली को, अगर पद पर रहना है, तो उसे भीड़ का अनुगमन करना पड़ता है। इसलिए नेता अनुयायियों के भी अनुयायी होते हैं। दे आलवे.ज फालो देअर फालोअर्स। हमेशा पता रखते हैं कि किस तरफ लोग जा रहे हैं, उसी तरफ चले जाते हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन एक इलेक्शन में खड़ा हो गया था। किसी टैक्स का मामला भारी था। सारी जनता में एक ही चर्चा थी कि वह टैक्स लगना कि नहीं लगना। और जिस गांव में मुल्ला नसरुद्दीन खड़ा था इलेक्शन के लिए, वह आधा गांव बंटा था टैक्स के पक्ष में और आधा टैक्स के खिलाफ। बोलने खड़ा हुआ। पूरे लोग

इकट्ठे थे गांव के। सब बातचीत हो गई। लोगों ने कहा, यह सब तो ठीक है, टैक्स के बाबत क्या ख्याल है? लगना चाहिए कि नहीं? मुल्ला दिक्कत में पड़ा। अगर कहे लगना चाहिए, तो आधी बस्ती खिलाफ हो जाती। कहे नहीं लगना चाहिए, तो भी आधी बस्ती खिलाफ हो जाती। किसके साथ हो? जनता ने आवाज दी। मुल्ला ने कहा, आई एम आलवे.ज विद माई फ्रेंड्स एंड यू आल आर माई फ्रेंड्स। मैं सदा अपने मित्रों के साथ हूं और इस गांव में सभी मेरे मित्र हैं। सभी ने ताली बजाई। क्योंकि सभी अपने मन में समझे कि मुल्ला अपने साथ है।
राजनीतिज्ञ ऐसे ही जवाब देता रहता है। जवाब उसके जवाब से बचने के लिए होते हैं, क्योंकि कोई भी जवाब फंसा सकता है। इसलिए राजनीतिज्ञ के जवाब जवाब नहीं होते। सिर्फ जवाब दिखाई पड़ते हैं। वह प्रश्नों से बचता है, क्योंकि सबका उसे साथ चाहिए। और वह देखता है आप किस तरफ जा रहे हैं, उसी तरफ चलने लगता है। अगर आप दो तरफ जा रहे हों, वह दोनों तरफ चलने लगता है। अगर आप तीन तरफ जा रहे हों, वह तीनों तरफ चलने लगता है। आप उसके देवता हैं। यह जो संसार है, जिसे ऋषि प्रपंच कह रहा है, यह जो फैलाव है, इस फैलाव में जिसे गति करनी है, उसे गति तो बहुत चालाकी, बहुत हिंसा, बहुत बेईमानी, बहुत योजना से करनी पड़ती है। लेकिन इसका जिसे छेदन करना है, इसके पार जिसे जाना है, उसे किसी चालाकी की कोई जरूरत नहीं है। उसे किसी हिंसा की कोई जरूरत नहीं। उसे किसी को धोखा देने की कोई जरूरत नहीं। उसे किसी अनुशासन की कोई जरूरत नहीं। उसका होना पर्याप्त है, बस उसका निर्मल होना पर्याप्त है। उसका शांत और मौन होना पर्याप्त है। फिर वह इस प्रपंच को पार करके परम ब्रह्म की यात्रा पर उसकी चेतना का तीर निकल जाता है।
जैसे इंद्रिय रूपी पत्रों से ढंका हुआ मंडल होता है, ऐसे ही ढंकने वाले भाव और अभाव के आवरण को भस्म कर डालने के लिए वे आकाश रूप धारण कर लेते हैं।
यह आखिरी इस सूत्र का हिस्सा है।
मन ढांके हुए है चेतना को। जैसे कोई झील पत्तों से ढंक गई हो, ऐसा मन ढंका है विचारों से और विपरीत विचारों से--पॉजिटिव-निगेटिव बोथ। भाव और अभाव वाले विचार दोनों ही मन को ढांके हुए हैं। मन का एक हिस्सा कहता है, ईश्वर है; एक हिस्सा कहता है, नहीं है। मन का एक हिस्सा कहता है कि प्रेम करो; दूसरा हिस्सा कहता है, खतरा हो जाएगा; घृणा को कायम रखो, बाकी रखो। मन का एक हिस्सा कहता है, दान दे दो। दूसरा हिस्सा कहता है, दान भला दो, लेकिन जेब काटने का इंतजाम पहले कर लो। विपरीत मन छाए हुए हैं चेतना को। पत्तों ही पत्तों से भरी हुई चेतना ढंक गई है भीतर।
इससे कैसे मुक्त हों? क्या मन का कोई एक भाव चुन लें और विपरीत भाव का खंडन करते रहें, तो मुक्त हो जाएंगे?
नहीं हो पाएंगे। जो भी मन में चुनेगा, वह बंध जाएगा, क्योंकि विपरीत मिटाया नहीं जा सकता। वह उसका ही हिस्सा है। जैसे एक सिक्का होता है, उसके दो पहलू होते हैं। अगर आप सोचें कि इसका एक पहलू फेंक दें और दूसरा बचा लें, तो आप झंझट में पड़ेंगे। क्योंकि जो आप बचाएंगे, उसके साथ, जिसे आपको फेंकना था वह बच जाएगा। अगर आप फेंकेंगे, तो जिसे आपको बचाना था, वह फेंकने वाले के साथ फिंक जाएगा। आप झंझट में पड़ जाएंगे। सिक्के के दोनों पहलू संयुक्त हैं।
ऐसे ही मन का भाव और अभाव संयुक्त है, विधायक और नकारात्मक स्थिति संयुक्त है, घृणा और प्रेम जुड़े हैं, क्रोध और क्षमा जुड़े हैं, राग और विराग जुड़े हैं। अगर किसी ने कहा है कि मैं राग को काटकर और विरागी होता हूं, तो वह विराग को ऊपर फैला लेगा, राग कहीं पीछे छिपकर बैठा रहेगा। इसलिए हमने एक तीसरा शब्द गढ़ा, और वह शब्द है वीतराग। उस वीतराग का अर्थ होता है, राग और विराग दोनों के पार। वीतराग का अर्थ विराग नहीं होता, क्योंकि विराग तो द्वंद्व का हिस्सा है। वीतराग का अर्थ होता है, दोनों के पार। यह ऋषि कहता है, जिसे इन दोनों के पार होना है, उसे आकाश-भाव धारण करना पड़ता है।
यह आकाश-भाव क्या है? एक काला बादल आकाश में घूम रहा है, एक सफेद बदली
का टुकड़ा घूम रहा है। दोनों आकाश में घूम रहे हैं, लेकिन आकाश दोनों में से किसी से भी आइडेंटिफाइड नहीं है। आकाश यह नहीं कहता कि मैं सफेद बादल हूं।

आकाश यह नहीं कहता कि मैं काला बादल हूं। सूरज निकला, किरणें भर गईं आकाश में, आलोकित हो गया सब। रात आई, अंधेरा छा गया। सब ओर अंधकार भर गया। आकाश दोनों को देखता रहता है एक साथ। दोनों को जानता रहता है एक साथ। दोनों का साक्षी बना रहता है। आकाश न तो कहता कि मैं प्रकाश हूं और न कहता कि मैं अंधकार हूं। प्रकाश और अंधेरा आता-जाता है, आकाश अपनी जगह बना रहता है। न तो प्रकाश उसे मिटा पाता है, न अंधेरा उसे मिटा पाता है।
आकाश-भाव का अर्थ है, दोनों के पार, दोनों को आवृत्त करके, दोनों से भिन्न, दोनों का साक्षी बन जाना। न तो भाव से बंधें, न अभाव से बंधें; न तो राग से बंधें, न विराग से बंधें; न तो भोग से बंधें, न त्याग से बंधें--दोनों के प्रति आकाश-भाव धारण कर लें। जस्ट बी ए स्पेस। आने दें राग को भी, जाने दें। आने दें विराग को भी, जाने दें। आप दोनों को घेरकर खड़े रहें--शून्य, साक्षी मात्र। ऐसे साक्षी दशा का नाम ही समाधि है।

आज इतना ही।

अब हम आकाश-भाव धारण करें।
दो ही दिन बचे हैं ध्यान के। कल आखिरी दिन होगा। कोई मित्र पीछे न रह जाएं। कोई नब्बे प्रतिशत मित्र ठीक से श्रम ले रहे हैं, दस प्रतिशत शायद थोड़े पीछे पड़ रहे हैं। वे भी पीछे न पड़ें, थोड़ी हिम्मत जुटाएं, थोड़ा साहस, और छलांग लें। शरीर की थकान से न घबराएं। शरीर थक जाएगा, दो दिन बाद ठीक हो जाएगा। भयभीत न हों कि पैर में दर्द होने लगता है, कि गला जवाब देने लगता है, दो दिन बाद वे सब ठीक हो जाएंगे। छोटी-छोटी बातों को बाधा न बनाएं। दूर-दूर फैल जाएं, ताकि नाचना-कूदना पूरे भाव से हो सके। आंख पर पट्टियां बांध लें। जिन पर पट्टियां न हों, उन्हें भी आंख फिर चालीस मिनट खोलनी नहीं है। दूसरों को बिल्कुल भूल जाएं, आप अकेले ही हैं इस पर, इस जगह पर। पूरे पागल हो जाना है। पागल होने से कम में काम नहीं चलेगा।
बांध लें आंखें। दूर-दूर फैल जाएं। जिनको वस्त्र अलग करने हों, वे कर दें। बीच में भी ख्याल आ जाए तो वस्त्र फेंक दें। कोई संकोच नहीं, दूसरे की कोई चिंता नहीं।
ठीक। अब शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
तेरहवां प्रवचन

असार बोध, अहं विसर्जन और तुरीय तक यात्रा--चैतन्य और साक्षीत्व से

शिवम तुरीयं यज्ञोपवीतं तन्मया शिखा।
चिन्मयं चौत्सृष्टिदंडम संतताक्षि कमंडलुम्।
कर्म निर्मूलनं कन्था।
मायाममताहंकार दहनं श्मशाने अनाहतांगी।

तुरीय ब्रह्म उनका यज्ञोपवीत है और वही शिखा है।
चैतन्यमय होकर संसार-त्याग ही दंड है, ब्रह्म का नित्य दर्शन कमंडलु है।
और कर्मों का निर्मूल कर डालना कन्था है।
श्मशान में जिसने दहन कर दिए हैं माया, ममता, अहंकार, वही अनाहत अंगी-- पूर्ण व्यक्तित्व वाला है।

तुरीय ब्रह्म ही उनका यज्ञोपवीत, वही उनकी शिखा है।
तुरीय शब्द के संबंध में पहली बात तो यह जान लेनी जरूरी है कि यह शब्द सिर्फ संख्या का सूचक है। तुरीय का अर्थ हैः चौथा, द फोर्थ। बहुत-बहुत मार्गों से तुरीय को समझने की कोशिश की गई है।
एक तो मैंने कहा, तीन गुणों के जो पार है, द फोर्थ, वह है चौथा। उसे नाम जानकर नहीं दिया है। क्योंकि वह अनाम है, इसलिए अंक दिया है। नाम में झगड़ा भी हो सकता है, अंक में तो झगड़ा नहीं हो सकता। कोई उसे राम कहे, कोई उसे रहीम कहे, झगड़ा हो सकता है; लेकिन द फोर्थ, चौथे में तो कोई झगड़ा नहीं हो सकता। चौथा चाहे हिंदी में कहो, चाहे अंग्रेजी में कहो, चाहे अरबी में कहो, चाहे हिब्रू में कहो, कोई झगड़ा नहीं हो सकता। जिन्होंने उसे चौथा कहा है, बड़ी अंतर्दृष्टि की बात की है।
नाम देते ही झगड़ा शुरू होता है, क्योंकि नाम के साथ मोह बनना शुरू हो जाता है। और मेरा नाम सत्य है, मेरा दिया नाम सत्य है, दूसरे का दिया नाम असत्य होगा, ऐसा अहंकार मानना शुरू कर देता है। लेकिन आंकड़े में झगड़े की संभावना न के बराबर है। जैसा ऋषियों ने कहा, तुरीय, ऐसा अगर सारे जगत ने कहा होता; आंकड़ा, अंक, गणित का उपयोग किया होता, तो विवाद नहीं हो सकता था। यह भी बहुत मजे की बात है कि उपनिषद का ऋषि और गणित के अंक का प्रयोग करता है, ब्रह्म के लिए। यह जानकर आप हैरान होंगे कि इस जगत में, इस पूरे मनुष्य की जानकारी में गणित ही अकेला शास्त्र है, जिसमें सबसे कम विवाद है। उसका कारण है। क्योंकि शब्द का कोई उपयोग नहीं है। अंकों का उपयोग है। अंकों में विवाद नहीं हो सकते। और दो और दो किसी भी भाषा में लिखे जाएं, और परिणाम चार किसी भी तरह कहा जाए, तो अंतर नहीं पड़ता है। इसलिए गणित सबसे कम विवादग्रस्त विज्ञान है। और वैज्ञानिक मानते हैं कि आज नहीं कल हमें सारे विज्ञान की भाषा को गणित की भाषा में ही रूपांतरित करना पड़ेगा, तो ही हम अन्य विज्ञानों और शास्त्रों के विवाद से मुक्त हो सकेंगे। बहुत पहले, हजारों साल पहले ऋषि उस ब्रह्म को, उस परम सत्ता को कहता हैः द फोर्थ, चौथा, तुरीय।
मैंने कहा, एक तो तीन गुणों के जो पार है, वह चौथा। एक और गहन खोज, जिसका सारा श्रेय उपनिषदों को है और आधुनिक मनोविज्ञान उस श्रेय के ठीक-ठीक मालिक को खोज लेने में समर्थ हो गया है, कि उपनिषद ही उस श्रेय के हकदार हैं, वह है मनुष्य के चित्त की तीन दशाएं हैं--जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जागते हैं, स्वप्न देखते हैं, सोते हैं। अगर इन तीनों में ही मनुष्य समाप्त है, तो वह कौन है जो जागता है! वह कौन है जो सोता है! वह कौन है जो स्वप्न देखता है!
निश्चित ही चौथा भी होना चाहिए, जिस पर जागरण का प्रकाश आता है, जिस पर निद्रा का अंधकार आता है, जिस पर स्वप्नों का जाल बुन जाता है। वह द फोर्थ,

चौथा होना चाहिए, वह तीन में नहीं हो सकता। अगर मैं तीन में से एक हूं, तो बाकी दो मेरे ऊपर नहीं आ सकते। अगर मैं जाग्रत ही हूं, तो निद्रा मुझ पर कैसे उतरेगी? अगर मैं निद्रा ही हूं, तो मुझ पर स्वप्नों की तरंगें कैसी बनेंगी? ये तीन अवस्थाएं हैं, और जो मैं हूं, वह निश्चित ही चौथा होना चाहिए। उपनिषद उसे तुरीय कहते हैं, वह जो चौथा है।
और मनुष्य के चित्त की इन चार दशाओं की चर्चा सबसे पहले जगत में उपनिषद के ऋषियों ने की है। पश्चिम के मनोविज्ञान ने अभी सौ वर्षों में सिर्फ नंबर दो पर कदम रखा है। सौ वर्षों में--सिर्फ पिछले सौ वर्षों में-- पश्चिम के मनोविज्ञान को ख्याल आया कि मनुष्य को जाग्रत ही समझने की कोशिश खतरनाक है और आमूल गलत है। क्योंकि आदमी जितनी देर जागता है, वह सिर्फ एक अंग है। फिर सोता भी है, फिर स्वप्न भी देखता है। और चारकाट से लेकर फ्रायड तक पश्चिम ने बड़ी मेहनत की इस बात की कि हम मनुष्य के स्वप्नों के संबंध में जब तक न जान लें, तब तक मनुष्य के संबंध की जानकारी हमारी अधूरी होगी। और जब फ्रायड मनुष्य के स्वप्नों की गहराइयों में उतरा, तो उसने कहा, मनुष्य के जागने पर भरोसा ही मत करना, क्योंकि आदमी जागकर धोखा देता है। सपने से जो जाना जाता है, वही सत्य है।
इसलिए आज मनोविश्लेषक आपके जागने की फिक्र नहीं करता। वह आपसे पूछता है, आप स्वप्न कौन से देखते हैं? क्योंकि स्वप्न में आप धोखा नहीं दे सकते। जागने में आप दूसरे को ही नहीं, अपने को भी धोखा दे सकते हैं। जागने में आप ब्रह्मचारी हो सकते हैं, लेकिन स्वप्न आपके ब्रह्मचर्य की सारी पट्टी उधेड़ देगा और आपके व्यभिचार को प्रकट कर देगा।
इसलिए तथाकथित ब्रह्मचारी नींद से डरते हैं, सोने से भयभीत होते हैं, क्योंकि उनकी सब साधना जागरण के दरवाजे पर रखी रह जाती है। स्वप्न में उनका कुछ वश नहीं चलता। छोटे-मोटे साधक नहीं, जिन्हें हम बड़े साधक कहें, जो नीति को ही साधकर चलते हैं, उनके लिए यह कठिनाई बनी ही रहेगी। जो योग को बिना जाने, धर्म को बिना जाने, केवल नैतिक आचरण में ही अपने जीवन को लगा देते हैं, उनको यह झंझट रहेगी।
महात्मा गांधी जैसे साधक को भी अंततः यह कहना पड़ा कि जागने में ही मैं अपने संयम को साध पाता हूं, स्वप्न में तो मेरा संयम टूट जाता है। स्वप्न में मेरे संयम पर मेरा कोई काबू नहीं रहता।
लेकिन स्वप्न में अगर संयम टूट जाता है, तो संयम अभी ऊपरी है। क्योंकि
जो संयम स्वप्न तक को नहीं जीत पाता, वह सत्य को क्या जीत पाएगा? जो संयम स्वप्न तक से पराजित हो जाता है, उस संयम की सत्य में क्या गति हो सकेगी? बहुत निर्बल है, बहुत ऊपरी है, बहुत झीनी चादर की तरह है। भीतर सब रोग छिपे रहते हैं, ऊपर हम चादर की सजावट कर लेते हैं।शृंगार है।
फ्रायड ने मनुष्य के चित्त को ठीक से समझना हो, तो उसके स्वप्न को जानना अनिवार्य बना दिया। अब पश्चिम का पूरा मनोविज्ञान आदमी के संबंध में जो भी जानकारी पा सका है, वह उसके सपनों के द्वारा है। यह बहुत उलटा मालूम पड़ता है कि आपकी सचाई आपके सपने से पता चले। हद हो गई! आपकी सच्चाई और आपके सपनों में खोजनी पड़े!
आदमी ने अपने को निश्चित ही इतना धोखा दे दिया है, जागना इतना भ्रांत
और झूठ हो गया है कि सोए बिना आपके भीतर क्या चलता है, इसका कुछ भी पता चलना मुश्किल है। आपको ही पता नहीं चलता, दूसरे को पता चलना तो अति कठिन है। लेकिन अभी पश्चिम का मनोविज्ञान सिर्फ दूसरी अवस्था पर गया है-- वेकिंग एंड ड्रीमिंग। अभी डीप स्लीप पर सिर्फ दस साल में काम शुरू हुआ है। वह जिसे सुषुप्ति कहते हैं उपनिषद के ऋषि, केवल पिछले दस वर्षों में--केवल पिछले दस वर्षों में, ऋषि के वचन तो हजारों वर्ष पुराने हैं--केवल दस वर्षों में स्लीप लैब अमरीका में बने हैं, प्रयोगशालाएं बनी हैं, जहां आदमियों की स्वप्नरहित निद्रा पर प्रयोग चल रहे हैं।
कोई दस हजार लोगों पर अभी इन दस वर्षों में प्रयोग किए गए हैं। प्रयोगशालाएं हैं, जिनमें लोग रातभर सोते हैं। और हजारों तरह के यंत्रों से जांच की जाती है कि उनका स्वप्न क्या है? और जब स्वप्न समाप्त हो जाता है, तो निद्रा की स्थिति में उनकी मन की तरंगें, वेव्स कैसी होती हैं? उनके चित्त की, चेतना की दशा कैसी होती है? भीतर वे किन गहराइयों में उतर जाते

हैं? निद्रा क्या है? क्योंकि जब स्वप्न से इतना पता चल सका कि हम मनुष्य को जानने में ज्यादा सफल हुए, तो शायद निद्रा से और गहरे सत्यों का पता चले।
तो तीसरी अवस्था पर पश्चिम का मनोविज्ञान गहन प्रयोगों में लगा है। पश्चिम में सिर्फ पिछले दस वर्षों में निद्रा के ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, इसके पहले नहीं। आदमी सोता सदा से रहा है। और एक आदमी आठ साल जीता है, तो बीस साल सोता है। इतने बड़े हिस्से को अज्ञात छोड़ देना महंगा है। जहां हम अपने जीवन के बीस वर्ष गुजारते हैं, उस अवस्था का हमें कुछ भी पता न हो, तो हम अपने आत्मज्ञान में गति नहीं कर सकते हैं।
लेकिन अभी प्राथमिक चरण है। निद्रा की खोज पश्चिम में पहले कदम पर है। लेकिन ऋषि तुरीय की बात करते हैं। वे कहते हैं, निद्रा भी ठीक, पर उसके भी पार एक है, जो इन तीनों से गुजरता है। ये तीनों तो सिर्फ उसकी स्थितियां हैं। ये स्टेशन्स हैं कहें। एक आदमी गुजरता है, एक स्टेशन से दूसरे, दूसरे से तीसरे। और वह आदमी समझ ले कि मैं यही स्टेशन हूं, फिर समझ ले दूसरे स्टेशन पर कि मैं यही स्टेशन हूं, फिर तीसरे पर कि मैं यही स्टेशन हूं, तो भ्रांति होगी। उपनिषद के ऋषि कहते हैं, जो स्टेशनों को पार कर रहा है, वह यात्री स्टेशनों से अलग है। जागते हैं, वह एक स्थिति है। स्वप्न देखते हैं, वह दूसरी स्थिति है। सो जाते हैं, वह तीसरी स्थिति है। लेकिन जिसकी ये स्थितियां हैं, वह इन तीनों के पार चौथा, तुरीय, द फोर्थ, वह चौथा है, वह यात्री है। ये तो केवल पड़ाव हैं।
पश्चिम के मनोविज्ञान को शायद अभी और सैकड़ों वर्ष लगेंगे, जब वह तुरीय की खबर ला पाए। लेकिन अब तो इतना तो उन्हें भी ख्याल होने लगा और कार्ल गुस्ताव जुंग ने स्वीकार किया है कि जब भारतीय मनीषा के इस सत्य को हम पहले कभी स्वीकार नहीं कर पाए थे कि स्वप्न का भी कोई मूल्य हो सकता है, फिर हमें वह स्वीकार कर लेना पड़ा। फिर हमें कभी ख्याल भी नहीं था कि निद्रा का भी कोई मूल्य हो सकता है, वह भी हमें स्वीकार कर लेना पड़ा। ज्यादा देर नहीं लगेगी, कि जिनके तीन चरण हमें स्वीकार कर लेने पड़े, उनके चौथे चरण को भी हमें स्वीकार करना पड़े। क्योंकि जो तीन तक सही निकले हैं, कोई कारण नहीं मालूम होता कि वे चौथे पर क्यों सही न हों। और जब इतने तक वे सही निकले हैं, तो चौथे पर सही होने की संभावना गहन हो जाती है और गलत कहने की हिम्मत क्षीण हो जाती है।
यह ऋषि कह रहा है कि वह जो ब्रह्म है, तुरीय, वह जो चौथी अवस्था है, वही संन्यासी का यज्ञोपवीत है। वह उस चौथी अवस्था को ही अपने गले में डालकर जीता है। वही उसकी शिखा है। इससे कम, इससे कम पर संन्यासी राजी नहीं है। यज्ञोपवीत ही डालना है, तो वह तुरीय अवस्था का डाल लेगा। वह तीनों के पार हट जाएगा और अपने को चौथे के साथ एक कर लेगा।
इसे थोड़ा प्रयोग करेंगे तो ही ख्याल में आ सकेगा कि यह कैसा यज्ञोपवीत है।
जब जागें तब ऐसा मत समझें कि मैं जाग रहा हूं, तब ऐसा ही समझें कि जागरण मेरे ऊपर आया, मैं देख रहा हूं। बी ए विटनेस टु इट। साक्षी हों, एक मत हो जाएं। अगर आप दिनभर जागकर यह साक्षीभाव रख सकें कि यह जागरण भी एक स्थान है, जहां मैंने पड़ाव डाला, मैं यात्री हूं, यह स्थान है, पड़ाव है, तो धीरे-धीरे आप स्वप्न में भी यह स्मरण रख पाएंगे कि स्वप्न भी एक पड़ाव है और मैं एक यात्री हूं। और फिर निद्रा में भी इस साक्षीभाव का प्रवेश किया जा सकता है। तब आप यह भी जान पाएंगे कि निद्रा मुझ पर आती और जाती है, मैं पृथक हूं। और जब आप तीनों से अपने को पृथक जान पाएंगे, तभी वह यज्ञोपवीत आपके गले में पड़ता है, जो तुरीय ब्रह्म का है।
लेकिन हम, जो हमारे ऊपर आता है, उसी के साथ एक हो जाते हैं। जो लहर हमें पकड़ लेती है, हम उसी के साथ एक, हम उसी से रंग जाते हैं। भूल ही जाते हैं कि रंग हमारे ऊपर पड़ा, हम रंग से पृथक हैं। जुड़ जाते हैं तत्काल।
हमारी हालत ऐसी है, जैसी कि फोटो प्लेट की होती है। कैमरे के भीतर जो फोटो प्लेट है या फोटो फिल्म है, हमारी हालत वैसी है। जरा सा झांक लेती है कैमरे के बाहर, जो दिख जाता है, उसी को पकड़ लेती है। जरा, सेकेंड के भी छोटे से हिस्से के लिए कैमरे का पर्दा हटता है, आंख खुलती है; और वह जो भीतर छिपी

फोटो प्लेट है, वह जो भी बाहर दिख जाता है--दरख्त तो दरख्त, झील तो झील, आदमी तो आदमी--जो भी दिख जाता है, उसे पकड़ लेती है। उसी के साथ एक हो जाती है। इसीलिए तो फोटो उतर पाता है, नहीं तो फोटो नहीं उतर पाएगा। फिर आप तस्वीर लिए फिरते हैं और कहते हैं, झील की तस्वीर है। झील की तस्वीर है माना, लेकिन यह जो फिल्म का टुकड़ा है, यह बड़ी भ्रांति में पड़ गया। यह जो था, वह न रहा; और जो यह नहीं है, उसको पकड़ लिया।
संन्यासी जीता है दर्पण की भांति, फोटो प्लेट की भांति नहीं। दर्पण
के सामने जो भी आता है, दिखाई पड़ता है; हट जाता है, हट जाता है; दर्पण फिर खाली हो जाता है। दर्पण पकड़ता नहीं, रिफ्लेक्ट जरूर करता है। प्रतिबिंब जरूर बनाता है, लेकिन पकड़ता नहीं। सब तस्वीरें फिसलकर नीचे गिर जाती हैं और दर्पण अपने स्वभाव में थिर रहता है।
इसीलिए दर्पण एक ही को देखकर खराब नहीं होता, फोटो प्लेट एक को ही देखकर खबर हो जाती है। दर्पण हजार को भी देखकर निर्मल बना रहता है। पकड़ता ही नहीं, तो विकृत होने का कोई सवाल नहीं है।
हम भी फोटो प्लेट की तरह हैं। जो भी सामने आ जाता है, उसी को पकड़ लेते हैं। जागरण होता है तो समझ लेते हैं कि मैं जागरण, स्वप्न होता है तो समझ लेते हैं कि मैं स्वप्न, निद्रा होती है तो समझ लेते हैं कि मैं निद्रा, जन्म होता है तो समझ लेते हैं कि मैं जीवन, मृत्यु होती है तो समझ लेते हैं कि मैं मुर्दा। बस ऐसे ही चलते हैं। जो भी, वह पकड़ लेते हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन एक मरघट के करीब से गुजर रहा है। सांझ हो गई है और
डर उसे लग रहा है। गांव अभी दूर है। तभी उसने देखा कि दूर से कुछ लोग चले आ रहे हैं, बैंड-बाजे हैं। वह डरा और भी, कोई लुटेरे तो नहीं हैं! दीवार थी मरघट की, छलांग लगाकर उस तरफ चला गया कि छिप जाए। नई कोई कब्र खुदी थी, अभी आया तो नहीं था मेहमान उस कब्र का। सोचकर कि इसमें लेट जाए, यह भीड़-भाड़ निकल जाए उपद्रवियों की जो बाहर से गुजर रहे हैं, फिर अपने घर लौट जाएगा, उसमें लेट गया। रात सर्द थी, थोड़ी देर में हाथ-पैर ठंडे होने लगे। किताब में पढ़ा था उसने कि आदमी जब मरता है, तो हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं। सोचा कि गए। मर गए। जब सोचा कि मर गए, तो हाथ-पैर और ठंडे होने लगे।
तभी उसे ख्याल आया, लेकिन अभी सांझ का भोजन नहीं किया। कम से कम भोजन
तो कर ही लेना चाहिए मरने के पहले। तो वह उचककर कब्र के बाहर निकला। दीवार कूदकर अपने घर की तरफ भागता था, तो वहां वह जो यात्री दल आया था, उसने अपने ऊंट बांधे थे, वह विश्राम की तैयारी कर रहा था। उसके कूदने से ऊंट भड़क गए, भगदड़ मच गई, लोगों ने उसकी पिटाई की।
पिटा-कुटा घर पहुंचा। पत्नी ने कहा, बड़ी देर लगाई, कहां रहे? मुल्ला
ने कहा, यह कहो किसी तरह लौट आए। मर गए थे। पत्नी मन में तो हंसी, फिर भी उसने जिज्ञासावश पूछा कि मर गए थे, मरने का अनुभव कैसा हुआ! मुल्ला ने कहा, मरने में तो कोई तकलीफ नहीं, अनलेस यू डिस्टर्ब देअर कैमल्स। जब तक उनके ऊंटों को तुम गड़बड़ मत करो, तब तक तो बड़ा शांत। लेकिन ऊंट गड़बड़ करो कि सब गड़बड़, बड़ी पिटाई होती है। तो अगर तू मरे, तो एक बात का ध्यान रखना, मुल्ला ने अपनी पत्नी से कहा कि ऊंट भर गड़बड़ मत करना। मौत में तो कोई खतरा ही नहीं है। हम पूरा अनुभव करके आए, कब्र में लेटकर आ रहे हैं। वह तो हम लौटते भी नहीं, लेकिन सांझ का खाना नहीं लिया था, इसलिए लौट आए। तो एक ध्यान रखना सदा, ऊंट कभी गड़बड़ मत करना।
अप्रासंगिक जो है, इरेलेवेंट जो है, जिसकी कोई संगति भी जीवन की धारा
से नहीं है, वह भी पकड़ जाता है। और हमारे भीतर कॉ.ज और अफेक्ट बन जाता है। ऐसा लगता है कि कार्य-कारण का संबंध है। ऊंट का और मौत से कोई लेना-देना नहीं, लेकिन सिलसिला तो है। मुल्ला ने जिसे मृत्यु समझी उसी के बाद ऊंट गड़बड़ हुए और वह पिटा। मन ने सब पकड़ लिया और सबका तादात्म्य हो गया। सब इकट्ठा जुड़ गया। जिंदगीभर हम इसी तरह की चीजें जोड़े चले जाते हैं, जोड़े चले जाते हैं। आखिर में यह जो संघट हमारे पास इकट्ठा हो जाता है, यह जो लंबी फिल्म इकट्ठी हो जाती है, इसमें दर्पण जैसा कुछ भी नहीं होता। सब गंदा होता है, सब बिगड़ गया होता है, सब पर धूल जम गई होती है।
इस धूल से भरे हुए मन के साथ हम तुरीय को न जान सकेंगे। वह जो चौथी अवस्था है, वही जान जाएगा, जो दर्पण की तरह रहने में समर्थ है और जो

प्रतिपल अपने दर्पण को साफ करता रहता है और पोंछता रहता है और धूल को जमने नहीं देता। जो किसी चीज को अपने दर्पण पर नहीं जमने देता, हमेशा झाड़-पोंछकर दर्पण को साफ रखता है, तो निश्चित ही धीरे-धीरे तीन के पार चौथे का अनुभव शुरू हो जाता है। वही, वही दर्पण की चेतना वाला व्यक्ति संन्यासी है, जिसने चौथे को जाना है।
हमें तो सपने में भी याद नहीं रहता कि हम अलग हैं। सपने के साथ एक हो जाते हैं। इतने एक हो जाते हैं, जिसका हिसाब नहीं है। सपने में आपको कभी याद नहीं रहता कि आप कौन हैं। सपने में यह भी पता नहीं रहता कि यह जो मैं कर रहा हूं, यह मैंने जागने में किया होता! सपने में असंगति भी दिखाई नहीं पड़ती। एक मित्र चला आ रहा है और अचानक आप देखते हैं कि मित्र घोड़ा हो गया, तो भी आपके मन में यह सवाल नहीं उठता कि यह आदमी एकदम से घोड़ा कैसे हो गया! सपने में यह भी स्वीकार हो जाता है। एक क्षण को झपकी लगती है, वर्षों के सपने देख लेते हैं। आंख खुलती है, घड़ी में क्षण ही बीता होता है, लेकिन सपने में वर्ष-वर्ष बीत गए मालूम होते हैं। सपने में याद नहीं रह जाता आपको उसका, जो आप जागे हुए थे। वह द्वार बंद हो गया।
कंपार्टमेंट्स हैं। जागने के बाद जैसे ही आप सपने में गए, जागने का द्वार बंद हो गया। जागने के सब तर्क, जागने की सब विचारधारा, सब समाप्त हो गई। स्वप्न की दूसरी दुनिया शुरू हुई। अब आप उससे आइडेंटीफाई हो जाते हैं, उसके साथ एक हो जाते हैं। अब आप एक दूसरी दुनिया के साथ एक हैं। वह दुनिया मिट गई।
अगर आप राजा थे, तो भिखारी हो सकते हैं सपने में, इससे कोई अड़चन न आएगी। और अगर रंक थे, तो राजा भी हो सकते हैं सपने में, इससे भी कोई अड़चन न आएगी। कोई कोना चेतना का यह न कहता हुआ मालूम पड़ेगा कि मैं तो राजा था जागकर, यह भिखारी कैसे हो गया! यह नहीं हो सकता। नहीं, याद ही नहीं आएगा। वह द्वार बंद हो गया। वह स्मृति का पर्दा गिर गया। वह नाटक का अंक समाप्त हुआ। यह दूसरी बात शुरू हो गई। अब आप इसमें ही एक हो गए।
फिर यह सपना भी छूट जाता है। गहरी नींद आ जाती है। तब तीसरी दुनिया में आप प्रवेश कर जाते हैं। गहरी निद्रा में जो होता है, वह आपको कुछ भी याद नहीं रह जाता। सपने में भी जो होता है, वह भी पूरा याद नहीं रह जाता। बहुत आंशिक, एक या दो प्रतिशत। वह भी दस-पंद्रह मिनट से ज्यादा याद नहीं रहता सुबह जागने के बाद। थोड़ी सी ओवरलैपिंग हो जाती है। आखिरी सपना सुबह जो चलता होता है, उसकी थोड़ी सी आवाज गूंजती रह जाती है और जागना हो जाता है। तो थोड़ी सी याददाश्त रह जाती है।
इसलिए जो सपने आप सुबह लोगों को बताते हैं कि आपने देखे, बहुत भरोसे
से मत बताना कि आपने देखे। बहुत सा तो उसमें आपने सोच लिया बाद में, जो देखा नहीं था। बहुत सा आप भूल गए, जो देखा था। इसलिए सुबह सपने बहुत ही ऐसे मालूम पड़ते हैं कि ये कैसे हो सकते हैं! उनके बहुत से हिस्से छूट गए, भूल गए, स्मृति के बाहर हो गए।
असल में ड्रीम मेमोरी अलग है, आपके भीतर स्वप्न की स्मृति अलग इकट्ठी होती है। जागने की स्मृति अलग इकट्ठी होती है। निद्रा की स्मृति अलग इकट्ठी होती है। और तीनों स्मृतियों का बहुत बाउंड्री पर ही, सीमांत पर ही मिलन होता है, अन्यथा कोई मिलन नहीं होता है। आपको गहरी नींद के बाद इतना ही याद रह जाता है कि खूब अच्छी नींद आई, और कुछ याद नहीं रह जाता।
लेकिन जो इन तीन खंडों से गुजरता है, वह चौथा? उसकी तो हमें बिल्कुल ही स्मृति नहीं है। उसका तो हमें कोई ख्याल ही नहीं है।
उसका ख्याल इसीलिए नहीं है कि जब भी जो हमारे सामने होता है, उसी के साथ हम एक हो गए होते हैं। उसकी स्मृति तो तभी आएगी, कि जो हमारे सामने हो, उसके साथ हम अपनी पृथकता को कायम रख पाएं। तो जो भी देखें, जो भी जानें, जो भी अनुभव करें, उसके साथ एक दूरी को बनाए रखें, तो यह संन्यास की स्थिति कभी अनुभव में आएगी, जहां तुरीय ब्रह्म ही यज्ञोपवीत, तुरीय ब्रह्म ही शिखा हो जाता है।
ऋषि ने कहा है, चैतन्यमय होकर संसार-त्याग ही दंड है।
चैतन्यमय होकर संसार-त्याग! क्रोध में भी संसार का त्याग होता है, दुख में भी संसार का त्याग होता है, चिंता में भी संसार का त्याग होता है,

लेकिन वह संन्यास नहीं है। आपका दिवाला निकल गया है, बैंक्रप्ट हो गए हैं, संन्यास का मन होने लगता है कि संन्यास ही ले लें, संसार में कोई सार नहीं। कल तक बिल्कुल सार था। और बैंक्रप्ट होने से संसार का सार कैसे सूख गया, कुछ समझ में आता नहीं। क्योंकि आपके बैंक्रप्ट होने या न होने पर संसार के रस की कोई निर्भरता नहीं है। फूल अब भी वैसे ही खिल रहे हैं, सूरज अब भी वैसा ही चल रहा है, जिंदगी अपना गीत अब भी वैसे ही गाए जाती है, नाच-रंग सब वैसा ही चल रहा है, सिर्फ आप दिवालिया हो गए हैं, तो आपको बड़ा विरस हो गया है।
रामकृष्ण कहा करते थे कि एक आदमी काली की पूजा के अवसर पर सैकड़ों बकरे कटवाता था, बड़ी पूजा करवाता था। फिर पूजा धीरे-धीरे उसने बंद कर दी। काली की पूजा के दिन अब भी आते, लेकिन उत्सव उसने समाप्त कर दिया। रामकृष्ण ने एक दिन उससे पूछा कि बात क्या है? उसने कहा, अब दांत ही न रहे! तो रामकृष्ण ने कहा कि वह काली की पूजा चलती थी कि दांतों की? रामकृष्ण ने पूछा कि वह पूजा किसकी चलती थी? वह इतने बकरे कटते थे! हम तो यही समझे कि काली के लिए कटते हैं। उसने कहा, आप बिल्कुल गलत समझे। काली तो सिर्फ बहाना थी, कटते तो अपने ही लिए थे। अब दांत ही न रहे।
आपके दांतों के साथ सारी दुनिया बदल जाती है। संन्यास नहीं है लेकिन वह, वह तो केवल शिथिलता है। वह तो खंडहर हो जाना है। वह तो केवल हार जाना है, पराजित हो जाना है। वह तो जिंदगी ने खुद ही आपसे छीन लिया सब। संन्यास त्याग है और जब जिंदगी ही छीन लेती है, तब त्याग का क्या सवाल है? आप खुद ही बैंक्रप्ट हैं। जिंदगी ने आपको दिवालिया कर दिया। अब आप त्याग की बातें करें, बेमानी है। अब कोई अर्थ नहीं है। लेकिन आदमी होशियार है।
मुल्ला नसरुद्दीन एक बैलगाड़ी में बैठकर किसी गांव के पास से गुजर रहा है। साथ में उसका मित्र है, वह भी दुकानदार है। डाकुओं ने हमला कर दिया। मुल्ला ने कहा, एक मिनट रुको। खीसे से रुपए निकाले, अपने साथी को कहा कि ये पांच हजार रुपए तुझे मुझे देने थे, ले। हिसाब पूरा हो गया। डाकुओं से कहा, अब जो तुम्हें करना है, करो। अब कोई डर न रहा।
छिनने का भी मौका आ जाए, छिन जाने का भी मौका आ जाए, तो भी हम कोशिश करते हैं कि जैसे त्याग कर रहे हैं। लुट जाने का क्षण आ जाए, तो भी हम ऐसा दिखावा करते हैं कि हम लुटे नहीं, दान कर दिया है।
नहीं, ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर जिन्होंने संसार को छोड़ा। चैतन्यमय होकर! दुखमय होकर नहीं, क्रोध से भरकर नहीं, परेशान-पीड़ित होकर नहीं, पूरे आनंदभाव से; लेकिन होश से जब उन्होंने देखा जिंदगी को कि वह बेकार है। यह बेकार होना किसी बाहरी कारण से नहीं, भीतरी बोध से।
यह बेकार होना दो तरह से हो सकता है। बहुत लोग कहते सुने जाते हैं कि
धन में क्या रखा है! लेकिन अक्सर ये वे ही लोग होते हैं, जिनके पास धन नहीं होता। इनकी बात का कोई भी बहुत अर्थ नहीं है। यह मन का समझाना है, कंसोलेशन है। यह बार-बार इनका कहना कि धन में क्या रखा है! और धन इनके पास है नहीं, इन्हें धन का पता भी शायद कुछ नहीं है। शायद धन में कुछ नहीं रखा है, ऐसा बार-बार कहकर अपने को भरोसा दिला रहे हैं कि अपन कुछ चूक नहीं रहे, अगर धन अपने पास नहीं है।
नहीं, जब किसी के पास धन है और वह कहता है, धन में क्या रखा है, तब इस बात के आमूल अर्थ बदल जाते हैं। आमूल ही अर्थ बदल जाते हैं। परिस्थिति प्रतिकूल हो, तब जो त्याग होता है, वह त्याग सम्यक त्याग नहीं है। परिस्थिति जब बिल्कुल अनुकूल हो, तब जो त्याग होता है, वह सम्यक त्याग है। संसार को जिन्होंने पीड़ित होकर छोड़ दिया है, वे संसार से बंधे ही रह जाते हैं। क्योंकि जिससे हमें पीड़ा मिल सकती थी, अभी हम उसका त्याग नहीं कर सकते हैं।
इसे थोड़ा समझना पड़े। जिससे हमें पी.ड़ा मिल सकती थी, वह मिलती ही इसीलिए थी कि हमें अब भी उससे सुख पाने की अपेक्षा थी। अन्यथा पीड़ा का कोई कारण न था। इसीलिए जो जानता है, वह यह नहीं कहता कि संसार दुख है; वह कहता है, संसार असार है। इन दोनों में बड़ा फर्क है। वह यह नहीं कहता कि दुख है; वह कहता है, दुख के योग्य भी नहीं है। क्योंकि जिससे सुख मिल ही नहीं सकता,

उसे दुख कहने का क्या अर्थ है। जिससे सुख मिलने की आशा बंधी है और नहीं मिलता, उससे लगता है कि दुख मिला।
जो जानता है, भीतर बोध जिसका जगता है, चैतन्यमय हो जाता है, वह देखता है, संसार असार है। इतना भी सार नहीं कि वह दुख दे सके--टोटली मीनिंगलेस। इतना भी अर्थ नहीं उसमें, दुख देने जैसा। क्योंकि जो दुख दे सकता है, वह सुख क्यों नहीं दे सकता!
जिससे दुख मिल सकता है, उससे कम दुख भी मिल सकता है, ज्यादा दुख भी मिल सकता है। जिससे दुख मिल सकता है, उससे सुख क्यों नहीं मिल सकता! क्योंकि कम दुख, और कम दुख, और कम दुख सुख हो जाता है। और कम सुख, और कम सुख, और कम सुख दुख हो जाता है। तारतम्यताएं हैं, डिग्री.ज हैं। पानी को थोड़ा और कम ठंडा करो, गर्म हो जाता है। पानी को थोड़ा और कम गर्म करो, ठंडा हो जाता है। गर्मी और सर्दी कोई शत्रु नहीं मालूम होते, तारतम्यताएं, डिग्री.ज मालूम होते हैं। सुख-दुख भी ऐसे ही हैं
अगर कोई कहता है, संसार से बहुत दुख मिलता है इसलिए छोड़ दो, तो गलत कहता है। क्योंकि बहुत दुख जिससे मिलता है, उससे सुख मिल क्यों नहीं सकता! कोई कारण नहीं है। जिससे दुख मिल सकता है, उससे सुख मिल सकता है। क्योंकि जिससे सुख मिल सकता है, उससे दुख मिल सकता है। असल में सुख की आशा जहां है, वहीं दुख मिलता है। दुख मिलता ही इसलिए है कि उससे पहले सुख की आशा खड़ी थी। नहीं, संसार असार है--जस्ट मीनिंगलेस। दुख भी नहीं है वहां, सुख भी नहीं है वहां। वहां कुछ है ही नहीं। वहां जो भी हम देखते हैं, वह हमारा ही डाला हुआ है। वहां जो भी हम पाते हैं, वह हमारी ही देन है। वह हमने ही दिया है। संसार से जो भी हम पाते हैं, वह हमारी ही प्रतिध्वनि है।
इसलिए दुख के कारण जो छोड़ दे--प्रियजन मर गया हो, कि प्रियजन न मिल पाया हो, कि प्रियजन प्रिय सिद्ध न हुआ हो, वह आदमी संसार छोड़ दे--उसका छोड़ना स्युसाइडल है; रिनंसिएशन नहीं, त्याग नहीं, आत्मघात है। आत्मघात जैसा है। जब धन नहीं होता, तो आदमी आत्महत्या करने की सोचने लगता है। प्रियजन बिछुड़ जाए, तो आत्महत्या की सोचने लगता है। प्रियजन प्रियजन सिद्ध न हो, तो आत्महत्या की सोचने लगता है। यश खो जाए, तो आत्महत्या की सोचने लगता है।
इसलिए एक बहुत मजे की बात है कि जिन मुल्कों में संन्यासी ज्यादा होते हैं, उन मुल्कों में आत्महत्या की संख्या कम होती है। और जिन मुल्कों में संन्यासी कम होते हैं, उन मुल्कों में आत्महत्या की संख्या ज्यादा होती है। और दोनों का मिलाकर अनुपात सदा बराबर होता है।
अमरीका तब तक अपनी आत्महत्याएं कम न कर पाएगा, जब तक कि वह संन्यास को
न फैलाए। झूठा सही, झूठा संन्यास भी आत्महत्या से तो रोक लेता है, क्योंकि विकल्प बन जाता है, आल्टरनेट। संन्यास लेने से भी आत्महत्या घटित हो जाती है। दुख है, परेशानी है, एक आदमी ने संन्यास ले लिया; मरने से भी बचे, संसार से भी बचे, बचे भी रहे।
लेकिन ऋषि कहता है, सम्यक संन्यास बाह्य कारणों से नहीं, आंतरिक आविर्भाव, चैतन्य सेहोता है।
एक तो है बाहर की वस्तुओं से मिले हुए दुख के कारण आदमी सोचने लगता है। और ऐसा आदमी खोजना कठिन है जिसने कभी संन्यास के बाबत न सोचा हो। ऐसा आदमी ही खोजना कठिन है, जिसने कभी आत्महत्या के बाबत न सोचा हो। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम जो-जो सोचते हैं, अगर करने लगें--जैसा कि कुछ लोग समझाते हैं कि जैसा विचार, वैसा आचरण--तो एक-एक आदमी को जिंदगी में कम से कम चार-चार दफे आत्महत्या करनी पड़े। यह हो तो नहीं सकता, क्योंकि एक ही दफे में खतम हो जाएगा। लेकिन अगर इसका कोई उपाय हो, तो एक-एक आदमी कम से कम, कम से कम, एवरेज, चार दफे आत्महत्या करे। जीवन तो रोज ऐसे मौके खड़े कर देता है, जब मन होता है कि खतम हो जाओ। वह तो और भी कमजोरियां हैं जो बचा लेती हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन अपने कमरे में फांसी लगा रहे थे। पत्नी ने झांककर देखा और कहा कि नसरुद्दीन क्या कर रहे हो, यह क्या कर रहे हो? खड़े थे मेज पर। ऊपर रस्सी बंधी थी, कमर से रस्सी बंधी थी। पत्नी ने पूछा, यह क्या कर रहे हो? मुल्ला ने कहा, आत्महत्या कर रहे हैं। तो पत्नी ने कहा, लेकिन कमर

में रस्सी? मुल्ला ने कहा, गले में बांधी तो बहुत सफोकेशन मालूम हुआ। पहले गले में बांधकर देखी थी, बहुत घबराहट होने लगी, इसलिए मैंने कमर में बांधी।
मरने के तो बहुत मौके आ जाते हैं, लेकिन सफोकेशन मालूम होता है। आदमी कमर में बांधकर निपटा देता है मौके। क्षणजीवी होते हैं भाव। फिर वापस खड़े हो जाते हैं अपनी दुनिया में। फिर सम्हल जाते हैं। फिर चलने लगते हैं।
दो बातें हैं। एक तो आब्जेक्टिव रिनंसिएशन होता है, और एक सब्जेक्टिव रिनंसिएशन। एक तो त्याग है जो वस्तुगत होता है, और एक त्याग है जो आत्मगत होता है। वस्तुगत त्याग वस्तु से हुई पीड़ा के कारण होता है। आत्मगत त्याग चैतन्य के बढ़ जाने के कारण होता है। इसलिए जो त्याग ध्यान के परिणामस्वरूप आता है, उसके अतिरिक्त और कोई त्याग त्याग नहीं है। क्योंकि ध्यान अकेली कीमिया है, जिससे आपकी चेतना बढ़ती है। ध्यान तेल है, जिससे भीतर की चेतना की ज्योति बड़ी और प्रखर होती है। ध्यान ईंधन है, जिससे भीतर की चेतना जगती है और आंदोलित होती है।
चेतना भीतर बढ़ती है, तो जगत असार मालूम पड़ता है। अगर वस्तुओं के कारण आदमी त्याग की सोचता है, तो जगत दुखपूर्ण मालूम पड़ता है, पीड़ादाई मालूम पड़ता है। जगत शत्रु मालूम पड़ता है। जगत को छोड़ देने से सुख मिलेगा, ऐसा मालूम पड़ता है। लेकिन चैतन्य भीतर जगता है, तो जगत असार है। न उसे पकड़ने से सुख का कोई संबंध है, न उसे छोड़ने से सुख का कोई संबंध है।
हां, जगत चित्त से गिर जाए तो चित्त खाली हो जाता है--परमात्मा को झेलने और सम्हालने और देखने और पाने के लिए। भरा हुआ चित्त कैसे उसे जाने! जगह भी चाहिए भीतर, स्पेस चाहिए।
इतने बड़े मेहमान को बुलाते हैं, परमात्मा को, भीतर जगह नहीं, वहां कूड़ा-कबाड़ भरा हुआ है। वहां रत्तीभर जगह नहीं। परमात्मा कई दफे आपकी पुकार सुनकर चारों तरफ चक्कर लगाकर लौट जाता है। देखता है भीतर, भीतर कोई कबाड़ी की दुकान है! भीतर जगह ही नहीं है। आप खुद ही अपने भीतर घुसें, तो पता चलेगा। कितनी ही कोशिश करें, भीतर आप न पहुंच पाएंगे। इतना सब कचरा इकट्ठा किया हुआ है वहां कि वहां भीतर जगह भी तो चाहिए गति के लिए कोई।
इसीलिए तो आदमी बाहर रहता है। अपने दरवाजे पर गुजार देता है जिंदगी। क्योंकि भीतर जाए कौन, झंझट में पड़े कौन! और बाहर से सब कचरे को इकट्ठा करके भीतर डालता रहता है। खुद बाहर बैठा रहता है, कचरे को भीतर डालता रहता है। हिम्मत ही नहीं होती पीछे लौटकर देखने की भीतर।
जो लोग ध्यान में उतरना शुरू करते हैं, वे बहुत घबराते हैं। वे कहते हैं, हम अपने भीतर ऐसी चीजें देख रहे हैं, जो हमने सोची भी नहीं थीं कि हमारे भीतर हो सकती हैं। हैं ही, सोची नहीं थीं, भलीभांति जानते थे। आपने ही डालीं, क्योंकि वहां कुछ ऐसा नहीं हो सकता जो आपके बिना डाले हो। यह बात दूसरी है कि डाले बहुत देर हो गई हो, जन्म-जन्म हो गए हों। डाली आपने ही हैं। अभी भी डाल रहे हैं। अभी भी डाल रहे हैं।
अगर कोई आदमी किसी की निंदा सुनाने लगे तो चेतना ऐसी सजग हो जाती है, जीवन में रस आ जाता है, कान फैल जाते हैं, सजग हो जाते हैं, फिर बैंड-बाजे भी बजते रहें दुनिया में, वह सुनाई नहीं पड़ते। और वह आदमी फुसफुसाकर बोले, तो भी सुनाई पड़ता है।
मुल्ला नसरुद्दीन तो कहता था कि अगर ज्यादा लोगों को सुनवाना हो बात,
तो कान में फुसफुसाकर बोलो, तो ज्यादा लोग सुनेंगे ही। जब तुम फुसफुसाते हो, तो दूसरा आदमी समझता है, जरूर कोई उपद्रव की बात आ रही है, सुनने जैसी है।
हम चारों तरफ से कचरा इकट्ठा करते हैं, बटोरते हैं। अगर कोई हीरा देने आए, तो हम मानेंगे नहीं कि यह हीरा है। हम कहेंगे, ले जाओ, नासमझ समझा है हमें? कोई ऐसा हीरा देने आता है? कोई कचरा देने आए, तो हमारी बांहें फैली हैं, हम बिल्कुल तैयार हैं।
हम सब एक-दूसरे के मन में कचरा डालते रहते हैं हजार-हजार उपाय से। पैसा भी खर्च करके आदमी अपने भीतर कचरे का इंतजाम करवाता है। कभी फिल्म देखता है, कभी कोई डिटेक्टिव नावेल पढ़ता है। न मालूम क्या-क्या आदमी करता

है और किस-किस तरह से कचरा बटोरता है! अगर हम उसके कचरे बटोरने के श्रम का हिसाब रखें, तो कहना पड़ेगा कि आदमी एक चमत्कार है।
फिर भीतर जाने को जगह नहीं मिलती। और हम परमात्मा को बुलाते हैं, बहुत कठिन हो जाता है। भीतर जाना हो, तो भीतर खाली होना जरूरी है। और खाली वही हो सकता है, जो संसार को अपने भीतर प्रवेश न करने दे।
संन्यासी का सूत्र आपसे कहता हूं। संन्यासी भी संसार में रहता है और गृहस्थ भी संसार में रहता है। लेकिन एक बात में फर्क है। संन्यासी संसार में रहता है, लेकिन संसार संन्यासी में नहीं रहता। गृहस्थ भी संसार में रहता है, लेकिन संसार भी गृहस्थ में रहता है। अपने भीतर भरता चला जाता है सब। संन्यासी घूमता है, इन्हीं रास्तों पर चलता है, इन्हीं रास्तों पर बुद्ध गुजरते हैं, लेकिन इन रास्तों की धूल उन्हें नहीं छूती। इन्हीं बाजारों से महावीर भी गुजरते हैं, लेकिन बाजारों की ध्वनियां उनके कानों में प्रवेश नहीं करतीं।
झेन फकीर लिंची कहता था, जिस दिन तुम पानी में चलो और पानी तुम्हें न
छू पाए, समझना कि तुम संन्यासी हो गए। इसीलिए कहता था कि संसार में चलो और संसार तुम्हें न छू पाए, तुम्हारे भीतर प्रवेश न कर पाए।
ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर जो संसार का त्याग करते हैं।
जिनके भीतर बोध इतना जग जाता है कि उस बोध के कारण जो कचरा है वह कचरा दिखाई पड़ने लगता है, फिर उसे सम्हालने की जरूरत नहीं रह जाती, हाथ से छूट जाता है और गिर जाता है। त्याग किया नहीं जाता, त्याग हो जाता है ज्ञान में। अज्ञानी त्याग करता है। ज्ञानी से त्याग होता है। इट जस्ट हैपेन्स विदाउट एनी एफर्ट। बिना किसी प्रयत्न के घटित होता है।
बुद्ध घर छोड़कर जा रहे हैं। उनका सारथी उनसे कहता है, ऐसा सुंदर महल, ऐसी प्रीतिकर पत्नी, नवजात शिशु, ऐसा साम्राज्य, सब सुख-सुविधाएं छोड़कर कहां जाते हो तुम? लौट चलो। तो बुद्ध ने कहा है, लौटकर पीछे देखता हूं, मुझे कोई महल दिखाई नहीं पड़ता, सिर्फ आग की लपटें दिखाई पड़ती हैं। लौटकर पीछे देखता हूं, मुझे कोई सुंदर प्रीतिकर पत्नी दिखाई नहीं पड़ती, सिर्फ अपने ही मोह का फैलाव मालूम पड़ता है। मुझे कोई साम्राज्य दिखाई नहीं पड़ता, सिर्फ भविष्य में हो जाने वाले खंडहर दिखाई पड़ते हैं।
तो बुद्ध त्याग करके नहीं जा रहे हैं, क्योंकि जिसे लपटें दिखाई पड़ रही हों महल में, उसे त्याग नहीं करना पड़ता, त्याग हो जाता है। आपसे भी हो जाए, अगर लपटें दिखाई पड़ें।
आपके घर में आग लग जाए, फिर आप घर का त्याग करते हैं? फिर ऐसे भागते हैं कि घर कहीं पकड़ न ले। कहीं रोक ही न ले कि जरा ठहरो! इतने दिन साथ दिया, कहां जाते हो? द्वार-दरवाजे बंद न कर दे घर। वह तो घर को आपसे कोई लगाव नहीं है, नहीं तो आग लग जाए, तो निकलने न दे बाहर कि अब जाते कहां हो! साथी का पता तो दुख में ही पड़ता है। अब मौका आया तो भाग रहे हो। यही तो अवसर है, पलायन करते हो, एस्केपिस्ट हो? रुको! तो घर को आपसे कोई मोह नहीं है। वह बड़ा प्रसन्न होता है कि चलो, मौका मिला, यह सज्जन गए। लेकिन आग लगी हो, तो फिर आपको छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है।
अब जिसे संसार में ही व्यर्थता की, असारता की आग लगी दिखाई पड़े, उसे छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर संसार का त्याग ही उनके हाथ की लकड़ी है, उनका दंड है। ब्रह्म का नित्य दर्शन ही उनका कमंडलु है। यह प्रतीक कह रहा है।
ब्रह्म का नित्य दर्शन ही उनका कमंडलु है और कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उनकी झोली है।
इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। कर्मों को निर्मूल कर डालना। कर्म पकड़ते हैं इसलिए कि हमें भ्रांति है कि हम कर्ता हैं। अगर कोई सोचता हो कि मैं कर्मों को निर्मूल कर दूंगा, तो वह निर्मूल करने के नए कर्म का बंध करेगा। कर्म बंधते इसलिए हैं कि मुझे ख्याल है मैं कर्ता हूं। मैंने चोरी की, मैंने दान दिया। मैंने यह किया, मैंने वह किया। यह जो मैं हूं पीछे, मैं कर्ता हूं, ऐसा जो भाव है, वह कर्मों को मुझसे जोड़ता चला जाता है। जन्मों-जन्मों में न मालूम कितने कर्म का भाव हमारे भीतर इकट्ठा हो जाता है। हम बड़े कर्ता हो जाते हैं। जब कि कर्ता सिवाय परमात्मा के और कोई

भी नहीं है। तो हम झूठ ही कर्ता होने का ख्याल अपने भीतर बना लेते हैं। फिर सब कर्मों को सम्हालकर रखते हैं, लेखा-जोखा रखते हैं। क्या-क्या मैंने किया, क्या-क्या मैंने किया। वही हमारे चारों तरफ भीड़ इकट्ठी हो जाती है। वही हमारे भीतर भर जाता है कूड़ा-कबाड़। उसकी वजह से जीवन के सत्य का अनुभव नहीं हो पाता, प्रभु का नित्य दर्शन नहीं हो पाता।
कैसे कटेंगे ये कर्म? यह ऋषि क्या कहता है? ये कर्म कैसे कटेंगे? ये
कट जाते हैं एक क्षण में। अगर इतना ही स्मरणपूर्वक अपने भीतर कोई सजग हो जाए कि मैं अपने कर्मों का कर्ता नहीं, सब कर्म परमात्मा के हैं। मैं केवल उसके हाथ की बांसुरी हूं। स्वर उसके हैं, गीत उसके हैं, मैं सिर्फ बांस की पोंगरी हूं।
कबीर ने कहा है कि जिस दिन यह जाना कि मैं बांस की पोंगरी हूं, उसी दिन झंझट कट गई। अब वह जाने, उसकी झंझट जाने। अपना कोई लेना-देना न रहा।
मरने लगे कबीर तो काशी छोड़कर चले गए। काशी लोग मरने आते हैं। मरे मराए लोग काशी मरने आते हैं। ख्याल है कि काशी में जो मरता है, वह स्वर्ग में जन्म लेता है। काशी के पास एक छोटा सा गांव है, मगहर। कि जो मगहर में मरता है, वह गधा होता है नर्क में। कबीर मरते वक्त मगहर चले गए। बहुत समझाया मित्रों ने, प्रियजनों ने, शिष्यों ने कि क्या करते हैं, मगहर में कोई मरता ही नहीं! मगहर में आदमी मर भी जाए, तो उसके रिश्तेदार उसे लेकर भागते हैं कि अभी थोड़ी सांस चल रही है, मगहर के बाहर निकाल लो, नहीं तो नर्क में गधा होता है। तो काशी लोग मरने आते हैं दूर-दूर से और तुम काशी जिंदगीभर रहे और मरने के वक्त मगहर जा रहे हो, दिमाग खराब तो नहीं हो गया!
कबीर ने कहा कि काशी में रहकर अगर मैं मरा और स्वर्ग में गया, तो कर्ता
का भाव पकड़ जाएगा--अपनी वजह से। मगहर में मरूं, तो जहां उसकी मर्जी हो। नर्क का गधा बना दे, तो भी उसकी मर्जी रही। हम तो मगहर में ही मरेंगे। और अगर स्वर्ग गए तो फिर कह सकेंगे, तेरी अनुकंपा, तेरी कृपा। मरे तो मगहर में थे, होना तो गधा था। लेकिन काशी में मरकर अहंकार पकड़ेगा कि काशी में मरे, रहे काशी में, गए काशी--इसलिए।
हमारे हर कर्म के पीछे कर्ता खड़ा हो जाता है, मैं कर रहा हूं।
कर्मों की निर्जरा न हो, तो मुक्ति नहीं है, स्वतंत्रता नहीं है, चेतना का परम विकास नहीं है। संन्यासी यह कहता है कि अब कुछ मैं नहीं करता। अब वह जो कराता है, कराता है। अब मैंने अपने सिर पर से वह बोझ हटा दिया। नर्क जाऊं, तो वह जाने; स्वर्ग जाऊं, तो वह जाने। जीऊं तो ठीक, मरूं तो ठीक। जो भी हो, अब मैं नहीं हूं अपने कर्मों के पीछे। अगर कोई ऐसा सरक जाए पीछे से कर्म के, तो आज के कर्म ही नहीं क्षीण हो जाते, अनंत-अनंत जन्मों के कर्मों से संबंध टूट जाता है।
कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उसकी कन्था है।
और निर्मूल वे तभी होंगे, जब मूल कट जाए; और मूल है अहंकार। मूल है कर्ता का भाव कि मैं कर रहा हूं। मैं ध्यान कर रहा हूं, इतना भी पकड़ जाए, तो कर्म का बंध होता है। मैं धर्म कर रहा हूं, प्रार्थना कर रहा हूं, पूजा कर रहा हूं, इतना भी पकड़ जाए, तो कर्म का बंध होता है।
उमर खय्याम ने बहुत प्यारा गीत लिखा है। उमर खय्याम बहुत कम समझा जा सका, क्योंकि बातें उसने ऐसी कहीं कि नासमझों को बहुत जंचीं। और नासमझों ने उनके अपने अर्थ लगा लिए जो उनको जंचे। तो उमर खय्याम, एक कीमती सूफी अनुभवी जिस बुरी तरह मिसइंटरप्रिटेड हुआ है सारी दुनिया में, उसका कोई हिसाब लगाना कठिन है। फिट्जराल्ड ने पश्चिम में जब उसका अनुवाद किया, तो मिट्टी कर दिया। बहुत अच्छा अनुवाद किया, लेकिन उसकी जो सूफियाना पकड़ थी, वह जरा भी न बची।
भारत में भी बहुत अनुवाद उमर खय्याम के हुए हैं, लेकिन एक भी अनुवाद ठीक नहीं है। हो नहीं सकता। क्योंकि उन अनुवाद करने वालों में एक भी सूफी नहीं है। वे कवि हैं, तो गीत तो उतार देते हैं। ऐसा लगने लगा, आपने देखा होगा, शराबखानों के नाम लोगों ने रख लिए, उमर खय्याम। क्योंकि ऐसा लगा, यह उमर खय्याम शराब पीने की गवाही देता है और कहता है पीयो। लेकिन उमर खय्याम समझा नहीं जा सका।

उमर खय्याम कहता है पीयो, क्योंकि पिलाने वाला वही है। और इस भ्रम में
मत पड़ना कि तुम पीना छोड़ दोगे, क्योंकि उसके बिना छुड़ाए कैसा छोड़ना! और फिर हमने सुना है कि वह बहुत रहीम है, रहमान है; हमने सुना है कि वह बड़ा दयावान है, तो हम पुण्य करने का बोझ अपने सिर पर क्यों लें? हम जैसे हैं, वैसे रहे आएंगे। और उसके सामने मौजूद हो जाएंगे। अगर उमर खय्याम जैसे छोटे से आदमी के पाप भी उसकी दया से न धुल सके--छोटे से आदमी के छोटे ही पाप उसकी दया से न धुल सके--तो हमारी कोई बदनामी नहीं, उसी की दया बदनाम हो जाएगी।
मगर जिन्होंने इनके अनुवाद किए, उन्होंने तो सब खराब कर डाला। उन्होंने तो मतलब निकाला कि मजे से पीयो। वह रहीम है, रहमान है, मजे से पीयो! अपना क्या बिगड़ेगा, उसी की बदनामी होगी।
उमर खय्याम कुछ और ही बात कह रहा है। वह यह कह रहा है कि उसके बिना कराए क्या होगा! न पकड़ सकते कुछ, न छोड़ सकते कुछ। और जब वह छुड़ाएगा, तो हमारी क्या ताकत कि हम पकड़ रखेंगे! और जब तक वह पकड़ाए है, तो हम इस अहंकार को क्यों करें कि हम छोड़ देंगे।
शराब तो सिर्फ बहाना है, बातचीत का बहाना है। जो जानते हैं, वे कहते हैं, उमर खय्याम ने कभी शराब नहीं छुई! और सब बातें तो उसने शराब की ही लिखी हैं। सब बातें शराब की ही लिखी हैं। शराब उसके लिए प्रतीक है, सूफियों के लिए प्रतीक है। वह प्रतीक है कई अर्थों में। दो-तीन बातें ख्याल में ले लेने जैसी हैं।
एक तो शराब पीकर आदमी इतना बेहोश हो जाता है कि उसे अपने होने का पता नहीं रहता। उमर खय्याम कहता है कि उस परमात्मा की शराब भी ऐसी है कि जो पी लेता है, उसे अपने होने का कोई पता नहीं रहता। वह कर्ता, वह मैं, वह खो जाता है।
शायद शराब का जो इतना आकर्षण है सारी जमीन पर, वह इसीलिए है कि हम इतने कर्ता से भरे हुए हैं कि थोड़ी देर के लिए भुलाने के लिए सिवाय शराब के हमारे पास और कोई उपाय नहीं है। इसलिए सच में ही इस शराब से वे ही लोग बच सकते हैं, जो परमात्मा की शराब पी लें, क्योंकि फिर कर्ता ही उनके पास नहीं बचता, जिसे भुलाने की जरूरत हो।
निर्मूल करना हो, जड़ से ही काट डालना हो, तो कर्ता को काटना पड़ता है, कर्मों को नहीं। कर्म तो पत्ते हैं, मूल नहीं हैं। और उस मूल अहंकार को कि मैं करने वाला हूं, कैसे काटेंगे? कौन सी तलवार काम पड़ेगी वहां? कौन सी कुदाली वहां खोदेगी? कौन सी कुल्हाड़ी वहां काटेगी?
जहां-जहां कर्ता का भाव हो, वहां-वहां साक्षी का भाव स्थापित कर लें। जहां-जहां लगे कि मैं कर रहा हूं, वहीं-वहीं जानें कि मैं कर नहीं रहा हूं, केवल ऐसा हो रहा है, इसे देख रहा हूं।
किसी के प्रेम में आप पड़ गए हैं। आप कहते हैं, मैं बहुत प्रेम करता हूं। लेकिन अब तक कोई प्रेमी सच नहीं बोला। सच इसलिए नहीं बोला कि प्रेम कभी किसी ने किया है? हो जाता है! नहीं तो करके दिखाएं। बता दें आपको कि यह रहा, इस आदमी को प्रेम करके बताओ। हां, फिल्म की स्टेज पर बात और है, बताया जा सकता है। लेकिन आप प्रेम करके बता नहीं सकते। इसके लिए आर्डर नहीं किया जा सकता कि चलो, करो प्रेम। अगर हो भी थोड़ा-बहुत, तो तिरोहित हो जाएगा एकदम, आर्डर सुनते ही।
इसलिए तो बच्चों का प्रेम नष्ट हो जाता है, क्योंकि बच्चों को हम आर्डर कर रहे हैं। कह रहे हैं, यह तुम्हारी मां है, करो प्रेम। यह पागलपन की बात है। अगर मां है तो प्रेम पैदा अब तक हो जाना चाहिए था। अगर मां है और अब तक प्रेम पैदा नहीं हुआ, तो क्या कहने से अब हो सकेगा? मां के होने से नहीं हुआ साथ रहकर, तो अब कहने से क्या होगा? लेकिन मां ही कह रही है कि चलो, करो प्रेम। चलो, यह तुम्हारी चाची है, इसके गले लगो। यह तुम्हारे पिताजी हैं, इनके पैर छुओ। बच्चे बेचारे जबर्दस्ती कर-करके उस हालत में पहुंच जाते हैं कि फिर उनसे कभी बिना जबर्दस्ती के होता ही नहीं। कंडीशनिंग हो जाती है। यह पत्नी है, करो प्रेम; यह पति हैं, करो प्रेम। फिर पूरी जिंदगी करो।
लेकिन प्रेम तो एक घटना है, हैपनिंग है। किया नहीं जाता, हो जाता है।
अगर जब आपको प्रेम हो, तब आप यह समझ पाएं कि यह हो रहा है, मैं कर नहीं रहा

हूं, तो आपको प्रेम का कर्म बांधेगा नहीं। आप कहेंगे, अवश हूं, विवश हूं, मेरे हाथ के बाहर है, कुछ हो रहा है। तब आप साक्षी बन सकते हैं, द्रष्टा बन सकते हैं। और जो व्यक्ति प्रेम का द्रष्टा बन जाए, वह और सब चीजों का द्रष्टा बन सकता है, क्योंकि प्रेम बहुत गहरा अनुभव है। और सब चीजें तो ऊपर-ऊपर हैं, बहुत ऊपर-ऊपर हैं।
द्रष्टा बनें। जहां-जहां कर्ता का भाव सघन होता हो, वहां-वहां द्रष्टा को लाएं। धीरे-धीरे जड़ कट जाएगी कर्म की और आप अचानक पाएंगे कि कर्मों का सारा जाल आपसे दूर होकर गिर पड़ा, जैसे आपके वस्त्र गिर गए हों और आप नग्न खड़े हैं। और जिस दिन कर्मों से नग्न होकर कोई खड़ा हो जाता है, उस दिन परमात्मा के लिए द्वार सीधा खुल जाता है। हमारे और उसके बीच कर्मों कीशृंखला की आड़ है, दीवार है।
इसलिए ऋषि कहता है, कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उनकी कन्था है।
और अंतिम, श्मशान में जिसने दहन कर दिए माया, ममता, अहंकार, वही अनाहत अंगी--पूर्ण व्यक्तित्व वाला है।
इस सूत्र में बात को ऋषि पूरा करता है। जैसे किसी ने मरघट पर जाकर जला दिए हों सब--ममता, माया, अहंकार। असल में सब अहंकार का विस्तार है। अहंकार अपने को फैलता है ममता से। ममता उसकी शक्ति है, उससे अपने को बड़ा करता है। जब कोई कहता है, मेरा बेटा, तो अहंकार की परिधि बड़ी हो गई। बेटे को भी उसने उसी में समा लिया। मेरी जाति, अहंकार की परिधि बहुत बड़ी हो गई। अब पूरी जाति को उसने अपने अहंकार के साथ जोड़ लिया। अब अगर कोई उसकी जाति को गाली देगा, तो यह उसको दी गई गाली है। अगर अब कोई उसकी जाति का झंडा नीचा करेगा, तो यह उसका झंडा नीचा हो गया। मेरा राष्ट्र, और उसको कर लिया भयंकर बड़ा। और जितना बड़ा हो जाए, उतना पहचान में नहीं आता। क्योंकि इतना बड़ा हो जाता है कि हमारी आंखें उसका ओर-छोर नहीं देख पातीं।
अगर मैं कहूं कि मैं बहुत महान व्यक्ति हूं, तो फौरन दिखाई पड़ जाएगा
कि बड़े अहंकारी हैं आप। लेकिन मैं कहता हूं, हिंदू धर्म महान है, तो किसी को पता नहीं चलता कि हम केवल तरकीब कर रहे हैं। हम यह कह रहे हैं कि हिंदू धर्म महान है, क्योंकि हम हिंदू हैं। इस्लाम महान है, क्योंकि मैं मुसलमान हूं। इस्लाम महान है इसीलिए कि मैं मुसलमान हूं। अगर मैं न होता, तो महान नहीं हो सकता था। फिर जहां मैं होता, वह महान होता।
मुल्ला नसरुद्दीन एक सभा में गया था। जरा देर से पहुंचा। बड़े आदमी को देर से पहुंचना चाहिए। सिर्फ छोटे आदमी वक्त पर पहुंचते हैं, बहुत छोटे और वक्त के पहले पहुंच जाते हैं। बड़ा आदमी जरा देर करके पहुंचता है। देर से पहुंचा। लेकिन भर गई थी सभा। और रास्ता नहीं था, अध्यक्ष जम चुके थे। नेता अपना व्याख्यान शुरू कर दिया था। मुल्ला इच्छा से गए थे कि किसी तरह मंच पर तो बैठ ही जाएंगे। लेकिन मंच तक जाने का उपाय नहीं था। तो मुल्ला दरवाजे पर ही बैठ गया, जहां लोगों ने जूते उतारे थे। और उसने वहीं गपशप करनी शुरू कर दी।
उसकी बातें तो बड़ी कीमती थीं ही। लोग धीरे-धीरे उसकी तरफ मुड़ गए। सभा
का रुख बदल गया। अध्यक्ष चिल्लाया कि नसरुद्दीन, तुम बहुत गड़बड़ कर रहे हो। तुम्हें पता होना चाहिए कि अध्यक्ष का स्थान यहां है! नसरुद्दीन ने कहा, नसरुद्दीन जहां बैठता है, अध्यक्ष का स्थान सदा वहीं होता है, और कोई जगह नहीं होता। अगर न मानो तो सभा से पूछ लो--पीठ किसकी तरफ है, मुंह किसकी तरफ है!
आदमी अपने को जहां बैठा मानता है, वही अध्यक्ष का स्थान है सदा। कोई लोग गलती में हों, वह बात दूसरी है। कहीं भी बैठ जाएं, उससे फर्क नहीं पड़ता। जहां मैं बैठता, वही अध्यक्ष का स्थान है।
हर आदमी इस जगत में पूरे जगत का सेंटर है--हर आदमी। यही तो झगड़ा है, हर आदमी सेंटर है। उसको सेंटर मानकर पूरा जगत परिभ्रमण कर रहा है। चांद-तारे चल रहे हैं, सूरज निकल रहे हैं, परमात्मा सेवा में लगा है, सारा खेल चल रहा है। सेंटर पर आप हैं।
यह अहंकार छोटा होता है, तो दिखाई पड़ जाता है। आपको न भी पड़े, तो आपके पड़ोसी को दिखाई पड़ जाता है। बड़ा हो, तो पड़ोसी भी समा जाता है, फिर दिखाई नहीं पड़ता। जितना बड़ा हो जाए, उतना ही कम दिखाई पड़ता है।

इसलिए हमने चालाकियां की हैं और विराट। विराट करने की कोशिश की है अहंकारों को। जाति, राष्ट्र, धर्म, समाज--और अहंकार इस ढंग से हो जाता है कि फिर ठीक है, फिर कोई दिक्कत नहीं। मैं जोर से चिल्ला सकता हूं कि भारत दुनिया का सबसे श्रेष्ठ राष्ट्र है। कोई उपद्रव नहीं करेगा, कम से कम भारत में तो नहीं ही करेगा। क्योंकि वह उसका भी अहंकार है। वह कहेगा, बिल्कुल ठीक है, उचित कहते हैं आप। पाकिस्तान में पाकिस्तान महान बना रहेगा, चीन में चीन महान बना रहेगा। और सबके अहंकार तृप्त होते रहते हैं। रस, पोषण पाते रहते हैं।
अहंकार जीता है ममता के विस्तार से, मेरे के विस्तार से। जितना बड़ा मेरे का घेरा होगा, उतना मेरा "मैं" बड़ा हो जाएगा और सुरक्षित होगा। इसलिए क्या-क्या मेरा है, इसको हम फैलाते चले जाते हैं। ममता, मेरे के फैलाव का नाम है। आप कितनी चीजों को मेरा कह सकते हैं, उतना ही आपका अहंकार पुष्ट होगा। लेकिन किसी चीज को मेरा कहना हो, तो पहले उसे माया से रंजित करना होता है। उसे इल्यूजरी करना पड़ता है। क्योंकि बिना इल्यूजन के कोई चीज को मैं मेरी नहीं कह सकता।
जिस जमीन पर मैं खड़ा होकर कहता हूं, मेरी जमीन। मैं कैसे कह सकता हूं?
जब मैं नहीं था, तब भी यह जमीन थी; और जब मैं नहीं रहूंगा, तब भी यह जमीन रहेगी। और यह जमीन अगर हंस सकती होगी, तो हंसती होगी, क्योंकि इस पर खड़े होकर न मालूम कितने लोगों ने कहा होगा, मेरी जमीन। और वे सब खो गए, और जमीन अपनी जगह पड़ी है।
अगर मुझे मेरे का विस्तार करना है, तो मुझे बहुत ही हिप्नोटिक इल्यूजन में अपने को सम्मोहित करना पड़ेगा। एक भ्रम में, जिसमें मुझे सत्य को देखने की जरूरत नहीं, असत्य खड़े करने पड़ेंगे। और जितने असत्य झूठ मैं खड़े कर सकूंगा अपने पास, उतने ही मेरे का विस्तार होगा और उतना ही मेरे भीतर मैं मजबूत होगा। एक बहुत अदभुत खेल में हम लगे हैं। कैसा जाल हम बुनते हैं। माया का अर्थ है, हिप्नोटिक इल्यूजन! जैसा आपने देखा न, कभी कोई जादूगर एक झोले में से पौधा निकालता है। पौधा एकदम बड़ा हो जाता है, उसमें आम लग जाते हैं, वह आपको आम तोड़कर दे देता है। न कोई झाड़ है वहां, न वहां कोई आम है।
मुल्ला नसरुद्दीन एक जादूगर से मिलने गया था। जा तो रहा था दूसरे काम से, लेकिन जादूगर बीच में मिल गया। और जादूगर ने जैसे ही मुल्ला को देखा, उसने अपना डमरू बजाया। तो मुल्ला चौंका। डमरू बजाकर उसने अपने झोले में से एक पौधा निकाला। पौधा बड़ा हुआ। उसमें आम लगे। मुल्ला पास गया। मुल्ला ने कहा, गजब की चीज है, मैजिक बैग, जादू का थैला। क्या दाम हैं इसके? उसने कहा, पहले इसका पूरा राज तो समझ लो। पौधे को एक तरफ रख दिया। अंदर हाथ डाला। खरगोश एक निकाला, और अंदर हाथ डाला, चीजें निकलती आईं। जो उसने कहा, वही निकाला।
मुल्ला ने कहा, बहुत बढ़िया। जा रहे थे खरीदने कुछ सामान। मैजिक बैग खरीद लिया। निकले थे कुछ और काम से, लेकिन जब मैजिक बैग मिल रहा हो, तो कौन नहीं खरीदेगा? सोचा, वह फिर पीछे कर लेंगे। जरूरी चीजें फिर भी की जा सकती हैं, गैर-जरूरी चीजें चूकी नहीं जा सकतीं। खाना एक दिन का छोड़ा भी जा सकता है, लेकिन हीरे की अंगूठी के बिना नहीं चला जा सकता। जो गैर-जरूरी है, वह तात्कालिक मांग करता है। जो जरूरी है, उसे पोस्टपोन किया जा सकता है।
जा रहा था बहुत जरूरी काम से। पत्नी के लिए कुछ दवा वगैरह खरीदने निकला था। फिर सोचा कि दवा की जरूरत क्या, जब मैजिक बैग अपने पास है। इसी में से निकाल लेंगे। मन में तो ख्याल पहले तो आया कि पत्नी के लिए दवा निकाल लेंगे, लेकिन मन ऐसा है कि मन ने सोचा कि नई पत्नी ही क्यों न निकाल लें, जब मैजिक बैग ही पास है। मरने दो पुरानी को। फौरन जितने पैसे थे, दे दिए।
चलते वक्त उस आदमी ने कहा कि जरा एक बात ख्याल रखना, दीज बैग्स आर वेरी टेंपरामेंटल। ये बड़े मूडी हैं। यह मैजिक बैग है, कोई साधारण नहीं है। यह जादू का झोला है। यह बहुत संवेदनशील है। जरा होशियारी से, कुशलता से परसुएड करना। नाराज हो गया, तो मुश्किल हो जाएगी। मुल्ला ने कहा, मैं समझता हूं। जब इतनी ऊंची चीज है, तो टेंपरामेंटल तो होगी ही। लेकर और कहा

कि जल्दबाजी मत करना। घर जाना, आराम से बैठकर सुस्ताना। क्योंकि तब तक वह जादूगर जरा दूर निकल जाए न!
पर मुल्ला को घर पहुंचना बहुत मुश्किल हुआ। रास्ते में ही जोर से प्यास लग आई। उसने कहा, ऐसा भी क्या टेंपरामेंटल होगा, एक गिलास पानी तो दे ही सकता है। अंदर हाथ डाला और कहा, प्यारे, जादू के बस्ते, जरा एक पानी का गिलास दो। वहां से कुछ भी न आया। कहा, अरे, क्या खरगोश और आम वगैरह निकालने की आदत तो नहीं है इसकी! कहा, कोई हर्ज नहीं, अच्छा आम का पौधा ही निकाल। उसका भी कोई पता नहीं चला। पूरे बैग में अंदर हाथ डाला, वह बिल्कुल खाली था। जो चीजें निकल सकती थीं, वे निकल चुकी थीं। बहुत टेंपरामेंटल मालूम होते हो, उसने कहा। ऐसी भी क्या नाराजगी। अभी एक अपशब्द भी तुमसे नहीं बोला। अच्छा, जो तुम्हारी मर्जी हो, वही निकालो। हाथ डाला, फिर भी कुछ नहीं आया। बड़ी मुसीबत हो गई। पैसे भी खराब गए, अब क्या करें। इसका कोई उपयोग तो होना ही चाहिए।
आदमी ऐसा ही सोचता है। इतने पैसे खराब किए, तो अब इसका कोई उपयोग तो होना ही चाहिए। तो उसने सोचा, अब इसका और क्या उपयोग हो सकता है? मुल्ला के पास एक गधा था, लेकिन उसके मुंह का जो तोबड़ा था, वह तो था। तो उसने सोचा इस तोबड़े के लिए एक गधा खरीद लेना चाहिए। और क्या कर सकते हैं! भागा बाजार, गधा खरीदने लगा, तो गधा बेचने वाले ने कहा, दो-दो गधे का क्या करोगे? उसने कहा, दो-दो कहां, एक गधा और उसका तोबड़ा; और एक तोबड़ा और उसका गधा। दो-दो कहां हैं!
आदमी पूरे वक्त मैजिकल बैग लेकर जी रहा है। टेंपरामेंटल है। कुछ निकालो, कुछ निकल आता है। कभी नहीं भी निकलता। जो डालो, वही निकलता है।
यह जो हम जिसको माया कहते हैं, उसका अर्थ है कि हम इस पूरे जगत में बहुत से इल्यूजन्स पैदा करते हैं, बहुत से भ्रम पैदा करते हैं और उन भ्रमों के सहारे ही जीते हैं। नहीं तो जीना बहुत मुश्किल है। हर आदमी अपना मैजिक बैग लिए हुए है और उसी से चीजें निकालता रहता है। हालांकि कोई उसकी मानता नहीं, लेकिन कम से कम वह खुद मानता है। कोई नहीं मानता उसकी। वह खुद तो कम से कम भरोसा करता है। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है... ।
मैं पूरे मुल्क में घूमा। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि आपने
जो बात कही, वह हमारी तो समझ में आ गई, लेकिन साधारण आदमी की समझ में कैसे आएगी! पहले मैं सोचा कि कभी तो वह साधारण आदमी भी एकाध दफे आएगा और कहेगा, असाधारण लोगों की समझ में तो आ गई, मुझ साधारण की समझ में नहीं आती। वह अभी तक नहीं आया, वह साधारण आदमी! जब भी आता है, असाधारण आदमी आता है। वह कहता, हमारी समझ में तो आ गई, साधारण आदमियों की समझ में कैसे आएगी! अपने को छोड़कर बाकी को वह सब साधारण समझता है। वे बाकी भी यही समझते हैं।
हर आदमी अपना मैजिक बैग लिए है, उसमें से चीजें निकालता रहता है। कोई उसकी मानता नहीं, लेकिन वह अपनी तो मानता ही है।
मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपनी पत्नी से कह रहा है कि तुझे मालूम है कि
इस दुनिया में कितने महान पुरुष हैं? मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी ने कहा कि मुझे पक्का, भलीभांति मालूम है। तुम जितने सोचते हो, उससे एक कम। मुल्ला ने कहा, बर्बाद कर दिया। एक ही तो हम सोचते हैं। खतम। फैसला ही हो गया। घटाने की कोई जरूरत नहीं, एक तो हम सोचते ही हैं। दो का सवाल कहां है। नसरुद्दीन की पत्नी भी जानती है कि वह महान पुरुष कौन है, इसलिए उसने पहले ही एक घटा दिया कि तुम एक तो घटा ही दो, बाकी संख्या कोई भी हो, मैं राजी हो जाऊंगी।
हर आदमी अपने आसपास एक भ्रम-जाल खड़ा करके जी रहा है। उस भ्रम-जाल में
वह न मालूम क्या-क्या निर्मित करता रहता है। वह सब माया है। वह सब झूठ है। वह है नहीं, वह सिर्फ दिखाई पड़ता है। और दिखाई भी उसको पड़ता है, जो देखने के लिए आतुर है। वह भी जरा सम्हलकर देखेगा तो दिखाई नहीं पड़ेगा, बैग खाली पाएगा। वहां कुछ भी नहीं है।
ऋषि कहता है कि जिन्होंने अपनी माया, ममता, अपने अहंकार... उलटा चल रहा है। माया सबसे बड़ा घेरा है हमारे भ्रम का। उसके बाद जो सेकेंड, जो दूसरी परिधि है, घेरा है, वह है ममता। और उसके भीतर जो सेंट्रल फोर्स है, वह है अहंकार। वह जो केंद्र पर शक्ति है, उसका ही यह सारा फैलाव है। जो माया को,

ममता को, अहंकार को, जैसे मरघट पर जला दे चिता में, ऐसा जला देता, वही अनाहत अंगी है।
यह शब्द बहुत अदभुत है, अनाहत अंगी। इसका अर्थ है, वही पूर्ण व्यक्तित्व है। अनाहत, जिसका एक भी अंग आहत नहीं हुआ, जो पूर्ण है, द होल। अंग्रेजी में शब्द है होली। होली बनता है होल से। पवित्र वही है, जो पूर्ण है। पावन वही है, जो पूर्ण है। जिसका कोई भी अंग आहत नहीं, खंडित नहीं।
लेकिन आदमी अजीब-अजीब काम करने लगता है। ऐसी कौमें हैं जमीन पर कि वे आपरेशन नहीं करवातीं शरीर के किसी अंग का। क्योंकि अगर आहत होकर मरे, खंडित होकर मरे! अगर कभी मौके-बेमौके ऐक्सीडेंट हो जाए, हाथ टूट जाए, कुछ हो जाए, तो उसको सम्हालकर रखते हैं। फिर जब आदमी मर जाता है, तो उसके हाथ वगैरह को जोड़कर, अनाहत अंगी करके, पूरे अंग करके उसको दफना देते हैं।
यह मतलब नहीं है। लंगड़ा भी अनाहत अंगी हो सकता है, अंधा भी अनाहत अंगी
हो सकता है। शरीर बिल्कुल न रहे, तो भी अनाहत अंगी हो सकता है। अनाहत अंगी होने का मतलब इस शरीर के अंगों से नहीं है। अनाहत अंगी होने का अर्थ है, भीतर जो अखंड है, एक है, बिना टूटा-फूटा है। जिसके भीतर कोई खंड नहीं, विभाजन नहीं, द्वैत नहीं, दुई नहीं। जिसके भीतर जिसे पूर्ण का अनुभव होता है, जिसे फुलफिलमेंट का अनुभव होता है, जिसे लगता है, बस सब पा लिया, अब कुछ पाने को नहीं। अगर परमात्मा भी सामने आकर पूछे कि कुछ और चाहिए? तो ऐसा अनाहत अंगी जो है, वह चुपचाप रह जाएगा। वह कहेगा कि जो है, वह पूर्ण से ज्यादा है। अब और क्या हो सकता है! अब कुछ भी नहीं चाहिए।
अनाहत अंगी का यह भी अर्थ है कि जो इंटीग्रेटेड है, समग्र है। जिसके भीतर भीड़ नहीं है, जिस पर भरोसा किया जा सकता है।
हम तो एक भीड़ हैं। हमें कोई कठिनाई नहीं है। अगर आप क्रोधित हैं, तो समझदार आदमी को इससे कोई चिंता नहीं पैदा होती, क्योंकि यह आपका पूरा हिस्सा नहीं, सिर्फ एक अंग है। दूसरा अंग है, उसको जरा फुसलाया जाए, आपका क्रोध चला जाएगा। वह दूसरा अंग निकल आएगा सामने। आप कितने ही नाराज हैं, आप कितने ही दुखी हैं, पीड़ित हैं, सब बदला जा सकता है। क्योंकि आपके दूसरे हिस्से भीतर पड़े हैं, उन्हें जरा ऊपर लाने की जरूरत है।
इंटीग्रेटेड का अर्थ है समग्र, जो एक ही है अपने भीतर। उसके वचन का वही अर्थ है, जो है। उसे बदला नहीं जा सकता।
लेकिन आपको तो आपके छोटे-छोटे बच्चे बदल लेते हैं। छोटा बच्चा कहता है, खिलौना चाहिए डैडी। आप भारी अकड़ दिखलाते हैं कि नहीं, कल ही लिवाया था। लेकिन बच्चा जानता है कि आप में कितनी अकड़ है और कितनी अकड़ आपकी चलेगी। वह वहीं खड़ा है। वह कहता है, चाहिए। अब की दफा आप जरा डरकर देखते हैं। फिर भी रौब दिखाने की कोशिश करते हैं कि देखो, मैंने तुमसे कहा कि नहीं, अभी संभव नहीं है। वह वहीं खड़ा है। वह जानता है कि तुम्हारी कितनी ताकत है। थोड़ी देर में तुम्हारे दूसरे हिस्से को फुसला लेंगे। तीसरी बार आप हां भर देते हैं।
और एक दफे आपने यह कर दिया कि बच्चा सदा के लिए पहचान गया कि आप एक आदमी नहीं हैं, आपकी बात का कोई पक्का भरोसा नहीं है। आपको बदला जा सकता है। जरा जोर से पैर पटको, शोरगुल करो और आपको रास्ते पर लाया जा सकता है। छोटे-छोटे बच्चे भी डिक्टेटोरियल ट्रिक सीख जाते हैं। आपको चलाते रहते हैं। आप समझते हैं कि आप अपने छोटे बच्चे को चला रहे हैं। बड़ी भूल में हैं। छोटे बच्चे भलीभांति जानते हैं कि आपकी कमजोरियां क्या हैं, कहां से आपको परेशान किया जा सकता है। छोटे-छोटे बच्चे तक अपने डैडी से कहते हैं कि हम मम्मी से कह देंगे।
नसरुद्दीन का बेटा नसरुद्दीन से पूछ रहा था, आप शेर से डरते हो? नसरुद्दीन ने कहा, बिल्कुल नहीं। हाथी से डरते हो? नसरुद्दीन ने कहा, कैसी बातें कर रहा है, हाथी से मैं डरूंगा? हाथी मुझसे डरते हैं। सांप से डरते हो? नसरुद्दीन ने कहा, उठाकर फेंक देता हूं सांप को। पहाड़ से डरते हो? समुद्र से डरते हो? नसरुद्दीन ने कहा, किसी से नहीं डरता बेटा। तो उसके बेटे ने कहा, तो क्या मम्मी को छोड़कर आप किसी से भी नहीं डरते? किसी से नहीं! न शेर से, न हाथी से, न सांप से, न पहाड़ से।

आपके भीतर हिस्से हैं बहुत, डिसइंटीग्रेटेड, अलग-अलग। एक हिस्सा बहादुर का है, एक हिस्सा कायर का है। जब तक बहादुर का ऊपर है, तब तक आप और बातें कर रहे हैं। जब बहादुर का थक जाएगा और कायर का ऊपर आएगा, आप बिल्कुल दूसरे आदमी सिद्ध होंगे।
अनाहत अंगी का अर्थ है, जिसके भीतर कोई खंड नहीं, जो एक, एकरस, एक जैसा
ही है। ऋषि कहते हैं, लेकिन ऐसा अनाहत अंगी तभी कोई हो पाता है जब अहंकार, माया और ममता को भस्मीभूत कर डालता है। लेकिन मरघट में नहीं जलती वह आग, जिसमें माया और ममता और अहंकार को भस्म किया जा सके। वह आग मंदिर में जलती है। वह आग प्रार्थना से जलती है, ध्यान से जलती है, पूजा से जलती है।
अब हम उस आग को जलाने में लगें।

आज इतना ही।

निर्वाण उपनिषद
चौदहवां प्रवचन

भ्रांति-भंजन, कामादि वृत्ति दहन, अनाहत मंत्र और अक्रिया में प्रतिष्ठा

निस्त्रैगुण्य स्वरूपानुसंधानम समयं भ्रांति हरणम्।
कामादि वृत्ति दहनम्।
काठिन्य दृढ़ कौपीनम्।
चिराजिनवासः।
अनाहत मंत्रम अक्रिययैव जुष्टम्।
स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः।
इति स्मृतेः।
परब्रह्म प्लव वदाचरणम्।

त्रयगुणरहित स्वरूप के अनुसंधान में तथा भ्रांति के भंजन में समय व्यतीत करना।
कामवासना आदि वृत्तियों का दहन करना।
सभी कठिनाइयों में दृढ़ता ही उनका कौपीन है।
सदैव संघर्षों में जिनका वास है।
अनाहत जिनका मंत्र और अक्रिया जिनकी प्रतिष्ठा है।
ऐसा स्वेच्छाचार रूप आत्मस्वभाव रखना--यही मोक्ष है।
और यही स्मृति का अंत है।
परब्रह्म में बहना जिनका आचरण है।

संन्यासी करता क्या है? गृहस्थ तो संसार बसाता है, निर्माण करता है स्वप्नों का, आरोपण करता है विचारों का, माया का, मोह का, ममता का।
संन्यासी क्या करता है? गृहस्थ को तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि संन्यासी कुछ भी नहीं करता, भगोड़ा है, एस्केपिस्ट है। क्योंकि जो-जो गृहस्थ करता है, वह तो संन्यासी नहीं करता है। संन्यासी भी कुछ करता है।
इस सूत्र में ऋषि कहता है, त्रयगुणों से रहित स्वरूप के अनुसंधान में तथा भ्रांति के भंजन में समय व्यतीत करता है।
गृहस्थ से ठीक उलटी यात्रा है संन्यासी की। गृहस्थ, तीन गुणों का जो फैलाव है, उसमें ही डूबा रहता है। कभी रज में, कभी तम में, कभी सत्व में। कभी अच्छे में, कभी बुरे में, कभी आलस्य में। संन्यासी उन तीनों के पार चौथे में चलने की चेष्टा में संलग्न होता है।
यहां एक बात समझ लेनी जरूरी है। सत्व, शुभ जिसे हम कहें, संन्यासी उसके भी पार चलने में लगा रहता है। अशुभ जिसे हम कहते हैं, उसके पार तो वह जाता ही है, लेकिन जिसे हम शुभ कहते हैं, संन्यासी उसके भी पार जाने में लगा रहता है। यह थोड़ा समझना कठिन मालूम पड़ेगा।
यह तो ठीक है कि अशुभ के हम पार जाएं, यह तो ठीक है कि बुराई का त्याग हो, लेकिन संन्यासी भलाई का भी त्याग करता है। क्योंकि ऋषि की दृष्टि यह है कि जब तक भला भी न छूट जाए, तब तक बुरा पूरी तरह नहीं छूटता, क्योंकि बुरा और भला एक ही चीज के दो पहलू हैं। ऋषि की यह दृष्टि है कि अगर भले आदमी को यह भी याद रह जाए कि मैं भला आदमी हूं, तो उसके भीतर बुराई दबी पड़ी रह जाती है। वस्तुतः भला आदमी वह है, जिसे यह भी पता नहीं रह जाता कि मैं भला आदमी हूं। भलाई भी छूट जाती है। भलाई छूट जाती है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भला करना बंद कर देता है। भलाई छूट जाती है, इसका अर्थ यह है कि भलाई वह अपनी तरफ से नहीं करता, उससे जो भी होता है, वह भला है। सत्व के भी पार चला जाना संन्यास है।
यह बहुत मौलिक क्रांति की बात है। जगत में बहुत तरह के विचार पैदा हुए, लेकिन सत्व के पार ले जाने वाला विचार सिर्फ इस भूमि पर पैदा हुआ है। जगत में जो भी विचार पैदा हुए हैं, वे सब सत्व तक ले जाने की आकांक्षा रखते हैं कि आदमी अच्छा हो जाए। लेकिन भारतीय मनीषा की यह समझ है कि आदमी अच्छा

हो जाए, यह अंत नहीं है। आदमी अच्छे के भी पार हो जाए, यही अंत है। क्योंकि इस बात की स्मृति भी कि मैं अच्छा हूं, अच्छा कर रहा हूं, अस्मिता है, अहंकार है, इगो है।
और ध्यान रहे, जहर कितना ही शुद्ध हो जाए; इससे जहर नहीं रह जाता, ऐसा समझने की कोई भी जरूरत नहीं है। सच तो यह है--सच उलटा है--कि शुद्ध होकर जहर और जहरीला हो जाता है।
बुरे आदमी का भी अहंकार होता है, अशुद्ध होता है। बुरा आदमी अपने अहंकार से परेशान भी होता है, बुरा आदमी अपने अहंकार को बुरा भी समझता है। किन्हीं क्षणों में पश्चात्ताप भी करता है। किन्हीं क्षणों में उसके पार जाने की चेष्टा भी करता है। लेकिन भला आदमी अपने अहंकार को बुरा भी नहीं समझता। पश्चात्ताप का तो सवाल ही नहीं है। अहंकार उसका भला है। कृष्णमूर्ति एक शब्द का प्रयोग करते हैं, वह ठीक शब्द है, पायस इगोइस्ट, पवित्र अहंकारी। दोनों उलटे मालूम पड़ते हैं--पवित्र अहंकारी। अहंकारी और पवित्र कैसे होगा? और जो पवित्र है वह अहंकारी कैसे होगा? लेकिन होता है। जिनको अच्छे होने की भ्रांति पैदा हो जाती है, वे पवित्र अहंकारी हैं।
लेकिन ध्यान रखें, अहंकार पवित्र होकर शुद्ध जहर हो जाता है--प्योर पायजन। बुरा आदमी तो थोड़ी सी पीड़ा भी पाता है, कांटे की तरह चुभता भी है कि मैं बुरा आदमी हूं। इसलिए बुरा आदमी अपने अहंकार को उसकी पूरी शुद्धता में खड़ा नहीं कर सकता। उसकी अकड़ में एक कमी रह ही जाती है, भीतर ही उसके कोई कहे चला जाता है कि तुम बुरे आदमी हो। तो बुराई के आधार पर अहंकार का पूरा विस्तार नहीं हो सकता। आधारशिला में ही कमी रह जाती है। लेकिन मैं भला आदमी हूं, तब तो अहंकार के फैलाव की पूरी सुविधा और गुंजाइश है। तब अहंकार छतरी की तरह छा जाता है। बड़े सुदृढ़ आधार पर खड़ा होता है।
भले आदमी का जो अहंकार है, संन्यासी के लिए वह भी नहीं है। लेकिन समाज इसका उपयोग करता है, क्योंकि समाज को पता है कि आदमी को अहंकार के पार ले जाना अति कठिन है। इसलिए समाज के पास एक ही उपाय है कि वह भलाई के लिए प्रेरित करने को आदमी के अहंकार का उपयोग करे। इसलिए हम आदमी से कहते हैं कि ऐसा मत करो, लोग क्या कहेंगे! काम बुरा है, यह नहीं कहते। बाप अपने बेटे को समझाता है कि झूठ मत बोलना; पकड़ जाओगे, तो बड़ी बदनामी होगी। झूठ मत बोलना, लोग क्या कहेंगे! झूठ मत बोलना, चोरी मत करना। हमारे कुल में कभी किसी ने चोरी नहीं की।
यह सब अहंकार को उकसाया जा रहा है। एक बीमारी को दबाने के लिए दूसरी बीमारी को उठाया जा रहा है। लेकिन समाज की अपनी कठिनाई है। समाज अब तक ऐसे सूत्र नहीं खोज पाया है कि आदमी में भलाई का जन्म हो सके बिना अहंकार के।
इसलिए हम अहंकार का उपयोग करते हैं और अहंकार को भलाई के साथ जोड़ते हैं।
इससे जो घटना घटती है, वह यह नहीं है कि अहंकार भलाई के साथ जुड़कर भला हो जाता हो। घटना यह घटती है कि अहंकार के साथ भलाई जुड़कर बुरी हो जाती है। जहर की एक खूबी है कि वह एक बूंद भी काफी है, सब जहरीला हो जाएगा।
जब हम अहंकार को जोड़ देते हैं भलाई से, क्योंकि हमें दिखता ही नहीं कि
और कोई उपाय है... । अगर किसी आदमी से मंदिर बनवाना है, तो पत्थर पर उसका नाम खोदना ही पड़ेगा। कोई आदमी ऐसा मंदिर बनाने को राजी नहीं है, जिस पर उसका नाम ही न लगे। वह कहेगा, फिर प्रयोजन ही क्या रहा! मंदिर में किसी को रस नहीं है। वह जो मंदिर के भीतर की प्रतिमा है, उसमें किसी को रस नहीं है, वह जो मंदिर के बाहर पत्थर लगता है नाम का, उसमें रस है। ऐसा नहीं है कि मंदिर बनाए जाते हैं और फिर पत्थर लगाए जाते हों। पत्थर के लिए मंदिर बनाए जाते हैं। पत्थर पहले बन जाता है। लेकिन मंदिर बनवाना हो, तो वह पत्थर लगवाना पड़ता है, नहीं तो मंदिर बन नहीं सकता।
मंदिर भी अगर हम बनाएंगे, तो अहंकार के लिए ही बनाते हैं। लेकिन कठिनाई तो यह है कि जो मंदिर अहंकार के लिए बनता है, वह मंदिर नहीं रह जाता। इसलिए सारी दुनिया में मंदिर और मस्जिद उपद्रव के कारण बने हैं। क्योंकि जहां अहंकार है वहां सिर्फ उपद्रव ही पैदा हो सकता है। होना उलटा चाहिए था कि मंदिर और मस्जिद जगत में प्रेम की वर्षा बन जाते, अमृत के

द्वार खोलते, लेकिन बहुत जहर के द्वार उन्होंने खोले हैं। नास्तिकों के ऊपर इतने पापों का जिम्मा नहीं है, जितना तथाकथित आस्तिकों के ऊपर है। वोल्तेयर ने कहीं कहा है कि हे परमात्मा, अगर तू कहीं है, तो कम से कम मंदिर और मस्जिद तो गिरवा दे। तेरे होने से हमें कोई अड़चन नहीं, लेकिन तेरे मंदिर और मस्जिद बहुत दिक्कतें दे रहे हैं।
ठीक ही है यह बात। भलाई में अगर एक बूंद भी अहंकार का पड़ गया, तो भलाई बुराई हो जाती है। और समाज जो तरकीब जानता है, वह एक ही है कि अगर आपको भला बनाना है, तो आपके अहंकार को परसुएड करना पड़ता है। आपसे कहना पड़ता है कि कैसे महान हो आप, दिव्य हो, तब आपके भीतर रस जन्मता है। यह रस उसी अहंकार में जन्म रहा है।
इसलिए मनोवैज्ञानिक एक बहुत अनूठी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि जिनको हम अपराधी कहते हैं और जिनको हम तथाकथित अच्छे आदमी कहते हैं, सज्जन कहते हैं, इनमें बुनियादी फर्क नहीं होता। दोनों ही अटेंशन चाहते हैं। समाज का ध्यान उन पर जाए, इसकी आकांक्षा में जीते हैं। एक आदमी भला होकर सड़क पर चलने लगता है, लोगों का ध्यान उस पर जाए। एक आदमी को कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता भला होने का, वह बुरा हो जाता है।
अभी एक मुकदमा था बेल्जियम में। एक आदमी ने चार हत्याएं की थीं। और चारों अजनबी थे, जिनकी हत्याएं की थीं। उन्हें उसने हत्या करने के पहले कभी देखा भी नहीं था। बस, समुद्र के किनारे लेटे हुए चार आदमियों की हत्या कर दी। अदालत में उसने कहा कि मैं अखबार में मेन हेडिंग्स में नाम देखना चाहता था। और मुझे कोई उपाय नहीं दिखता था।
महात्मा होने में बहुत देर लगे, और महात्मा होना पक्का भी नहीं है। और कितना ही बड़ा महात्मा हो जाए, सभी लोग उसे महात्मा कभी स्वीकार नहीं कर पाते। और फिर महात्माओं को भी सूली लग जाती है, इसलिए सुरक्षित मार्ग वह भी नहीं है। जब जीसस को सूली लग जाती है और सुकरात को जहर मिल जाता है, तो उसने कहा, वह भी कोई बहुत सुरक्षित तो दिखता नहीं रास्ता। समय ज्यादा लेता है। भारी कठिनाई झेलो। बामुश्किल! और अक्सर ऐसा होता है कि जिंदगीभर मेहनत करो, मरकर ही आदमी महात्मा हो पाता है। क्योंकि जिंदा आदमी को कोई महात्मा कहे, तो कहने वाले के भी अहंकार को चोट लगती है, सुनने वाले के अहंकार को भी चोट लगती है। जब कोई मर जाए, मुर्दे को जो जी चाहे कहो, किसी को कोई अड़चन नहीं होती।
नसरुद्दीन कहता था कि कब्रिस्तानों में देखकर मुझे ऐसा लगा कि नर्क में अब तक कोई भी आदमी नहीं गया होगा। क्योंकि कब्रों पर जो वचन लिखे हैं, प्रशस्तियां लिखी हैं, वे बताती हैं कि सभी लोग स्वर्ग गए होंगे। मरते ही आदमी भला हो जाता है। पैदा होते ही बुरा हो जाता है।
वोल्तेयर का एक शत्रु था जिंदगीभर का। हर चीज में मतभेद था वोल्तेयर
से उसका। वह मर गया। स्वभावतः, उसके शत्रु के मित्रों ने वोल्तेयर के पास जाकर कहा कि तुम्हारे जिंदगीभर के संबंध थे, कोई वक्तव्य तुम दोगे, तो अच्छा होगा। माना कि शत्रुता थी। वोल्तेयर ने लिखकर एक पत्र दिया, जिसमें उसने लिखा कि ही वा.ज ए ग्रेट मैन, ए वेरी रेयर जीनियस, बट प्रोवाइडेड ही इ.ज रिअली डेड। बहुत महापुरुष था वह, बड़ा प्रतिभाशाली था, लेकिन अगर मर गया हो तो। अगर जिंदा हो, तो यह वक्तव्य मैं नहीं दे सकता हूं।
मर जाए आदमी, तो फिर अच्छा हो जाता है। यही तो दुख है दुनिया का कि मरा हुआ आदमी अच्छा होता है और जिंदा आदमी बुरा होता है। यह जो हम भलाई का जाल खड़ा किए हुए हैं, उसके भीतर हम अहंकार को ही पोषण करके खड़ा कर पाते हैं। अगर बच्चे को शिक्षित करना है, तो उसे प्रथम लाना पड़ता है, गोल्ड मेडल देना पड़ता है। अगर शिक्षित करना है, तो उसके अहंकार को तृप्त करना पड़ता है, उसे विशेषता देनी पड़ती है। फिर उपद्रव होते हैं। लेकिन समाज अब तक इससे बेहतर कोई रास्ता नहीं खोज पाया है। और यह बहुत बदतर रास्ता है।
ऋषि कहता है कि संन्यासी तो शुभ के भी पार चला जाता है। अशुभ के पार तो चला ही जाता है, शुभ के भी पार चला जाता है। अंग्रेजी में तीन शब्द हैं--एक शब्द है इम्मारल, अनैतिक; एक शब्द है मारल, नैतिक; एक शब्द है एमारल, नीति- मुक्त या अतिनैतिक। संन्यासी इम्मारल तो होता ही नहीं, मारल भी नहीं होता; एमारल होता है। वह न तो नैतिक होता है, न अनैतिक होता है; वह नीति-मुक्त

होता है। लेकिन इस तीसरी सीढ़ी तक पहुंचने के लिए अनीति को छोड़कर नीति में और नीति को छोड़कर अतिनीति में प्रवेश करना होता है।
इसलिए ऋषि बहुत इंच-इंच आगे बढ़ रहा है। पीछे की सब बातें ख्याल रखेंगे, तो ही ये सूत्र समझ में आएंगे, जो आगे आ रहे हैं, अन्यथा समझ में नहीं आएंगे। ये सूत्र अलग-अलग नहीं हैं, पीछे की पूरीशृंखला से बंधे हुए हैं।
तो ऋषि कहता है, वह दो काम में लगा रहता है, एक तो तीन गुणों के पार जाने की सतत चेष्टा करता रहता है। और दूसरी, भ्रांति के भंजन में समय लगाता है। ये दोनों एक ही प्रक्रिया के अंग हैं।
हम सब भ्रांति के सृजन में जीवन व्यतीत करते हैं। नीत्से ने कहा है, मैन कैन नाट लिव विदाउट इल्यूजन्स। जरूरी हैं भ्रांतियां, उन्हीं के सहारे आदमी जीता है, नहीं तो नहीं जी सकता। नीत्से दूर तक ठीक कहता है। जहां तक हमारा संबंध है, नीत्से सौ प्रतिशत ठीक कहता है, आदमी बिना भ्रांतियों के नहीं जी सकता। हजार तरह की भ्रांतियां उसके चारों तरफ चाहिए। उन्हीं के बीच वह जी सकता है।
तो नीत्से ने कहा है, इल्यूजन्स आर नेसेसरी। भ्रम भी जरूरी हैं, और झूठ भी उपयोगी हैं। नीत्से ने तो बहुत बढ़िया बात कही है। उसने तो यह कहा है कि सत्य का कोई अर्थ ही नहीं है। जो असत्य काम पड़ जाए, वही सत्य है। और असत्य काम पड़ते हैं, चौबीस घंटे काम पड़ रहे हैं। थोड़ा सा हम देख लें कि किस भांति काम पड़ते हैं।
हमें कोई पता नहीं है कि आत्मा अमर है, लेकिन अब जिंदा रहना है, तो मन में यह ख्याल लेकर चलना चाहिए कि आत्मा अमर है, नहीं तो जिंदा रहना मुश्किल हो जाएगा। हमें कोई पता नहीं है कि प्रेम शाश्वत होता है। चारों तरफ देखें तो क्षणिक होता है, शाश्वत नहीं होता है। सब क्षण में बिखर जाता है। लेकिन अगर जिंदा रहना है, तो मानकर चलना चाहिए कि प्रेम शाश्वत चीज है। कविताएं बड़ी जरूरी हैं आदमी के आसपास जीने के लिए। उनके सहारे वह अपने को भुलाए रखता है।
कल होगा, इसका कोई निश्चय नहीं है। लेकिन हम कल का इंतजाम करके सोते हैं। नहीं तो रात सोना ही मुश्किल हो जाएगा। यह सवाल कल के इंतजाम का इतना महत्वपूर्ण नहीं है, आज की रात सोने का सवाल है। कल का इंतजाम कर लेते हैं, और कल होगा ही, ऐसी मान्यता मन में रख लेते हैं, तो रात नींद आसानी से आ जाती है। अगर पक्का हो जाए कि कल सुबह नहीं होगी, कल सुबह मौत है, तो कल सुबह मौत होगी कि नहीं होगी, यह बड़ा सवाल नहीं है, आज की नींद खराब हो जाएगी। फिर आज सोया नहीं जा सकता।
तो सोना हो, तो कल का भ्रम बनाए रखना जरूरी है। अगर जिंदगी के दुखों को गुजारना हो, तो भविष्य की आशा को जिलाए रखना जरूरी है कि कोई बात नहीं, सुख मिलेगा। अगर इस मकान में नहीं मिला, दूसरे मकान में मिलेगा। अगर इस व्यक्ति से नहीं मिला, दूसरे व्यक्ति से मिलेगा। आज नहीं मिला, कल मिलेगा। फ्यूचर ओरिएंटेशन, भविष्य की तरफ आशाओं को दौड़ाए रखना जरूरी है। मनोवैज्ञानिक एक बहुत कीमती बात कहते हैं, जो बहुत नई खोज है एक अर्थों में, पहले कभी किसी ने नहीं ख्याल किया था। रात आप सपने देखते हैं, तो आप सोचते होंगे कि सपनों से नींद में बाधा पड़ती है। ऐसा सदा सोचा जाता रहा है। कई आदमी मेरे पास भी आते हैं। वे कहते हैं, रात बहुत सपने आते हैं, तो नींद ठीक से नहीं हो पाती। सभी का यह ख्याल है।
लेकिन मनोवैज्ञानिक ज्यादा अनुभव पर हैं। और वे कहते हैं कि अगर सपने
न हों, तो आप सो ही न पाएं। वे बहुत उलटी बात कहते हैं। वे कहते हैं, सपने जो हैं, वे नींद में बाधा नहीं हैं, सहयोगी हैं। नींद टूट ही जाए, अगर सपने न हों तो। नींद को सतत जारी रखने के लिए सपने काम करते हैं। समझ लें, तो ख्याल में आ जाएगा।
आपको प्यास लगी है जोर से नींद में। आप एक सपना देखना शुरू कर देंगे
कि पानी पी रहे हैं। झरना बह रहा है, झरने के पास बैठे पानी पी रहे हैं। अगर यह सपना न आए, तो प्यास आपकी नींद तोड़ देगी। आपको उठकर पानी पीने जाना पड़ेगा। नींद में बाधा पड़ जाएगी। यह सपना जो है, एक इल्यूजन पैदा करता है। कहता है, कहां जाने की जरूरत है, नींद टूटने का तो कोई सवाल ही नहीं। झरना

यह रहा, पीयो। भूख लगी है, राजमहल में निमंत्रण मिल जाता है। नहीं तो भूख नींद को तोड़ देगी।
सपना सब्स्टीट्यूट है और नींद को सम्हालने का उपाय है। ठीक ऐसे ही जिंदगी में भी भ्रांति जागरण को सम्हालने का उपाय है। जिसे हम जागरण कहते हैं, उसके आसपास भ्रांति चाहिए, नहीं तो हम मुश्किल में पड़ जाएंगे। मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में पड़ गया है। वह सम्राट की पत्नी है। मुल्ला उससे बिदा हो रहा है। रात चार बजे उसने उससे कहा कि तुझसे सुंदर स्त्री मैंने अपने जीवन में न देखी और न मैं सोच भी सकता हूं कि तुझसे सुंदर स्त्री हो सकती है। तू अनूठी है। तू परमात्मा की अदभुत कृति है। स्त्री फूल गई, जैसा कि सभी स्त्रियां फूल जाती हैं। उस क्षण जमीन पर उसके पैर न रहे। लेकिन मुल्ला मुल्ला ही था। जब उसने उसे इतना फूला देखा, उसने कहा, लेकिन एक बात और, जस्ट फार योर इन्फार्मेशन कि यह बात मैं और स्त्रियों से भी पहले कह चुका हूं। और वायदा नहीं कर सकता कि आगे और स्त्रियों से नहीं कहूंगा।
वह स्त्री, जो एकदम आनंद की मूर्ति हो गई थी, कुरूप हो गई। प्रेम एकदम सूखा हुआ मालूम पड़ा। सब नष्ट हो गया। सपने खंडहर होकर गिर गए। मुल्ला ने एक सत्य कह दिया। सभी प्रेमी यही कहते हैं, लेकिन जब कहते हैं, तब इतने भाव से कहते हैं कि वे भी भूल जाते हैं कि यह बात हम पहले भी कह चुके हैं। मुल्ला एक स्त्री के प्रेम में है, लेकिन शादी को टालता चला जाता है। आखिर उस स्त्री ने कहा कि अंतिम निर्णय हो जाना चाहिए। आज आखिरी बात। शादी करनी है या नहीं? अब टालना नहीं हो सकता। मुल्ला ने कहा, भ्रम जब बहुत ताजे थे, तभी शादी हो जाती, तो हो जाती। अब तो भ्रम बहुत बासे पड़ गए हैं। अब तो हम उस हालत में हैं कि अगर शादी हो गई होती, तो तलाक का इंतजाम हो रहा होता। उस स्त्री ने कहा, दरवाजे से बाहर निकल जाओ। मुल्ला ने कहा, जाता हूं, लेकिन मेरे प्रेम-पत्र लौटा दो। स्त्री ने कहा कि क्या मतलब, क्या करोगे प्रेम-पत्रों का? मुल्ला ने कहा, फिर भी जरूरत पड़ेगी ही। तो दुबारा लिखने की झंझट कौन करे। और फिर मैंने ये एक प्रोफेशनल राइटर से लिखवाए थे, पैसा खर्च किया था!
वही भ्रम बार-बार खड़ा करना पड़ता है। जीना मुश्किल है। एक कदम चलना मुश्किल है। इसलिए गृहस्थ उसे कहें हम, जो बिना भ्रम के नहीं जी सकता। अगर इसकी ठीक मनोवैज्ञानिक परिभाषा करनी हो, तो गृहस्थ वह है, द वन हू कैन नाट लिव विदाउट इल्यूजन्स। उसे भ्रमों के घर बनाने ही पड़ेंगे, उसे कदम-कदम पर भ्रम की सीढ़ियां निर्मित करनी पड़ेंगी।
संन्यासी वह है, जो बिना भ्रम के रहने के लिए तैयार हो गया। जो कहता है, सत्य के साथ ही रहेंगे, चाहे सत्य जार-जार कर दे, तोड़ दे, खंड-खंड कर दे, मिटा दे, नष्ट कर दे, लेकिन अब हम सत्य जैसा है, उसके साथ ही रहेंगे। अब हम भ्रम खड़े न करेंगे।
इसलिए संन्यासी भ्रमों को तोड़ने में लगा रहता है, भ्रांतियों को तोड़ने में लगा रहता है। जहां-जहां उसे लगता है, भ्रांतियां खड़ी की जा रही हैं, वहां-वहां वह तोड़ता है। मन के प्रति सजग होता है कि मन कहां-कहां भ्रांतियां खड़ी करवाता है। देखता है अपने चारों तरफ कि मैं कोई सपने तो नहीं रच रहा हूं जागने में या सोने में। मैं बिना सपने के जीऊंगा।
बिना सपने के जीने की बात बड़ा दुस्साहस है। साधारण साहस नहीं है यह, दुस्साहस है, क्योंकि इंचभर सरकना मुश्किल है बिना सपने के। बिना सपने के इंचभर भी सरकना मुश्किल है। एक कदम न उठेगा। अगर सपने आपसे छीन लिए जाएं, आप यहीं गिर जाएंगे। मिट्टी के ढेर हो जाएंगे।
संन्यासी फिर भी चलता है, उठता है, बैठता है, सारे भ्रम को तोड़कर। और जैसे ही भ्रमों को तोड़ देता है पूरे, वैसे ही उसकी सत्य में गति हो जाती है। टु नो द अनट्रू ऐ.ज अनट्रू इ.ज द ओनली वे टुवर्ड्स ट्रुथ। असत्य को असत्य की भांति जान लेना सत्य की ओर एकमात्र मार्ग है। भ्रांति को भ्रांति की भांति पहचान लेना सत्य की अनुभूति का द्वार है। इसलिए प्राथमिक रूप से संन्यासी को भ्रांतियां तोड़नी पड़ती हैं।
इसलिए संन्यासी के पास अगर कोई रहे, तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। संन्यासी तो मुश्किल में होता है अपने ढंग की, लेकिन उसकी मुश्किल तो ठीक

है, उसके पास कोई रहे, तो बहुत मुश्किल में पड़ जाता है। क्योंकि संन्यासी भ्रम नहीं पोसना चाहता और जो भी उसके पास रहेगा, वह भ्रम पोसना चाहता है। अगर संन्यासी सत्य के ही साथ सीधा जीता है, तो जो भी उसके निकट है, वह अड़चन में पड़ना शुरू हो जाता है। क्योंकि संन्यासी ऐसी बातें कहेगा, इस ढंग से जीएगा कि आप अपने भ्रमों को न पोस पाएंगे। इसलिए एक बहुत दुर्घटना इस जमीन पर घटती रही है और वह यह है कि इस जमीन पर जिन लोगों ने भी सत्य की खोज की है, उनके आसपास के लोग कभी भी उनको प्रेम भी नहीं कर पाए और कभी उनको समझ भी नहीं पाए।
सुकरात की पत्नी तक, जो निकटतम थी उसके, उसको नहीं समझ पाई, क्योंकि सुकरात कोई भ्रम में सहायता न देगा, किसी भ्रम में सहायता न देगा। तो सुकरात और उसकी पत्नी की कलह अनिवार्य हो गई, क्योंकि पत्नी चौबीस घंटे भ्रमों की मांग कर रही है और सुकरात कोई भ्रम नहीं दे सकता। पत्नी के मन में कहीं तो आकांक्षा होती है कि कभी सुकरात कहे कि तुम सुंदर हो। लेकिन सुकरात कहता है, सौंदर्य तो मन का भाव है। शरीर से उसका कोई संबंध नहीं है। ख्याल है। उसका कोई अर्थ नहीं है। अब यह पत्नी बड़ी मुश्किल में पड़ेगी। पत्नी चाहती है कि सुकरात कभी कहे कि तुम्हारे बिना मैं न जी सकूंगा। सुकरात कहता है, सब सबके बिना जी सकते हैं। बल्कि अगर सुकरात से सच पूछो, तो वह कहेगा कि तुम्हारे बिना मैं ज्यादा आसानी से जी सकूंगा। लेकिन यह पत्नी के मन को तो बड़ी तकलीफ होगी, बड़ी पीड़ादाई हो जाएगी बात। बहुत कठिन हो जाएगा, क्योंकि उसके कोई सपने खड़े न हो पाएंगे और वह तैयारी में नहीं है तोड़ने की।
इसलिए जब जीसस ने अपनी मां को कहा कि कोई मेरी मां नहीं है, कोई मेरा पिता नहीं है, तो हम समझ सकते हैं कि मां को कैसी पीड़ा हुई होगी। बेटा चोर होता, बेईमान होता और कह देता कि कोई मेरी मां नहीं, तो मां प्रसन्न भी हो सकती थी कि झंझट मिटी। बदनामी अपने सिर न आएगी। बेटा हो गया है पैगंबर। हजारों लोग उसे भगवान का बेटा मानने लगे हैं। मां बहुत आतुरता से आई होगी कि भीड़ के सामने जीसस कह देगा कि तू मेरी मां है। और जीसस ने कह दिया कि नहीं, कौन किसकी मां! कौन किसका बेटा! कोई किसी का कोई भी नहीं है। तो हम समझ सकते हैं कि मां को, मां के भ्रम को कैसा धक्का लगा होगा।
जब बुद्ध ने अपने पिता को कहा कि आप नहीं जानते कि मैं कौन हूं, आप मुझे नहीं पहचानते। तो बुद्ध के पिता तो क्रोध से भर गए। उन्होंने कहा, मैं तुझे नहीं पहचानता? मैंने तुझे पैदा किया! ये तेरी हड्डियां, और तेरा खून, और तेरा मांस मेरा है। तेरी रगों में जो बह रही है ताकत, वह मेरी है। और मैं तुझे नहीं पहचानता? तू नहीं था, उसके पहले मैं था। बुद्ध ने कहा, वह सब ठीक है। वह खून भी आपका होगा, हड्डियां भी आपकी होंगी, वह शरीर भी आपका होगा, लेकिन मेरा उससे कुछ लेना-देना नहीं, मैं और ही हूं। बुद्ध के बाप ने कहा, तू मुझ से पैदा हुआ है! बुद्ध ने कहा, वह भी ठीक है। लेकिन आप एक चौराहे की तरह थे, जिस पर से मैं आया, लेकिन मेरी यात्रा आपके मिलने के बहुत पहले से चल रही है। आप एक रास्ता थे, जस्ट ए पैसेज, जिससे मैं आया, वह ठीक है। लेकिन अगर दरवाजा यह कहने लगे कि चूंकि मैं उसमें से निकला, इसलिए वह मुझे जानता है, तो भ्रांति हो जाएगी। बाप तो आग-बबूला हो गए। उन्होंने कहा, तू मुझे सिखाता है? सभी बाप आग-बबूला हो जाएंगे कि तू मुझे सिखाता है? बुद्ध सत्य की बात कर रहे हैं, कठिनाई वहीं है और बाप अभी भ्रमों के बीच जीना चाहता है।
बुद्ध की पत्नी ने अपने बेटे को कहा कि राहुल, अपने बाप से वसीयत मांग ले। ये तेरे बाप खड़े हैं। व्यंग्य गहन था। बुद्ध के पास तो कुछ भी न था देने को। लेकिन पत्नी रोष में थी। यह आदमी छोड़कर भाग गया था। बेटे ने तो पहली दफा ही बुद्ध को होश में देखा था, क्योंकि बेटा तो पहले ही दिन का था, पैदा ही हुआ था, तब बुद्ध घर से निकल गए थे। बारह साल बाद लौटे हैं। तो राहुल को सामने खड़ा करके उनकी पत्नी ने कहा कि ये रहे तुम्हारे पिता, जिन्होंने तुम्हें जन्म दिया। भाग गए जन्म देकर। अब मिले हैं, मौका मत चूकना। फिर भाग जाएंगे। इनसे ले लो वसीयत कि मेरे लिए क्या देते हो जगत में! मुझे पैदा कर दिया, तो है क्या?

बुद्ध की पत्नी जो व्यंग्य कर रही है, वह भ्रमों की दुनिया का व्यंग्य है। लेकिन बुद्ध ने कहा कि मेरे निकट आ, बड़ी संपदा मेरे पास है, वह मैं तुझे देता हूं। और जो दिया, वह भिक्षा-पात्र था। और आनंद को कहा, आनंद संन्यास में दीक्षित करो राहुल को। पत्नी तो कंप गई, रोने लगी, लेकिन राहुल दीक्षित हो चुका था। बुद्ध ने कहा, जो मेरे पास श्रेष्ठ है, वही तो मैं दूं। जो संपदा है, वही मैं दूं। जिसको छोड़ गया था, वह विपदा थी। अब मैं संपदा लेकर आया हूं। वही मैं देता हूं।
बुद्ध के बाप रोने लगे और उन्होंने कहा कि तू बर्बाद करके रहेगा। अकेला तू मेरा बेटा था। तेरे जाने से भारी उपद्रव हुआ। अब तेरा बेटा ही मालिक है सारे साम्राज्य का। इसको भी तू संन्यासी कर रहा है! बुद्ध ने कहा, आप भी राजी हो जाएं। क्योंकि यह साम्राज्य पाकर आपको क्या मिला? मुझे छोड़कर क्या खो गया? और यह मेरा बेटा भी इसी चक्की में पिसता रहे, तो क्या मिल जाएगा? मैं इसे संपदा देता हूं।
लेकिन सबको लगा कि बुद्ध भारी अन्याय कर रहे हैं। सारे गांव में दुख
की लहर फैल गई कि बारह साल के लड़के को दीक्षा दे दी। हद अन्याय है। लेकिन बुद्ध जहां जीते हैं, वहां भ्रमों का जगत नहीं है। संन्यासी चौबीस घंटे भ्रम तोड़ने में लगा रहता है। और भ्रम टूटते हैं, तो ही तीन गुणों के पार यात्रा शुरू होती है।
कामवासना आदि वृत्तियों का दहन करना--कामादि वृत्ति दहनम्।
यह दहन शब्द बहुत अदभुत है। दमन नहीं, दहन। दबाना नहीं, जला डालना, राख
कर देना। जैसे एक बीज है, बीज को दबाने से बीज नष्ट नहीं होता। आपको पता है, दबाने से ही अंकुरित होता है। न दबाओ, तो बीज ही रह जाए। दबा दो जमीन में, अंकुर बन जाए। और जब बीज अंकुरित होता है, तो एक बीज से हजार-लाख बीज पैदा हो सकते हैं। जब तक बीज बीज रहता है, एक बीज है। जब अंकुरित होता है, तो लाख हो सकते हैं। बीज को दबाने की भूल भर मत करना, नहीं तो एक बीज के लाख बीज हो जाएंगे।
संन्यासी दबाने में नहीं लगता, नाट इन सप्रेशन। फ्रायड ने तो अभी इस सदी में आकर कहा कि सप्रेशन, दमन जो है, वह रोग है। ऋषि सदा से कहते रहे हैं कि दमन रोग है। दमन से कुछ होगा नहीं। दबाकर क्या होगा? जिसे मैं दबाऊंगा, वह मेरे भीतर घुस जाएगा, और गहरे में उतर जाएगा और अचेतन में जकड़ जाएगा। जिसे मैं दबाऊंगा, वह मेरी गर्दन को और जोर से पकड़ लेगा।
मुल्ला नसरुद्दीन के घर कोई मेहमान भोजन करने को आने को है। मेहमान बड़ा आदमी है। राजनीतिज्ञ, नेता है, भूतपूर्व मंत्री है। और एक और खूबी है कि उसकी नाक इतनी बड़ी है कि उसका मुंह दिखाई नहीं पड़ता, दब जाता है। तो पत्नी ने मुल्ला से कहा कि देखो, एक बात का ध्यान रखना। जो अतिथि आ रहे हैं, उनकी नाक की चर्चा मत चलाना। बात ही मत उठाना। कसम खा लो। नहीं तो कोई गड़बड़ कर दोगे। मुल्ला ने कहा, क्यों उठाएंगे? अपने को दबाकर रखेंगे। संयम रखेंगे। बोलेंगे ही नहीं, पहली बात तो। लेकिन नाक इतनी बड़ी थी कि मुल्ला बड़ी मुश्किल में पड़ गया। देखे तो नाक दिखाई पड़े, आंख बंद करे तो नाक दिखाई पड़े। मुंह तो दिखता ही नहीं था, नाक बहुत बड़ी थी। उन सज्जन की तरफ देखे तो नाक दिखाई पड़े, उनकी तरफ मुंह न करे तो नाक दिखाई पड़े। बहुत परेशानी हो गई। और दमन--दबाता रहा, दबाता रहा, दबाता रहा।
अतिथि ने आखिर पूछा कि नसरुद्दीन, बोलते बिल्कुल नहीं हो? नसरुद्दीन
ने कहा कि न ही बोलूं उसी में सार है। नहीं, ऐसी क्या बात है? पत्नी भी बड़ी हैरान थी कि बहुत संयम रखा। भोजन पूरा होने के ही करीब था। पत्नी ने कहा, ऐसी कोई बात नहीं है। इशारा किया हाथ से कि थोड़ा-बहुत बोल सकते हो। नसरुद्दीन ने भी सोचा, क्या बोलूं। थोड़ी सी मिठाई उठाकर मेहमान को देने लगा। मेहमान ने कहा कि नहीं। तो नसरुद्दीन ने कहा, आपकी नाक में डाल दूं! क्योंकि मुंह तो दिखाई नहीं पड़ता था। बस, भूल हो गई। वह नाक ही नाक तो चल रही थी भीतर। मुंह तो दिखाई पड़ता नहीं था, नाक ही दिखाई पड़ती थी। लगता था कि सज्जन नाक से ही भोजन कर रहे हैं।
जो भी हम दबाते हैं, वह जाता नहीं। दमन से इस जगत में कोई चीज कभी नहीं जाती, सिर्फ इकट्ठी होती है, और फूटती है, विस्फोट होते हैं।
ऋषि कहते हैं, कामादि वृत्ति दहनम्।

जैसे बीज को कोई जला दे, तो फिर वह कभी भी अंकुरित न हो सकेगा। दबा दे,
तो अंकुरित होगा। जला दे, दग्ध कर दे, तो फिर कभी अंकुरित न हो सकेगा। तो संन्यासी अपनी काम की वृत्ति के दहन में लगे रहते हैं, जलाने में लगे रहते हैं। किस आग में जलेगी काम की वृत्ति? तो समझना पड़े। काम की वृत्ति किस पानी से पल्लवित होती है? ठीक उसके विपरीत करने से जल जाएगी।
कभी आपने ख्याल किया कि जब कामना, वासना पकड़ती है मन को, तो चित्त बिल्कुल मूर्च्छित हो जाता है, बेहोश हो जाता है। ऐसा पकड़ लेता है भीतर से जैसे कि नशे में हो गए। वैज्ञानिक कहते हैं, शरीर-शास्त्री कहते हैं कि शरीर के पास भीतरी ग्रंथियां हैं, जिनके पास विषाक्त द्रव्य हैं, जहरीले द्रव्य हैं। और अब नवीनतम खोजें कहती हैं कि शरीर के पास ऐसी ग्रंथियां भी हैं, जिनमें सम्मोहन पैदा करने वाले रस हैं, ड्रग्स हैं। तो जब एक स्त्री आपको सुंदर दिखाई पड़ती है या एक पुरुष सुंदर दिखाई पड़ता है, तब आपके शरीर में नए रासायनिक द्रव्य छूटने शुरू हो जाते हैं, जो कि हेल्यूसिनेशन पैदा कर देते हैं, जो कि सौंदर्य का भ्रम पैदा कर देते हैं। और जब आप कामवासना से भरे होते हैं, तब आप होश में नहीं होते, आप करीब-करीब बेहोश होते हैं, नशे में होते हैं। नशे में कुछ भी हो सकता है। होश आते ही पछताते हैं।
ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो अपनी वासना-पूर्ति के बाद पछताता न हो। पश्चात्ताप करता है, रोता है, सोचता है, क्या किया! क्या पागलपन! क्या नासमझी! लेकिन फिर थोड़े ही घंटे बीते हैं कि फिर वासना पकड़ लेती है, फिर रस बन गए। फिर शरीर में हेल्यूसिनेशन के द्रव्य इकट्ठे हो गए। अब वे फिर भ्रम पैदा करवा देंगे। फिर वही मूर्च्छा, फिर वही मूर्च्छा।
मूर्च्छा कामवासना के लिए पानी का काम करती है। इसलिए कामातुर जो व्यक्ति है, वह बहुत जल्दी शराब की तलाश में निकल जाता है। अगर ऋषियों ने शराब और नशे का विरोध किया है, तो इसलिए नहीं कि शराब अपने आप में कुछ बुरी है, बल्कि इसलिए कि वह उस आदमी की तलाश है जो अपनी कामवासना को सींचना चाहता है। जिन लोगों की कामवासना शिथिल हो गई होती है, शरीर शिथिल हो गया होता है, वे लोग शराब पी-पीकर अपनी वासना को सजग करने की चेष्टा में लगे रहते हैं।
मूर्च्छा, बेहोशी, तंद्रा, कामवासना के लिए जल का काम करती है, सींचती है; तो होश, जागरण, विवेक, ध्यान, कामवासना को दग्ध करने का काम करता है। जिस क्षण आप पूरे होश में होते हैं, उस क्षण कामवासना नहीं रह सकती भीतर। जिस दिन भीतर होश की पूरी अग्नि जलती है, कामवासना जल जाती है। इसे थोड़ा और तरफ से भी देखना जरूरी है।
पशुओं के जगत में बहुत से राज छिपे हैं। और आदमी अपने को समझना चाहे,
तो पशुओं को समझना जरूरी है, क्योंकि आदमी के भीतर बहुत कुछ हिस्सा पशुओं का है।
अफ्रीका में एक मकोड़ा होता है। जब भी नर मकोड़ा मादा मकोड़े के साथ संभोग में जाता है, इधर मकोड़ा संभोग शुरू करता है, उधर मादा उस मकोड़े के शरीर को खाना शुरू कर देती है। एक ही संभोग कर पाता है वह मकोड़ा, क्योंकि वह संभोग करता रहता है और मादा उसके शरीर को खाती चली जाती है।
वैज्ञानिक जब उसके अध्ययन में थे, तब बड़े हैरान हुए कि क्या उस मकोड़े
को यह भी पता नहीं चलता कि मैं मारा जा रहा हूं, खाया जा रहा हूं, नष्ट किया जा रहा हूं! मकोड़ा संभोग के बाद मुर्दा ही गिरता है। उसकी लाश को मादा खा जाती है पूरा। बस, एक ही संभोग कर पाता है। दूसरे मकोड़े यह देखते रहते हैं, लेकिन जब उनकी संभोग की वृत्ति जगती है तब वे भूल जाते हैं कि मौत में उतर रहे हैं। तो शरीर-शास्त्रियों ने उस मकोड़े का बहुत अध्ययन करके पता लगाया कि उसके शरीर में बड़ी गहरी विषाक्तता है। जब कामवासना पकड़ती है उसको, तो उसे इतना भी होश नहीं रह जाता कि मैं काटा जा रहा हूं, मारा जा रहा हूं, खाया जा रहा हूं। यह भी भूल जाता है।
आश्चर्यजनक है। लेकिन अगर हम अपने को भी समझें, तो आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगा। वह कीड़ा है, इससे क्या फर्क पड़ता है? इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वही स्थिति मनुष्य की है। वह जानता है, भलीभांति पहचानता है। फिर वासना पकड़ लेती है, फिर वासना पकड़ लेती है। वासना के बाद अनुभव भी होता है कि व्यर्थ है, कोई अर्थ नहीं है। लेकिन उस व्यर्थता के बोध का कोई लाभ नहीं

होने वाला है, क्योंकि जब तक बेहोशी न टूटे, वह फिर आ जाएगा; जिसको व्यर्थ कहा, वह फिर सार्थक हो जाएगा।
इसलिए ऋषि यह नहीं कहते कि उसे दबाओ। वे कहते हैं, इतने जागो, होश की इतनी अग्नि पैदा करो, द फायर आफ अवेकनिंग, कि उसमें सब दग्ध हो जाए। और जब कामवासना दग्ध हो जाती है, तो और शेष वासनाएं अपने आप दग्ध हो जाती हैं। यह कोई फ्रायड की नई खोज नहीं है कि कामवासना सब वासनाओं का केंद्र है। यह तो ऋषि सदा से जानते रहे हैं। यह जिन्होंने भी खोज की है मनुष्य की अंतरात्मा में, वे सदा से जानते रहे हैं कि बाकी सारी वासनाएं कामवासना से ही पैदा होती हैं।
मुल्ला नसरुद्दीन मरकर स्वर्ग के द्वार पर पहुंचा। सेंट पीटर ने, जो
कि स्वर्ग के द्वारपाल हैं, उन्होंने मुल्ला नसरुद्दीन से पूछा कि जमीन पर काफी देर रहे--क्योंकि वह एक सौ दस वर्ष का होकर मरा--नसरुद्दीन से पूछा कि काफी देर जमीन पर रहे, कभी चोरी की, बेईमानी की? नसरुद्दीन ने कहा, कभी नहीं। कभी शराब पी, नशा किया? नसरुद्दीन ने कहा, इन बातों से सदा दूर रहे। स्त्रियों के पीछे भागते रहे? नसरुद्दीन ने कहा, कैसी बातें करते हैं आप! तो सेंट पीटर ने कहा, देन व्हाट यू वर डूइंग देअर फॉर सच ए लांग टाइम? एक सौ दस वर्ष तक तुम वहां कर क्या रहे थे जमीन पर? इतना लंबा वक्त! अगर स्त्रियों के पीछे भी नहीं दौड़ रहे थे, तो गुजारा कैसे?
वह ठीक है बात। जिसको हम जिंदगी कहते हैं, वह ऐसी ही दौड़ है। स्त्री पुरुषों के पीछे, पुरुष स्त्रियों के पीछे। और यह कोई आदमी ही कर रहा है, ऐसा नहीं; वृक्ष, पौधे, पशु, पक्षी, सभी वही कर रहे हैं। लेकिन हां, आदमी होश से भर सकता है। यह उसके लिए एक अवसर है।
इसलिए पशुओं को हम दोषी नहीं ठहरा सकते कि वे कामुक हैं। कामुकता के पार जाने का उनके पास फिलहाल कोई उपाय नहीं है। जिस जगह उनकी चेतना है, उस जगह से कोई रास्ता कामवासना के पार जाने के लिए नहीं निकलता। लेकिन आदमी को दोषी ठहराया जा सकता है, दोषी है, क्योंकि वह पार जा सकता है। और जब तक पार न जाए, तब तक कोई तृप्ति, कोई संतोष, कोई आनंद उसे उपलब्ध होने को नहीं है।
ऋषि कहते हैं, संन्यासी क्या करते रहते हैं--कामादि वृत्ति दहनम्।
जलाते रहते हैं, दग्ध करते रहते हैं काम की वृत्ति को। क्योंकि काम की वृत्ति ही संसार के फैलाव का मूल स्रोत है।
सभी कठिनाइयों में दृढ़ता ही उनका कौपीन है।
एक ही उनकी सुरक्षा है, एक ही उनका वस्त्र है--सभी कठिनाइयों में दृढ़ता। सभी कठिनाइयों में! कठिनाइयां होंगी ही, बढ़ ही जाएंगी। क्योंकि गृहस्थ तो और तरह के इंतजाम कर लेता है--तिजोरी है, बैंक बैलेंस है, मकान है, मित्र हैं, प्रियजन हैं, सगे-संबंधी हैं--बहुत इंतजाम कर लेता है। संन्यासी के पास तो कोई भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। उसकी आंतरिक दृढ़ता के अतिरिक्त उसके पास और कोई उपाय नहीं है। जब कठिनाइयां आती हैं, तो गृहस्थ कठिनाइयों से लड़ने के लिए बाहर इंतजाम कर लेता है। संन्यासी के पास तो सिर्फ भीतरी ऊर्जा और शक्ति है। जब कठिनाइयां आती हैं, तब वह भीतर से ही अपनी ऊर्जा को दृढ़ करके कठिनाइयों से लड़ सकता है। और तो कोई उपाय नहीं। संन्यासी अकेला है।
पर एक मजे की बात है कि जितना आप भीतर की शक्ति का उपयोग करते हैं कठिनाइयों में, उतने ही क्रमशः दृढ़ होते चले जाते हैं। और एक दिन ऐसा आ जाता है कि कठिनाइयां कठिनाइयां नहीं मालूम पड़तीं; बड़ी सरलताएं, बड़ी सुगमताएं हो जाती हैं। क्योंकि वह तो तुलनात्मक है; जब आप भीतर चट्टान की तरह दृढ़ हो जाते हैं, तो बाहर की कठिनाइयों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए एक बड़े मजे की घटना घटती है। गृहस्थ बहुत इंतजाम करता है बाहर कठिनाइयों से लड़ने का, कठिनाइयां बढ़ती चली जाती हैं, क्योंकि भीतर गृहस्थ दुर्बल होता चला जाता है। उसका रेजिस्टेंस कम होता चला जाता है।
अगर आप धूप में बिल्कुल नहीं बैठते, छाया में ही बैठते हैं, तो जरा सी धूप भी तकलीफ दे देगी, क्योंकि रेजिस्टेंस कम हो जाएगा, आपकी प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाएगी। लेकिन एक दूसरा आदमी गड्ढे खोद रहा है धूप में, छाया में बैठने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिलता। वह घंटों, दिनभर धूप में गड्ढे

खोद रहा है और धूप उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाती है। कारण क्या है? उसके पास प्रतिरोधक शक्ति, रेजिस्टेंस, इनर फोर्स खड़ी हो जाती है।
इसलिए आदमी को जितनी दवाइयां मिलती जाती हैं, उतनी बीमारियां बढ़ती चली जाती हैं। क्योंकि रेजिस्टेंस तो टूटता चला जाता है। आदमी को जितनी सुविधाएं मिलती जाती हैं, उतनी असुविधाएं बढ़ती चली जाती हैं। आदमी जितना इंतजाम कर लेता है, उतना ही पाता है कि मुश्किल में पड़ गया है। क्योंकि सब इंतजाम बाहर होता है और भीतर से जो इंतजाम हो सकता था, उसका इंतजाम टूट जाता है। जब उसकी जरूरत ही नहीं रह जाती, बात समाप्त हो जाती है।
बायजीद नग्न घूम रहा था रेगिस्तान में। एक सूफी फकीर था। कुछ राहगीरों ने उसे देखा और उन्होंने कहा कि जलती धूप में, आग पड़ते रेगिस्तान में तुम नग्न घूम रहे हो? फिर रात रेगिस्तान बर्फीला हो जाता है, ठंडा, तब भी तुम नग्न ही पड़े रहते हो। बात क्या है? राज क्या है? तो बायजीद ने कहा कि अपने चेहरे से पूछो। तुम्हारे चेहरे पर भी वही चमड़ी है, जो तुम्हारे हाथ में, तुम्हारे पैर में, तुम्हारी छाती में है। लेकिन चेहरा धूप में भी परेशान नहीं होता, सर्दी में भी परेशान नहीं होता। उसका कुल कारण इतना है कि चेहरा सदा से खुला है, उसका रेजिस्टेंस ज्यादा है। बाकी सारा शरीर ढंका है, उसका रेजिस्टेंस कम है। बायजीद ने कहा कि हमने पूरे शरीर को ही चेहरे की तरह कर लिया, तब से धूप और सर्दी का पता नहीं चलता।
संन्यासी के पास जब बाहर कोई इंतजाम नहीं, तो भीतर इंतजाम है।
इस दिशा में एक बात और समझ लेनी जरूरी है जो कि पूरब और पश्चिम का बुनियादी फर्क है। पश्चिम ने सब इंतजाम बाहर किए, इसलिए भीतर पश्चिम बिल्कुल दुर्बल और इंपोटेंट हो गया, बिल्कुल नपुंसक हो गया। इंतजाम उन्होंने बहुत बढ़िया कर लिए बाहर। रेगिस्तान में भी हो, तो भी शीतल इंतजाम हो सकता है। बीमारी हो, तो तत्काल दवाइयां पहुंचाकर बीमारी से लड़ा जा सकता है। अगर एक तरह के जर्म्स शरीर को पकड़ लिए हैं, तो उनसे विपरीत जर्म्स फौरन शरीर में डालकर उनको मिटाया जा सकता है। सब इंतजाम कर लिया है। लेकिन आंतरिक शक्ति रोज दीन होती चली गई।
पूरब ने एक दूसरा प्रयोग किया था। वह प्रयोग यह था कि हम बाहर से सहायता न लेंगे लड़ने के लिए, हम भीतर की शक्ति से ही लड़ेंगे। इसका फायदा हुआ। एक फायदा हुआ कि पूरब भीतर से समृद्ध हुआ, लेकिन एक नुकसान हुआ कि बाहर से दरिद्र हो गया, बाहर से गरीब होता चला गया। और बाहर की गरीबी दिखाई पड़ती है और भीतर की समृद्धि दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए पश्चिम से जब कोई आता है, तो पूरब की बाहर की दरिद्रता को देखकर कहता है, क्या बुरी हालत है! भीतर का तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता। भीतर का दिखाई पड़ नहीं सकता।
पूरब ने एक प्रयोग किया था। वह यह था कि हम व्यक्ति की चेतना को ही दृढ़ करते रहेंगे, ताकि सब परिस्थितियों में वह स्वयं इतना दृढ़ हो कि पार हो जाए। पश्चिम ने एक प्रयोग किया कि हम बाहर की परिस्थितियों को ऐसा बना देंगे कि व्यक्ति को लड़ने की जरूरत ही न रह जाए। लेकिन जो लड़ता नहीं, वह लड़ने की क्षमता खो देता है। लड़ने की क्षमता कायम रखनी हो, तो लड़ना जारी रखना पड़ता है।
पर निर्भर इस पर करता है कि आप किस शक्ति को जगाना चाहते हैं। अगर भीतर की शक्ति को जगाना चाहते हैं, तो ऋषि ठीक कहता है कि सभी कठिनाइयों में दृढ़ता। अरक्षित, इनसिक्योर्ड, बिना इंतजाम के सारी कठिनाइयों को झेल लेने की जो बात है, उससे भीतर की प्रतिरोधक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि कठिनाइयां नीचे पड़ी रह जाती हैं और चेतना पार निकल जाती है।
सदैव संघर्षों में ही उनका वास है--चिराजिनवासः।
संघर्ष ही उनका घर है। संघर्ष ही उनका आवास है। इसे थोड़ा सा समझ लेना जरूरी है।
संघर्ष ही उनका आवास है। एक तो संघर्ष है दूसरों से, परायों से। वह हिंसा है। एक संघर्ष है स्वयं से, अपने से। वह संघर्ष हिंसा नहीं है। एक संघर्ष है, जब हम किसी को जीतने जाते हैं, वह पाप है। यह संघर्ष है, जब हम स्वयं को अपराजेय बनाने जाते हैं, वह संघर्ष पुण्य है।
ऋषि कहता है, संघर्ष उनका वास है।

वे चौबीस घंटे स्ट्रगल में हैं, किसी और से नहीं। असुरक्षित हैं, कोई उनके पास व्यवस्था नहीं, अनजाने भविष्य में कदम रख देते हैं बिना योजना के। सुबह उठते हैं, तभी जानते हैं कि सुबह ने क्या मौजूद किया, उससे गुजरते हैं। रात आती है, तब जानते हैं कि रात ने क्या मौजूद किया, तब उससे गुजरते हैं। लिविंग मोमेंट टु मोमेंट--एक-एक क्षण जीते हैं। निश्चित ही संघर्ष होगा। एक-एक क्षण जो जीएगा, संघर्ष होगा।
हम तो भविष्य को व्यवस्थित करके जीते हैं। व्यवस्था का अर्थ ही है, संघर्ष को कम कर लेना। कल क्या करना है, कैसे करना है, उसका हमने पूर्व इंतजाम कर लिया, तो कल संघर्ष न्यून हो जाएगा, कम हो जाएगा। कल अनजान, अपरिचित, अननोन में उतर जाना है, ऐसे ही जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसकी गहराइयों का पता न हो। जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसके किनारों का पता न हो। जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसके तूफानों का कोई पता न हो। बिना किसी इंतजाम के!
संन्यासी ऐसे ही जीवन में चलता है बिना किसी इंतजाम के। क्यों? इस संघर्ष की जरूरत क्या है? क्योंकि संन्यासी जानता है कि इसी संघर्ष से निखार है। इसी रोज-रोज के संघर्ष से, क्षण-क्षण के संघर्ष से निखार पैदा होता है। वह जो निखार है व्यक्तित्व का, वह जो प्रतिभा पर धार आती है, वह इसी संघर्ष से आती है। यह संघर्ष किसी और से नहीं है। यह किसी दूसरे से नहीं है। यह संघर्ष सहज जीवन की धारा से है। और इस संघर्ष में कोई दुख भी नहीं है, कोई पीड़ा भी नहीं है।
इसलिए ऋषि कहता है, संघर्ष उनका घर है। संघर्ष से कोई शत्रुता भी नहीं है। यही उनका आवास है। इससे कोई दुश्मनी नहीं है, यही उनका आसरा, यही उनकी छाया, इसी के नीचे वे विश्राम करते हैं।
ध्यान रखें, संघर्ष को घर कहना बड़ी उलटी बात मालूम पड़ती है। संघर्ष ही उनकी छाया, उनका विश्राम, उनका बिछौना। इसका अर्थ हुआ कि संघर्ष के प्रति कोई शत्रुता का भाव नहीं। इसका अर्थ हुआ कि वे संघर्ष को संघर्ष नहीं मानते, वे उसे जीवन का सहज क्रम मानते हैं। वे मानते हैं कि ऐसा होगा ही। सिकंदर हिंदुस्तान से लौटता है। एक संन्यासी को ले जाना चाहता है यूनान। नंगी तलवारों से उस संन्यासी को घेर लिया जाता है और कहा जाता है कि तुम यूनान की तरफ चलो। वह संन्यासी कहता है कि मैंने जिस दिन संन्यास लिया, उसी दिन से मैंने किसी की आज्ञा माननी बंद कर दी है। तो सिकंदर कहता है, ये नंगी तलवारें देखते हो, ये अभी काटकर तुम्हें टुकड़े-टुकड़े कर देंगी। वह संन्यासी कहता है, जिस दिन मैंने संन्यास लिया, उस दिन जो काटा जा सकता था, उससे मैंने संबंध विच्छिन्न कर लिया। तुम काटोगे जरूर, लेकिन मुझे नहीं। तुम उसी को काटोगे, जिसे हम खुद ही अपने से काट चुके हैं। सिकंदर का इतिहास लिखने वाले लोगों ने लिखा है कि सिकंदर की तलवार और हाथ पहली दफे कंपा हुआ दिखाई पड़ा। हाथ उठाया भी और रुक गया। सामने एक हंसता हुआ आदमी खड़ा था! सिकंदर ने पूछा उस संन्यासी को--उसका नाम था ददामि--उससे पूछा कि क्या तुम्हारे मन में ऐसा नहीं लगता कि कैसा दुर्भाग्य तुम्हारे ऊपर आ गया? उस संन्यासी ने कहा, सौभाग्य की अपेक्षा ही हम नहीं रखते। जो आ जाए, हम उसके लिए राजी हैं।
संघर्ष ही उनका आवास है। इस संघर्ष के प्रति कोई भी विरोध नहीं है, तो
ही आवास बनेगा संघर्ष। अगर विरोध है, तो आवास नहीं बनेगा। संघर्ष का स्वीकार है, तभी तो वह आवास बनेगा। उसका विरोध भी नहीं है। क्योंकि संन्यासी मानता है, जीवन एक पाठशाला है, जहां संघर्ष शिक्षण की पद्धति है। जो जितना अपने को संघर्ष से बचा लेगा, वह उतना ही अपने को शिक्षित होने से बचा लेता है।
सुना है मैंने कि एक अरबपति महिला एक समुद्र तट पर विश्राम करने के लिए उतरी। होटल के सामने उसकी कार रुकी। जितने कुली वहां खड़े थे, उसने कहा, सब आ जाओ! कुली भी थोड़े चकित हुए। इतना सामान तो गाड़ी में नहीं होगा। एक-एक सामान एक-एक कुली को पकड़ा दिया। और फिर एक छोटा बच्चा बचा। उस महिला का एक मोटा-तगड़ा बच्चा अभी आराम से बैठा था गाड़ी में। उसने उस कुली लड़के से कहा, तुम इसको कंधे पर उठा लो। उस लड़के ने कहा, लेकिन क्या इसके पैर खराब हैं? उस बूढ़ी औरत ने कहा, थैंक गॉड, हि.ज लेग्स आर आलराइट, बट थैंक गॉड ही विल हैव

नेवर टु यू.ज देम। उसके पैर बिल्कुल ठीक हैं, लेकिन भगवान की कृपा कि उसको कभी उनके उपयोग करने की जरूरत न पड़ेगी। उठाओ कंधे पर।
अब अगर पैरों को उठाने की भी जरूरत न पड़े, तो पैर शक्ति खो देंगे।
धीरे-धीरे शक्ति खो जाएगी। चलते रहें, तो ही उनकी शक्ति है। न चलें, उनकी शक्ति तिरोहित हो जाएगी। हम जिसका उपयोग करते हैं, वह सक्रिय हो जाता है। संन्यासी अपनी पूरी चेतना का उपयोग करता है जीवन के संघर्ष में। कहीं बचाव नहीं करता। कहीं आड़ नहीं लेता। कहीं छिपता नहीं।
नसरुद्दीन सेना में भर्ती हुआ था। युद्ध चल रहा था जोर से। सभी जवान भर्ती कर लिए गए थे। नसरुद्दीन भी भर्ती हो गया था। जो जनरल था, वह नसरुद्दीन से बहुत प्रभावित हुआ। क्योंकि कैसी भी हालत हो, नसरुद्दीन सदा जनरल के पीछे खड़ा रहता। कितना ही संघर्ष हो, कितना ही उपद्रव हो, बम गिरते हों, तलवारें चलती हों, तीर आते हों, कुछ भी हो, आगजनी हो, नसरुद्दीन कभी जनरल का पीछा न छोड़ता। युद्ध समाप्त हुआ, तो जनरल ने कहा, नसरुद्दीन तुम बहुत बहादुर आदमी हो। इतना बहादुर आदमी मैंने नहीं देखा। हर हालत में तुम मेरे साथ रहे। नसरुद्दीन ने कहा, सच्चाई बताएं? जब मैं घर से चलने लगा, तो मेरी पत्नी ने कहा, सदा जनरल के पीछे रहना, क्योंकि जनरल कभी मारे नहीं जाते। उसी कारण से आपके पीछे तकलीफें उठाकर भी लगा रहा।
घर लौट आए नसरुद्दीन, लेकिन तलवार पकड़ना भी सीख न पाए थे, क्योंकि आड़ में ही समय बीता। लेकिन गांव में खबर फैल गई कि नसरुद्दीन लौट आए हैं युद्ध से। तो काफी हाउस में भीड़ इकट्ठी हो गई और लोग नसरुद्दीन से पूछने लगे कि कुछ सुनाओ। नसरुद्दीन क्या सुनाएं! उन्होंने कुल एक ही काम किया था। फिर भी कुछ सुनाना जरूरी था, सोचने लगे। तभी एक और सैनिक काफी हाउस में बैठा था। उसने कहा, कुछ बताते नहीं! इतना भयंकर युद्ध हुआ, मैंने अकेले सैकड़ों आदमियों की गर्दनें काट दीं। और नसरुद्दीन, तुम तो तमगा लेकर लौटे हो जनरल का कि तुम बड़े बहादुर आदमी हो! नसरुद्दीन ने कहा कि गर्दनें? ऐसा हुआ एक बार कि तीन-चार आदमियों के पैर मैंने काट दिए।
उस सैनिक ने कहा, पर यह बहादुरी हमने पहले कभी नहीं सुनी। आदमी काटता
है तो गर्दन! नसरुद्दीन ने कहा, गर्दन तो कोई पहले ही काट चुका था। गर्दन तो कोई पहले ही काट चुका था, नो अपर्चुनिटी, तो मैंने उठाई तलवार और चार-छह आदमियों के पैर धड़ल्ले से काट दिए।
इतनी ही बहादुरी करके वह लौटे थे। स्वाभाविक है। आड़, और आड़, और आड़, तो जिंदगी ऐसी ही हो जाती है--लोच-पोच। उसमें कुछ बचता नहीं। भीतर का सत्व गिर जाता है, नीचे गिर जाता है।
संघर्ष ही उनका आवास है। आड़ में वे नहीं जीते। खुले, वलनरेबल, ओपन, जो
भी हो, राजी। तूफान आए, आंधियां आएं, दुख आएं, पीड़ा आएं, मौत आए--वलनरेबल-- सदा खुले।
अनाहत जिनका मंत्र, अक्रिया जिनकी प्रतिष्ठा। अनाहत मंत्रम्।
इन संन्यासियों का मंत्र क्या है? इनकी साधना क्या है? तो ऋषि कहता है, अनाहत मंत्र। इसे थोड़ा जाना पड़े भीतर।
मनुष्य के भीतर, हमारे शरीर के भीतर सात चक्र हैं। उनमें एक चक्र है अनाहत। प्रत्येक चक्र से साधना हो सकती है। इसलिए प्रत्येक चक्र की साधना अलग-अलग है। और प्रत्येक चक्र का मंत्र भी अलग-अलग है। और उस मंत्र के द्वारा उस चक्र पर चोट की जाती है। वह चक्र सक्रिय हो जाता है तो उसमें छिपी हुई ऊर्जा ऊपर की तरफ यात्रा पर निकल जाती है।
यह ऋषि कहता है कि संन्यासी का मंत्र तो अनाहत है। वह जो अनाहत चक्र है, वहीं वह चोट करता है। उस चोट की अपनी ध्वनियां हैं, जिनसे अनाहत पर चोट की जाती है। जैसे सोहम्, अनाहत पर चोट करने का ध्वनि-सूत्र है।
आपने कभी ख्याल न किया होगा कि जब भी आप कोई शब्द बोलते हैं, तो उसकी चोट आपके शरीर के अलग-अलग हिस्सों में पड़ती है। अगर आप भीतर कहें ओम, तो हृदय से नीचे तक ओम की ध्वनि नहीं जाएगी। ओम का अधिक गुंजार मस्तिष्क में होगा। जैसे आप यहां उच्चारण कर रहे हैं हू, तो हू ठीक सेक्स सेंटर तक जाएगा। इसलिए बहुत से मित्र मुझे आकर कहते हैं कि अजीब बात है, इस हू के प्रयोग करने से हमारी तो कामवासना उठती हुई मालूम पड़ती है। पड़ेगी। क्योंकि उसकी चोट ठीक सेक्स सेंटर तक जाती है, काम-केंद्र तक जाती है।

हर शब्द की गहराई है आपके भीतर। हर ध्वनि आपके भीतर अलग गहराइयों तक प्रवेश करती है। इसलिए मंत्र गुरु के द्वारा दिया जाता रहा। उसका और कोई कारण नहीं था। और जब गुरु मंत्र देता है, तो कई दफे लेने वाले को लगता है कि अरे, यह मंत्र! यह तो हमें पहले ही मालूम था। और गुरु के पास गए, उन्होंने बड़े प्राइवेट में, और बड़े कान में कहा कि राम-राम बोलना। हद हो गई, यह भी कोई मंत्र हुआ? यह राम-राम किसको पता नहीं है? यह तो हम पहले ही से बोल रहे थे। तो गुरु ने ऐसा कौन सा खूबी का काम कर दिया कि कान में कह दिया, राम-राम बोलना। उसके कारण और हैं। राम-राम तो आपको परिचित है, लेकिन आपके उपयोग का है या नहीं, यह आपको पता नहीं है।
और कई बार गलत मंत्रों का उपयोग लोग करते रहते हैं, जो उन्हें नहीं करना चाहिए। क्योंकि हो सकता है, उन मंत्रों के उपयोग से उनके भीतर जहां चोट पड़ती हो, वह उन्हें कठिनाई में डाले। जैसे कि मैं हू पर आग्रह करता हूं। क्योंकि मेरा मानना है कि हमारा युग कामातुर युग है। सेक्स सेंटर इ.ज द मोस्ट सिग्नीफिकेंट टुडे। आज की अधिकतम बीमारियां, आज की अधिकतम चिंता, आज की अधिकतम परेशानी, काम-केंद्र से जुड़ी है। तो अगर इस युग में कोई भी रूपांतरण करना है, तो एक ऐसी ध्वनि का उपयोग करना पड़ेगा, जो काम-ऊर्जा को जगाए और कुंडलिनी की तरफ प्रवाहित कर दे।
संन्यासी का मंत्र अनाहत है, क्योंकि संन्यासी वह है जिसकी काम-ऊर्जा कुंडलिनी की तरफ चल पड़ी। उसे वहां चोट करने का सवाल नहीं है। अब वह अनाहत पर चोट करे। अनाहत, सोहम्।
अनाहत का अर्थ होता है, जो बिना चोट के पैदा हो--बिना आहत, बिना किसी चोट के। अगर हम दोनों तालियां बजाएं तो यह आहत ध्वनि है। क्योंकि दो चीजों की चोट हुई, तब यह पैदा हुई। जो भी ध्वनि चोट से पैदा होगी, वह आहत ध्वनि है। वह अनाहत चक्र तक नहीं पहुंचेगी। अनाहत तक एक ही ध्वनि पहुंच सकती है, जो बिना चोट के पैदा होती है।
झेन फकीर जापान में कहते हैं अपने साधक को कि जाओ और खोजो उस ध्वनि को,
जो एक ही हाथ से पैदा होती है। एक ही हाथ से कोई ध्वनि पैदा नहीं होती। एक ध्वनि है जो अनाहत है, जैसे सोहम्। सोहम आपको पैदा नहीं करना पड़ता। अगर आप शांत बैठ जाएं और केवल अपनी श्वासों को देखते रहें आते और जाते, कमिंग इन, गोइंग आउट, सिर्फ श्वास को देखते रहें। थोड़ी ही देर में श्वासों में सोहम का उच्चार शुरू हो जाएगा बिना आपके। श्वासों की गति ही सोहम के उच्चार को पैदा करती है। श्वास के होने में ही सोहम की ध्वनि छिपी हुई है। इसलिए सोहम न तो संस्कृत है, न किसी और भाषा का है। सोहम्, कहें, निसर्ग की ध्वनि है, जो आपके भीतर श्वास से पैदा होती रहती है।
यह अनाहत ध्वनि है। इस ध्वनि की चोट अनाहत चक्र पर होती है। और इस ध्वनि की चोट बड़ी गहरी और बड़ी बारीक और बड़ी सूक्ष्म है। और अनाहत चक्र में वह सारी शक्ति छिपी है, जो ऊर्ध्वगमन के लिए साधन बनती है।
संन्यासी का मंत्र अनाहत है। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता जो ओंठों से बोला जाए। क्योंकि जो ओंठों से बोला जाएगा, वह ओंठों से गहरा नहीं जाता। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता, जो कंठ से बोला जाए। क्योंकि जो कंठ से बोला जाएगा, वह कंठ तक ही रह जाता है। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता, जो मन से बोला जाए। क्योंकि जो मन से बोला जाएगा, वह मन के पार नहीं ले जा सकता।
ऋषियों ने एक ऐसे मंत्र को खोजा है, जो अनाहत है। जो न कंठ से बोला जाता है, न ओंठ से बोला जाता--जो बोला ही नहीं जाता, अबोला है, अजपा है। उसका जप नहीं होता। उसका जप चल ही रहा है, सिर्फ हमने सुना नहीं है। जैसे कभी अंधेरी रात में सन्नाटा होता है। आप गपशप में लगे हैं, सुनाई नहीं पड़ता है। फिर गपशप बंद हो गई, आप अकेले बैठे हैं, अचानक चारों तरफ सन्नाटे की आवाज गूंजने लगती है। वह जब आप बोल रहे थे, तब भी गूंज रही थी, लेकिन आपके बोलने में इतनी दबी थी।
मुल्ला नसरुद्दीन एक संगीतज्ञ को सुनने गया है। साथ में उसकी पत्नी है। संगीतज्ञ बड़े जोर से आलाप भर रहा है। शास्त्रीय संगीतज्ञ है। नसरुद्दीन बड़ा बेचैन हो रहा है। पत्नी बड़ी आनंदित हो रही है। पत्नी ने आखिर में पूछा, कैसा लग रहा है संगीत? अदभुत है! पत्नी ने कहा, अदभुत है!

कैसा लग रहा है संगीत? नसरुद्दीन ने कहा, जरा जोर से बोलो, इस दुष्ट की वजह से कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा है। यह इतने जोर से चिल्ल-पों मचा रहा है कि तू क्या कहती है, कुछ सुनाई नहीं पड़ता। तो उसकी पत्नी ने कहा कि तुम बड़े डोल रहे थे, हिल रहे थे, तो मैं समझी कि तुम बड़े आनंदित हो रहे हो।
नसरुद्दीन ने कहा, मैं बड़ा बेचैन हो रहा हूं। अपने घर जो बकरा मरा था,
वह भी इसी हालत में मरा था। इसी तरह आलाप भर रहा था। तो मैं यह देख रहा हूं कि यह आदमी अब मरा, अब मरा। यह बिल्कुल आखिरी घड़ी में है। इसको बचाना बिल्कुल मुश्किल है। बकरे को भी अपन बचा नहीं पाए थे। तो मैं इसलिए हिल-डुल रहा हूं कि कोई उपाय हो सकता है इसको बचाने का कि नहीं। यह दुष्ट बोलना बंद करे, तो मैं सुन पाऊं कि तू क्या कहती है, नसरुद्दीन कह रहा है। और वह पूछ रही है कि अदभुत है यह संगीत!
हम जब बंद हों, यह हमारा शास्त्रीय संगीत जो चल रहा है चौबीस घंटे, यह
जब बंद हो, तो हमें अनाहत नाद का पता चले। वह चल रहा है पूरे वक्त। कहना चाहिए वह बायोलाजिकल है, बिल्ट-इन बायोलाजिकल है। वह हमारे होने में ही है। एग्झिस्टेंशियल है। जब कुछ भी ध्वनि नहीं रह जाती भीतर, तब भी एक ध्वनि रह जाती है, जो हमारी पैदा की हुई नहीं है, अनाहत है। अपने आप हो रही है, स्व-आविर्भूत है। उस ध्वनि का नाम अनाहत है। और वह ध्वनि जहां चोट करती है, उस चोट के स्थान का नाम अनाहत चक्र है।
और अनाहत की वह ध्वनि ही संन्यासी का मंत्र है, क्योंकि संन्यासी उसकी ही खोज पर निकला है, जो असृष्ट है, अनक्रिएटेड है। संसारी उसकी खोज पर निकला है, जो बनाया हुआ है, बनाया गया है। संन्यासी उसकी खोज पर निकला है, जो अनबना है, अनक्रिएटेड है। अगर अनबने को खोजना है, अनबना ही ब्रह्म है, तो फिर अनबने साधन से ही खोजना पड़ेगा।
अनाहत उसका मंत्र है। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है।
वह क्रिया में नहीं जीता, वह अक्रिया में ही प्रतिष्ठित रहता है क्रिया करते हुए भी। इसलिए कहा, अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। ऐसा नहीं कहा कि वह क्रिया नहीं करता है। अक्रिय हो जाता है, ऐसा भी नहीं कहा। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। चलता है, लेकिन चलते समय भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जो कभी नहीं चला है। बोलता है, लेकिन बोलते समय भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जो मौन है। भोजन करता है, लेकिन भोजन करते वक्त भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जिसके लिए भोजन की कोई भी जरूरत नहीं है।
अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है।
क्रिया तो संन्यासी भी करेगा। चलेगा, उठेगा, बैठेगा, सोएगा, भोजन करेगा, थकेगा, विश्राम करेगा। क्रिया तो संन्यासी को भी करनी ही पड़ेगी। इस जगत में क्रिया तो अनिवार्य है। इसलिए अगर कोई सोचता हो कि अक्रिया कर लूंगा, तो संन्यासी हो जाऊंगा, तो गलती है। अक्रिया तो सिर्फ मरने से ही होती है। जीवन में क्रिया अनिवार्य है। जीवन क्रियाओं का नाम है। फिर संन्यासी क्या करेगा? गृहस्थ भी क्रिया करता है, संन्यासी भी क्रिया करता है, फिर फर्क क्या रहा? गृहस्थ भी चलता है, संन्यासी भी चलता है, फिर फर्क क्या रहा? प्रतिष्ठा का फर्क है।
चलते वक्त गृहस्थ चलने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है, बोलते वक्त बोलने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है, भोजन करते वक्त भोजन करने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। संन्यासी दूर खड़ा देखता रहता है। उसकी प्रतिष्ठा अक्रिया में बनी रहती है। ही मूव्स बट रिमेंस इन द इम्मूवेबल। वह गति करता है, लेकिन गति-मुक्त में ठहरा रहता है। चलता है, पूरी पृथ्वी घूम लेता है, और फिर भी कहता है, हम वहीं हैं, जहां थे। हम चले ही नहीं।
बुद्ध के संबंध में बौद्ध भिक्षु, सिर्फ जापान के बौद्ध भिक्षु, एक मजाक करते रहते हैं कि बुद्ध कभी हुए ही नहीं। और रोज पूजा करते हैं। हिम्मतवर लोग हैं। और जब कोई धर्म हिम्मत खो देता है, तभी अपने गुरु के प्रति हंसने की हिम्मत भी खो देता है। वे कहते हैं, बुद्ध कभी हुए ही नहीं। लिंची एक बहुत बड़ा फकीर हुआ। रोज सुबह बुद्ध की मूर्ति पर फूल चढ़ाता
है और रोज प्रवचन देता है कि बुद्ध कभी हुए ही नहीं। झूठ है यह बात। कहानी है यह। एक दिन एक आदमी ने कहा, यह बर्दाश्त के बाहर हो गया। रोज तुम्हें देखते हैं, फूल चढ़ाते हो। और रोज तुम्हारा प्रवचन सुनते हैं। बड़ी हैरानी

होती है। बड़े कंट्राडिक्ट्री मालूम पड़ते हो, बड़े विरोधाभासी हो। आदमी कैसे हो तुम! सुबह जिसको फूल चढ़ाते हो, सांझ कहते हो, वह कभी हुआ ही नहीं। लिंची ने कहा, निश्चित ही, क्योंकि मैंने भी कभी फूल चढ़ाए नहीं। प्रतिष्ठा हमारी अक्रिया में है। वह जो फूल चढ़ाता हूं सुबह, उसमें मेरी प्रतिष्ठा नहीं है। मैं खड़ा देखता रहता हूं कि लिंची फूल चढ़ा रहा है। ऐसे ही बुद्ध भी खड़े देखते रहे कि बुद्ध पैदा हुए, कि बुद्ध चले, कि बुद्ध बोले, कि बुद्ध मरे। लेकिन प्रतिष्ठा अक्रिया में है। संन्यासी की प्रतिष्ठा अक्रिया है।
करते हुए न करने में ठहरा रहना संन्यास है। करते हुए न करने में ठहरा रहना संन्यास है--करने से भाग जाना नहीं। क्योंकि करने से कोई भाग नहीं सकता। एक करने को दूसरे करने से बदल सकता है, बस! और कुछ नहीं कर सकता है। तो जब करने से हम भाग ही नहीं सकते, तो एक करने को दूसरे करने से भी क्या बदलना है! इसलिए मैं गृहस्थ को भी संन्यासी बना देता हूं। प्रतिष्ठा बदल लो! काम बदलने से क्या होगा? दुकान न चलाओगे, आश्रम चलाओगे, क्या फर्क पड़ेगा? ग्राहक न आएंगे, शिष्य-शिष्याएं आएंगी, क्या फर्क पड़ेगा? वे भी कस्टमर्स हैं।
इसलिए गुरुओं में झगड़ा हो जाता है, किसी का कस्टमर किसी दूसरे के पास चला जाए, तो बड़ी झंझट होती है कि ग्राहक छीन लिया हमारा। सब धंधा हो जाता है।
तो जब कस्टमर्स में ही जीना है, तो हर्ज क्या है? दुकान पर बैठकर सामान
ही बेचा, तो क्या हर्ज है? प्रतिष्ठा बदल जानी चाहिए। दुकान पर बेचते हुए दुकानदार न रह जाएं, बस! काम करते हुए करने वाले न रह जाएं। अक्रिया में प्रतिष्ठा हो जाए, तो संन्यास है।
ऐसा स्वेच्छाचार रूप आत्म-स्वभाव रखना--यही मोक्ष है।
यह वचन तो अपूर्व है। अद्वितीय है, इनकम्पेरेबल है। मनुष्य जाति के साहित्य में, किसी भी साहित्य में, ऐसा वचन खोजना असंभव है।
स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः।
स्वेच्छाचार जिनका स्वभाव है! बड़ी कठिन बात है। स्वेच्छाचार तो बड़ा गलत शब्द है हम सब की नजरों में। जब किसी आदमी की हमें निंदा करनी होती है, तो हम कहते हैं, स्वेच्छाचारी है। स्वेच्छाचारी का मतलब यह होता है कि गया, भटक गया, न किसी की सुनता, न किसी की मानता, न कोई नियम, न कोई संयम, न कोई मर्यादा--स्वेच्छाचारी है। स्वेच्छाचार तो हमारे लिए गाली जैसा है। और ऋषि कहता है, स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। ऐसे स्वेच्छाचार में जिसने अपने स्वभाव को जाना, वही मोक्ष है।
लेकिन यह सूत्र आता है बहुत अंत में। इसके पहले सब विसर्जित हो चुका।
वह अहंकार जा चुका, जो स्वेच्छाचार कर सकता था। वह अहंकार अब नहीं बचा, जो स्वेच्छाचार में उतरने में रस लेता, वह जा चुका। अक्रिया में प्रतिष्ठा हो गई है। क्रिया में रस होता, तो स्वेच्छाचार खतरे कर सकता था।
नेपोलियन से कोई पूछ रहा था कि आपकी दृष्टि में कानून की परिभाषा क्या है? हाउ डू यू डिफाइन द ला? नेपोलियन ने कहा, यह काम साधारण लोगों पर छोड़ो। जहां तक मेरा संबंध है, आई एम द ला। मैं कानून हूं। यह छोड़ो बेकार लोगों पर, कानूनविदों पर, वे इसका हिसाब लगाते रहेंगे कि परिभाषा क्या है। ऐ.ज फार ऐ.ज आई एम कंसर्न्ड, आई एम द ला।
स्वेच्छाचार का यही मतलब होता है। लेकिन नेपोलियन का स्वेच्छाचार और संन्यासी के स्वेच्छाचार में नर्क और स्वर्ग का फर्क है।
नेपोलियन जब स्वेच्छाचारी होता है, तो सिर्फ इसीलिए कि वह दूसरे की इच्छाओं का खंडन कर दे, तोड़ दे, मिटा दे; और जो अहंकार कहे, जो मन कहे, जो वासना कहे, जो कामना कहे, वृत्तियां कहें, वही करे। तो नेपोलियन का स्वेच्छाचार पाशविक हो जाता है, पशुओं जैसा हो जाता है। पशुओं से भी बदतर हो जाएगा। क्योंकि पशु की क्षमता आदमी से ज्यादा नीचे गिरने की नहीं है, क्योंकि पशु की क्षमता आदमी से ज्यादा ऊपर उठने की नहीं है। आदमी जितना ऊपर उठ सकता है, उतना ही नीचे जा सकता है। नीचे और ऊपर जाना समानुपाती होता है।

जो वृक्ष जितने ऊपर जाता है, उसकी जड़ें उतनी ही नीचे जाती हैं। जो वृक्ष थोड़ा ही ऊपर जाता है, उसकी ज.ड़ें उतनी ही नीचे जाती हैं। वृक्ष की ऊंचाई देखकर आप कह सकते हैं कि जड़ों को कितने नीचे जाना पड़ा होगा। वे अनुपात में होती हैं। ऊपर और नीचे जाने की क्षमता समान होती है। चूंकि पशु ऊपर नहीं जा सकते, पशु नीचे नहीं जा सकते। आदमी ही जा सकता है ऊपर और नीचे। तो जब आदमी में वासना होती है, कामना होती है, वृत्तियां होती हैं, अहंकार होता है, मोह होता है, माया होती है; तो स्वेच्छाचार पाप है, नर्क है। और जब आदमी इन सबसे मुक्त हो जाता है, तब स्वेच्छाचार ही मोक्ष है। तब कोई नियम नहीं बांधते, तब कोई नियम अनिवार्य नहीं रह जाते, तब कोई मर्यादा नहीं बचती। तब तो जो भीतर से उठता है, स्पांटेनियस, सहज, वही आचरण बन जाता है। तब स्वभाव ही आचरण है।
संन्यासी का उठना, बैठना, बोलना, करना सोचा-विचारा नहीं है, सहज है। जैसे हवाएं बहती हैं और पानी दौड़ता है सागर की तरफ और आग की लपटें दौड़ती हैं आकाश की तरफ, ऐसा ही स्वभाव में रहता है संन्यासी। स्वेच्छाचारी हो जाता है।
पर यह स्वेच्छाचार बहुत और, अन्य है। अपराधी भी स्वेच्छाचारी होता है, संन्यासी भी स्वेच्छाचारी होता है। फर्क एक ही है कि अपराधी स्वेच्छाचारी होता है वासनाओं के साथ, संन्यासी स्वेच्छाचारी होता है वासनाओं से रिक्त। वासनाओं के साथ जिसने स्वेच्छाचार किया, वह नर्क की यात्रा पर निकलेगा। वासनाओं से छूटकर जो स्वेच्छाचार में उतरा है, वह मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है।
ऋषि कहता है, स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः।
इससे ज्यादा रेवल्यूशनरि, इससे ज्यादा क्रांतिकारी मंत्र नहीं खोजा
जा सकता।
इति स्मृतेः। और यही स्मृति का अंत है।
बड़ी अदभुत बात है--यही। इसके आगे स्मृति की कोई भी जरूरत न रही। इसके आगे कुछ स्मरण करने योग्य न रहा। क्योंकि स्मरण रखने पड़ते हैं नियम, मर्यादाएं, सीमाएं; स्मरण रखने पड़ते हैं अनुशासन; स्मरण रखनी पड़ती हैं व्यवस्थाएं। जो स्वेच्छाचार को उपलब्ध हो गया, स्व-स्वभाव को उपलब्ध हो गया, अब स्मृति की कोई जरूरत न रही। जब तक ज्ञान नहीं, तब तक स्मृति की जरूरत है। मेमोरी इ.ज ए सब्सटीट्यूट फार नोइंग। जो जानता है, उसे स्मृति की जरूरत नहीं रह जाती। जो नहीं जानता है, उसे स्मृति की जरूरत रहती है। हमें वही याद करना पड़ता है, जिसे हम भूल-भूल जाते हैं। लेकिन जिसका हमें ज्ञान ही हो गया, उसे क्या याद रखना पड़ता है? चोर को याद रखना पड़ता है कि चोरी करना ठीक नहीं, लेकिन जिसकी चोरी ही खो गई, क्या उसे यह याद रखना पड़ेगा कि चोरी करना पाप है? इसलिए कई दफे बड़ी मजेदार घटनाएं घट जाती हैं। कबीर के घर बहुत लोग आते थे और कबीर सबको कहते, भोजन करके जाना। कबीर
का लड़का कमाल मुश्किल में पड़ गया। उसने कहा, हम कितना ऋण लें? हम थक गए, आगे नहीं चल सकता! आप यह बंद करो। कबीर कहते, अच्छा।
कल सुबह फिर वही होता। लोग आते, कबीर कहते, भोजन के लिए रुककर जाना। कमाल सिर ठोंक लेता कि फिर वही। इति स्मृतेः। ऐसे आदमी स्मरण से नहीं जीते, तत्काल जीते हैं, वहीं जीते हैं, फिर भूल गए।
आखिर कमाल एक दिन बहुत क्रोध में आ गया। उसने कहा कि अब यह आगे एक क्षण नहीं चल सकता। क्या मैं चोरी करने लगूं? कबीर ने कहा, यह तूने पहले क्यों न सोचा?
अदभुत घटना है यह। इतनी अदभुत घटना है कि कबीरपंथी इसका उल्लेख नहीं करते, क्योंकि इसमें तो बड़ा गड़बड़ हो जाए।
कबीर बोले, पागल, पहले क्यों न सोचा? अगर ऐसा कोई उपाय हो सकता है, तो कर। कमाल ने कहा, क्या कह रहे हैं? चोरी! चोरी कह रहा हूं!
कबीर को स्मरण अब कहां कि चोरी बुरी है, कि चोरी पाप है। इति स्मृतेः। ऐसी जगह जाकर तो सब स्मृति खो जाती है। अब तो कबीर को याद दिलानी पड़ेगी उस जगत की, जिस जगत को, समय हुआ, वे छोड़ चुके, जहां चोरी पाप थी; उस लोक की, जहां चोरी पाप थी और चोरी ही नियम थी; जहां समझाया जाता था, चोरी मत करना और चोरी चलती थी; जहां चोर तो चोर था ही, जहां मजिस्ट्रेट भी चोर था। उस जगत से कबीर

का अब कोई नाता न रहा, वह आयाम न रहा, वह यात्रा और हो गई। कबीर को पता ही नहीं कि चोरी भी पाप है।
कबीर ने पूछा कमाल से कि तू कुछ ऐसा बेचैन दिखता कि क्या कोई गलती बात
हो रही है? कमाल ने कहा, हद हो गई। चोरी के लिए कह रहे हैं! दूसरों का सामान उठा लाऊं? कबीर ने कहा, इसमें मुझे कुछ हर्ज नहीं दिखाई पड़ता। दूसरा, यानी कौन? एक ही तो बचा है। सामान किसका? कौन उठा लाएगा?
कमाल ने सोचा कि परीक्षा लेनी ही पड़ेगी। कमाल लड़का गजब का था। उसने कहा, ऐसे नहीं चलेगा। रात उसने कहा कि चलिए, मैं चोरी को जा रहा हूं, आप भी साथ चलिए। कबीर उठे और साथ हो लिए। कमाल तब तो बहुत घबराया। उसने कहा कि क्या चोरी करवाकर ही रहेंगे? हद हो गई, अब तो सीमा के बाहर बात चली जा रही है। होश में हैं कि बेहोश हैं! मगर उनका ही तो बेटा था। उसने कहा, ऐसे न छोडूंगा, आखिरी क्षण तक जांच ही कर लेनी जरूरी है।
जाकर सेंध खोदी। कबीर खड़े रहे। सेंध खोदकर कमाल मकान के भीतर घुसा।
एक गेहूं का बोरा खींचकर बाहर लाया। कबीर खड़े रहे। कमाल ने कहा, आप सहारा दें उठाने में, मुझ अकेले से न उठेगा। कबीर सहारा देने लगे।
कमाल ने सोचा, हद हो गई। अब और कहां तक? अब तो यह चोरी हुई ही जा रही है। कमाल ने कहा, ले चलें घर? कबीर ने कहा, घर के लोगों को कह दिया न कि ले जा रहे हैं? लौटकर जा, घर के लोगों को कह आ। सुबह नाहक खोजेंगे, परेशानी में पड़ेंगे। कह दे कि हम एक बोरा गेहूं चोरी करके ले जा रहे हैं। इति स्मृतेः। ऐसी जगह जाकर सब स्मृति खो जाती है।
परब्रह्म में बहना ही उनका आचरण है।
जस्ट फ्लोटिंग इन द डिवाइन। चलते भी नहीं, तैरते भी नहीं, बस उस दिव्य परमात्मा में बहते हैं। यही उनका आचरण है।

आज इतना ही।
फिर रात हम शेष बात करेंगे।

अब हम बहें--जस्ट फ्लोटिंग।
आज आंख पर पट्टियां नहीं बांधनी हैं, लेकिन आंख बंद रखनी है। क्योंकि
इन सात दिन के प्रयोग में आंख अगर अपने आप बंद न रहे, तो ठीक नहीं। पट्टी का सहारा आखिरी दिन छोड़ देना है। आंख पर पट्टी नहीं बांधनी, अलग रख दें पट्टी तो भी चलेगा।
दूर-दूर फैल जाएं। आज तो बहुत गति आएगी, इसलिए फासले पर हो जाएं।
शुरू करें!

निर्वाण उपनिषद
पंद्रहवां प्रवचन

निर्वाण रहस्य अर्थात सम्यक संन्यास, ब्रह्म जैसी चर्या और सर्व देहनाश

ब्रह्मचर्य शांति संग्रहणम्।
ब्रह्मचर्याश्रमैऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्यासं संन्यासम्।
अंते ब्रह्माखंडाकारम नित्यं सर्व देहनाशनम्।
एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम।
इत्युपनिषत्।

ब्रह्मचर्य और शांति जिनकी संपत्ति या संग्रह है।
ब्रह्मचर्याश्रम में, फिर वानप्रस्थाश्रम में अध्ययन से फलित सर्व त्याग ही संन्यास है।
अंत में जहां समस्त शरीरों का नाश हो जाता है और ब्रह्मरूप अखंड आकार में प्रतिष्ठा होती है।
यही निर्वाण दर्शन है, शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को इसका उपदेश नहीं करना, ऐसा यह रहस्य है।
निर्वाण उपनिषद समाप्त।

ब्रह्मचर्य और शांति जिनकी संपदा है।
संपदा किसे कहें? हम जिसे कहते हैं, वह हम से छीनी जा सकती है। हम जिसे कहते हैं, मृत्यु तो निश्चित ही हमें उससे अलग कर देती है। और हम जिसे संपदा कहते हैं, उसके कारण सिवाय विपदाओं के हमारे ऊपर और कुछ आता हुआ मालूम नहीं पड़ता है। ऋषि भी किसी बात को संपदा कहते हैं। वे उसे संपदा कहते हैं, जो हमसे छीनी न जा सके। वही संपत्ति है, उसी के हम मालिक हैं, जो हमसे छीनी न जा सके। जो हमसे छीनी जा सकती है, उसकी मालकियत नासमझी का दावा है। लेकिन हम तो जिन-जिन संपत्तियों को जानते हैं, वे सभी हमसे छीनी जा सकती हैं। क्या ऐसी किसी संपत्ति का हमें पता है, जो हमसे छीनी न जा सके? बहुत उपनिषदयुगीन कथा है कि याज्ञवल्क्य अपनी सारी संपत्ति अपनी दोनों पत्नियों को सौंपकर संन्यस्त होना चाहता है। उसकी एक पत्नी तो राजी हो गई। आधी संपत्ति बहुत संपत्ति थी। लेकिन दूसरी पत्नी ने पूछा कि जो आप मुझे दे जा रहे हैं, यह क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा, यह संपदा है। पत्नी ने कहा, संपदा को छोड़कर आप क्यों जा रहे हैं? और अगर आप छोड़कर जा रहे हैं, तो आप किसकी तलाश में जा रहे हैं? पति ने कहा, मैंने तो समझ लिया कि यह संपदा नहीं है। और असली संपदा की खोज में जाता हूं। तो पत्नी ने कहा, फिर असली संपदा की खोज में मुझे भी ले चलें। इस कचरे को मेरे लिए क्यों छोड़ जाते हैं? और अगर आपको पता ही चल गया है कि यह संपदा नहीं है, तो मुझे देने की बात ही क्यों उठाते हैं?
संपदा जिनके पास है, वे भलीभांति जान लेते हैं, उससे कुछ भी मिलता नहीं है, जो मूल्यवान है। जो भी उससे खरीदा जा सकता है, वस्तुतः उसका कोई मूल्य नहीं है। संपत्ति से जो खरीदा जा सकता है, उसका कोई भी ऐसा मूल्य नहीं है जो शाश्वत हो, नित्य हो, ठहरने वाला हो। लेकिन हम अपने खाली मन को भर लेते हैं।
ऋषि कहता है, संन्यासी की संपदा क्या है? उसकी संपदा को वह कहता है, एक
तो ब्रह्मचर्य है। उसका आचरण ऐसा होगा, जैसे स्वयं परमात्मा उसके भीतर विराजमान होकर आचरण करता हो।
यह ब्रह्मचर्य शब्द बहुत कीमती है। इसे तथाकथित नीतिवादियों ने बुरी तरह विकृत किया है, करप्ट किया है। क्योंकि जब भी कोई कहता है ब्रह्मचर्य, तो हमें तत्काल ख्याल आता है, सेक्स कंट्रोल, कामवासना का नियंत्रण। ब्रह्मचर्य बहुत बड़ा शब्द है और कामवासना का नियंत्रण बहुत क्षुद्र और साधारण सी बात है। ब्रह्मचर्य बड़ा शब्द है। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ होता

है, ब्रह्म जैसी चर्या। ऐसे जीना, जैसे परमात्मा ही जी रहा हो। ब्रह्मचर्य बहुत विराट शब्द है और कामवासना का नियंत्रण अति क्षुद्र और साधारण सी बात है। लेकिन हमने इस विराट शब्द को इस बुरी तरह बिगाड़ा है कि पश्चिम में जब अंग्रेजी में अनुवाद करते हैं वे ब्रह्मचर्य का, तो कर देते हैं सेलिबेसी। पर उसका अर्थ बहुत और है।
अगर परमात्मा की कोई चर्या होगी, तो वैसी ही चर्या संन्यासी की चर्या है। असल में संन्यासी इस बोध से ही उठता है कि परमात्मा उठा मेरे भीतर, इस बोध से ही चलता है कि परमात्मा चला मेरे भीतर, इस बोध से ही बोलता है कि परमात्मा बोला मेरे भीतर, इस बोध से ही जीता है कि परमात्मा जीया मेरे भीतर। संन्यासी स्वयं को तो विदा कर देता है और परमात्मा को प्रतिष्ठित कर देता है। उसका जो भी है, वह सब परमात्मा का है।
ऐसे अपने भीतर परमात्मा को जिसने प्रतिष्ठित किया हो, जो परमात्मा का मंदिर ही बन गया हो, उसके आचरण का नाम ब्रह्मचर्य है। निश्चित ही, उसमें काम-नियंत्रण तो आ ही जाता है। उसकी चर्चा करने की भी कोई जरूरत नहीं रह जाती। लेकिन ब्रह्मचर्य मात्र काम-नियंत्रण नहीं है, काम-नियंत्रण एक छोटा सा अंग है, ब्रह्मचर्य बहुत बड़ी बात है।
ऋषि कहता है, ब्रह्मचर्य संपदा है। क्योंकि जिसने यह अनुभव कर लिया
कि मेरे भीतर परमात्मा है, उससे अब कुछ भी छीना नहीं जा सकता। एक ही है सत्व, जो हमसे छीना नहीं जा सकता। वह सत्व ऐसा होना चाहिए, जो हमारा स्वरूप भी हो। जिसे हमसे अलग करने का उपाय ही नहीं है, वह केवल परमात्मा है। बाकी सब हमसे अलग किया जा सकता है। मित्र हो, पत्नी हो, बेटा हो, सब हमसे जुदा किए जा सकते हैं। अपना शरीर भी अपने साथ नहीं होगा। अपना मन भी अपने साथ नहीं होगा। सिर्फ एक ही सत्य है, एक ही अस्तित्व परमात्मा का, जो हमसे छीना नहीं जा सकता। जो हमारा होना ही है, द वेरी बीइंग, उसे अलग करने का कोई मार्ग नहीं है। उसे यह ऋषि कहता है, संपदा है।
आचरण ब्रह्म जैसा! लेकिन आचरण तो बाहर होता है। आचरण का अर्थ ही होता है, बाहर। चर्या का अर्थ ही होता है, बाहर। चर्या का अर्थ ही होता है, दूसरों के संबंध में। अकेले कोई आचरण नहीं होता। आचरण का अर्थ है, इन रिलेशनशिप टु समवन।
मुल्ला नसरुद्दीन एक बार जुए में पकड़ गया था। एक राजधानी में धर्मगुरुओं की एक बड़ी समिति थी। एक यहूदी धर्मगुरु, एक ईसाई धर्मगुरु, एक हिंदू धर्मगुरु और मुल्ला नसरुद्दीन एक ही होटल में ठहराए गए थे। लेकिन रात जुए में पकड़े गए चारों। अदालत में जब सुबह मौजूद किए गए, तो मजिस्ट्रेट भी थोड़ा संकोच से भर गया। कल सांझ ही इनके प्रवचन उसने सुने थे। और बड़ा प्रभावित हुआ था। लेकिन पुलिस का आदमी ले आया था अदालत में, तो अब मुकदमा तो चलता ही। फिर भी उसने सोचा, जल्दी निपटा देने जैसा है। इसे आगे खींचने जैसा नहीं है।
पूछा उसने ईसाई पुरोहित से कि क्या आप जुआ खेल रहे थे? ईसाई पुरोहित
ने कहा, क्षमा करें, इट डिपेंड्स ऑन हाउ यू डिफाइन। यह बहुत सी बातों पर निर्भर करेगा कि आप जुए की व्याख्या क्या करते हैं। ऐसे तो पूरी जिंदगी ही जुआ है। मजिस्ट्रेट जल्दी मुक्त करना चाहता था। उसने देखा, यह तो लंबा थियोलाजी का मामला हो जाएगा। उसने कहा, साफ-साफ कहिए, आप जुआ नहीं खेल रहे थे? ईसाई पादरी ने कहा, पूरी जिंदगी ही जुआ है जहां, वहां जुए से बचा कैसे जा सकता है! फिर भी जज ने कहा, मैं समझ गया कि आप जुआ नहीं खेल रहे थे, आप बरी किए जाते हैं। ईसाई पादरी बाहर चला गया।
यहूदी रबी से पूछा, आप जुआ खेल रहे थे? क्योंकि आपके सामने टेबिल पर रुपए रखे थे और ताश पीटे जा रहे थे। यहूदी रबी ने कहा, क्षमा करें, अभिप्राय अपराध नहीं है। अभी जुआ शुरू नहीं हुआ था, अभी सिर्फ आशय था। हम शुरू करने को ही थे जरूर, लेकिन अभी शुरू नहीं हुआ था। और जो शुरू नहीं हुआ है, अभी अदालत के कानून के बाहर है। जज ने कहा, माना। आप बरी किए जाते हैं, आप जुआ नहीं खेल रहे थे, सिर्फ अभिप्राय, अभिप्राय पर कोई कानून नहीं लग सकता। आप जाएं।
हिंदू धर्मगुरु से पूछा, आप भी इसमें सम्मिलित थे? हिंदू धर्मगुरु ने कहा, यह जगत माया है। जो दिखाई पड़ता है, वैसा है नहीं--इट जस्ट एपियर्स।

कैसा जुआ? कैसे पत्ते? कौन पकड़ा गया? किसने पकड़ा? मजिस्ट्रेट ने कहा, मैं समझा। आप जाएं। जब जगत ही असत्य है, तो कैसा जुआ? बिल्कुल ठीक कहते हैं। लेकिन मुल्ला बहुत मुसीबत में था, क्योंकि उसी के हाथ में पत्ते पीटते हुए पकड़े गए थे, और उसी के सामने पैसों का ढेर भी लगा था। मजिस्ट्रेट ने कहा कि इन तीनों को छोड़ देना तो आसान था, नसरुद्दीन तुम्हारे लिए क्या करें? तुम क्या जुआ खेल रहे थे? नसरुद्दीन ने पूछा, क्या मैं पूछ सकता हूं, विद हूम? किसके साथ? क्योंकि वे तीनों तो जा ही चुके थे, बरी हो चुके थे। नसरुद्दीन ने कहा, अकेले भी जुआ अगर खेला जा सकता है, तो जरूर खेल रहा था। हमारा सारा आचरण दूसरे के संबंध में है। अकेले के आचरण का कोई अर्थ नहीं है। सत्य बोलें तो किसी से, झूठ बोलें तो किसी से, चोरी करें तो किसी की, अचोर रहें तो किसी के संबंध में। हमारा सब आचरण दूसरे से संबंध है। इसलिए ऋषि ने पहले तो कहा, ब्रह्मचर्य संपदा है संन्यासी की। ब्रह्मचर्य, दूसरे के साथ ऐसा संबंधित होना, जैसे ईश्वर संबंधित होता हो।
और दूसरी बात कही, शांति। भीतर! आचरण तो बाहर है। भीतर, भीतर परम मौन, सन्नाटा, शांति। वहां कोई तरंग भी न उठे, वहां कोई लहर न उठे, वहां जीवन की जो ऊर्जा है, चेतना है, वह कंपित न हो। ऐसी निष्कंप मौन शांति, जहां हवा का एक झोंका भी नहीं, उसे आंतरिक संपदा कहा है।
आचरण ईश्वर जैसा, अंतस निर्वाण जैसा--शून्य, शांत, मौन। ऋषि कहता है, यही संपदा है, जो छीनी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त जो किसी और चीज को संपदा समझकर बैठे हैं, वे अति दीन हैं, दरिद्र हैं। उनकी दरिद्रता को वे कितना ही छिपाने की कोशिश करें, वह जगह-जगह से प्रकट होती रहती है। धन उनके पास होता है, वे स्वयं धनी नहीं हो पाते, क्योंकि धन उनसे किसी भी क्षण छीना जा सकता है। और धन न भी छीना जाए, तो भी धन सिर्फ धनी होने का धोखा है। क्योंकि भीतर की दीनता तब तक नहीं मिटती, जब तक तनाव न मिट जाए। जब तक अशांति न मिट जाए, तब तक भीतर समृद्धि का जन्म नहीं होता। जब तक इतना भीतर सघन परमात्मा प्रकट न होने लगे कि चारों तरफ उसकी किरणें बिखरने लगें, तब तक व्यक्ति सम्राट नहीं है। तब तक व्यक्ति हजार-हजार रूपों में गुलाम ही होता है। संन्यासी तो सम्राट है।
स्वामी राम कहा करते थे कि एक गरीब फकीर ने घोषणा कर दी थी कि अब मैं मरने के करीब हूं। और लोग बहुत-बहुत धन मेरे पास चढ़ाते चले गए हैं, वह इकट्ठा हो गया है। मैं उसे किसी गरीब को दे देना चाहता हूं।
गांवभर के गरीब घोषणा सुनकर इकट्ठे हो गए। गरीबों की क्या कमी थी! जो नहीं थे गरीब, वे भी अपनी पगड़ी-वगड़ी घर रखकर हाजिर हो गए थे। फकीर तो चकित हुआ। उसमें कई लोग तो ऐसे थे, जो उसको चढ़ा गए थे दान। भीड़ में खड़े थे छिपे हुए। सबको अंदाज था, फकीर पर पैसा तो बहुत होगा, जिंदगीभर लोग चढ़ाते रहे थे। था भी बहुत। एक बड़ी झोली में उसने सब भर रखा था। कई हीरे भी थे, मोती भी थे, सब थे। सोने के सिक्के भी थे, वह सब उसने भर रखा था।
लेकिन उसने कहा कि भाग जाओ यहां से। मैंने सबसे ज्यादा गरीब आदमी को देने का दिल किया है। एक भिखारी ने कहा, लेकिन मुझसे ज्यादा गरीब कौन होगा? मेरे पास कल के लिए भी खाना नहीं है। तो उसने कहा कि मुझे जांच करनी पड़ेगी। तब मैं तय करूंगा।
और इसी बीच सम्राट की सवारी निकली। हाथी पर सम्राट जा रहा है। फकीर ने चिल्लाकर कहा कि रुक। सम्राट रुका और उसने वह थैली उन भिखारियों की भीड़ के सामने सम्राट के हाथी पर फेंक दी। सम्राट ने कहा, क्या मजाक कर रहे हैं? मैंने तो सुना था, आपने सबसे ज्यादा गरीब को देने का तय किया है। फकीर ने कहा, तुमसे ज्यादा गरीब और कौन होगा? क्योंकि यहां जितने लोग खड़े हैं, इनकी आशाएं और आकांक्षाएं बहुत बड़ी नहीं हैं। तुम्हारे पास इतना बड़ा साम्राज्य है, लेकिन अभी भी तुम्हारी इच्छा का कोई अंत नहीं है, वह और आगे दौड़ी चली जा रही है। तुम बड़े से बड़े भिखारी हो, तुम्हारी भिक्षा कभी पूरी न होगी। तुम्हारा भिक्षा-पात्र ऐसा है कि कभी भर न पाएगा। तुम्हीं सबसे बड़े गरीब हो। यह मैं तुम्हें दे देता हूं।
गरीब कौन है? जिसकी वासनाएं दुष्पूर हैं। अमीर कौन है? जिसकी कोई वासना नहीं। गरीब कौन है? जिसकी मांग का कोई अंत नहीं। अमीर कौन है? जो कहता है, अब मांगने को कुछ भी न बचा।

राम जब अमरीका गए, तो वे अपने को बादशाह कहते थे। एक लंगोटी थी पास में, लेकिन कहते थे बादशाह राम। उन्होंने एक किताब लिखी है, उसका नाम है, बादशाह राम के छह हुक्मनामे। एक लंगोटी थी पास, हुक्मनामे बादशाह राम के! अमरीका का प्रेसिडेंट मिलने आया था राम को। और तो उसे सब ठीक लगा, एक बात जरा उसे बेचैन करने लगी। और उसने कहा कि और सब तो ठीक है, मगर आप अपने को खुद अपने मुंह से कहते हैं बादशाह राम।
क्योंकि वे ऐसा कहते थे। वे ऐसा कहते थे कि बादशाह राम कल वहां गए।
तो उसने कहा कि जरा पूछना चाहता हूं कि यह बादशाहत कौन सी है जिसकी आप बात कर रहे हैं? क्या है आपके पास, जिसके आप बादशाह हैं? राम ने कहा, जब तक कुछ भी मेरे पास था, तब तक मैं गुलाम था। क्योंकि जो भी मेरे पास था, वह मेरा मालिक हो गया था। अब मैं बिल्कुल बादशाह हूं, क्योंकि अब मेरी कोई गुलामी न बची। और जब तक मेरे पास कुछ था, तब तक मेरी मांग कायम थी, अब मेरी कोई भी मांग नहीं है। अब तुम हीरे-जवाहरातों के ढेर लगा दो, तो मैं उन पर ऐसे चल सकता हूं जैसे धूल पर चल रहा हूं। अब तुम मुझे महलों में ठहरा दो, तो मैं ऐसे ठहर सकता हूं जैसे झोपड़े में सो रहा हूं। अब तुम दुनिया का मुझे बादशाह भी बना दो, तो मुझे ऐसा न लगेगा कि समथिंग है.ज बीन ऐडेड; कुछ जुड़ गया मुझसे नया, ऐसा नहीं लगेगा, थे ही। सिर्फ आपको पता नहीं था, तो आपको सिंहासन पर बैठ जाने से पता चल गया।
संन्यासी सदा ही संपदा उसे कहता रहा है, जो परिपूर्ण तृप्ति से, टोटल फुलफिलमेंट से जन्मती है।
ऋषि कह रहा है, ब्रह्मचर्य आश्रम में, फिर वानप्रस्थ में अध्ययन से फलित सर्व त्याग ही संन्यास है।
इस देश में हमने आदमी के जीवन को आश्रमों में विभक्त किया था। शायद मनुष्य जाति के इतिहास में हमारा प्रयोग अकेला और अनूठा था जिसमें हमने आदमी की जिंदगी को खंडों में बांटा था और बड़ी वैज्ञानिक व्यवस्था से बांटा था। अगर सौ वर्ष हम आदमी की औसत उम्र मान लें, तो हमने चार टुकड़े तोड़ दिए थे पच्चीस-पच्चीस वर्षों के। पच्चीस वर्ष के पहले टुकड़े को हम ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। इन पच्चीस वर्षों में व्यक्ति को अपनी समस्त शक्ति को जगाकर संगृहीत करना ही लक्ष्य था। इसलिए कि जब वह गृहस्थ बनेगा, तो उसके पास इतनी ऊर्जा होनी चाहिए कि वह जीवन के समस्त भोगों को जान पाए। ये भारत के मनीषी दुस्साहसी थे, भगोड़े नहीं थे। यह पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचर्य का समय इसलिए कि ताकि व्यक्ति इतनी शक्ति-संपन्नता से भोग के जीवन में जाए कि भोग को अंतिम किनारे तक छू सके--टु द आप्टीमम। क्योंकि ऋषियों ने जाना था यह सत्य कि जिस बात को हम पूरा जान लें, उससे छुटकारा हो जाता है। अगर पाप से भी छुटकारा चाहिए हो, तो उसे पूरा जान लेना जरूरी है। आधा जिसने जाना है, उसके मन में लगाव कायम रह ही जाता है कि पता नहीं, वह जो आधा शेष था, वहां न मालूम क्या होगा।
मुल्ला नसरुद्दीन मर रहा है। पुरोहित आ गए हैं उसे विदा करने को। वे उससे कहते हैं, पश्चात्ताप करो। तुमने जो पाप किए हों, उनके लिए पश्चात्ताप करो। नसरुद्दीन आंख खोलता है और कहता है, पश्चात्ताप मैं कर रहा हूं, आलरेडी देयर इ.ज रिपेन्टेंस इन मी। लेकिन थोड़ा सा फर्क है मुझमें और आप में। मैं उन पापों का पश्चात्ताप कर रहा हूं, जो मैं नहीं कर पाया। मन में बड़ी पीड़ा रह गई है कि शायद उनको भी कर लेता, तो पता नहीं क्या पा जाता। जो किए, उनसे तो कुछ नहीं मिला। लेकिन क्या यह जरूरी है कि जो नहीं किए, उन्हें करता तो उनसे भी न मिलता? जो किए उनसे नहीं मिला। लेकिन जो नहीं किए उनमें खजाने नहीं छिपे होंगे, यह कौन मुझे आज मरते क्षण में आश्वासन देगा! पश्चात्ताप कर रहा हूं।
नसरुद्दीन जब सौ वर्ष का हुआ था, तो उसकी सौवीं वर्षगांठ मनाई जा रही है। गांव के पत्रकार उसके पास आए थे। और उन्होंने नसरुद्दीन से कहा कि अगर तुम्हें दुबारा जिंदगी मिले, तो क्या तुम वे ही भूलें फिर करोगे जो तुमने इस जिंदगी में कीं? नसरुद्दीन ने कहा, वे तो करूंगा ही; जो नहीं कर पाया, वे भी करूंगा। एक बात में फर्क करूंगा कि मैंने इस बार जिंदगी में भूलें बड़ी देर से शुरू की थीं। अगली बार मैं जल्दी शुरू कर दूंगा।

पत्रकारों ने पूछा कि तुम्हारी इतनी लंबी उम्र का राज क्या है? सौ वर्ष! तो नसरुद्दीन ने कहा कि मैंने शराब भी नहीं छुई, मैंने धूम्रपान भी नहीं किया, मैंने किसी लड़की का स्पर्श भी नहीं किया--जब तक कि मैं दस वर्ष का नहीं हो गया। इसके सिवाय और तो मुझे लंबी उम्र का कोई रहस्य मालूम नहीं पड़ता। जब तक कि मैं दस वर्ष का नहीं हो गया! और कहता है कि अगर दोबारा जिंदगी मिले, तो जो भूलें मैंने देर से शुरू की हैं, वे जरा मैं जल्दी शुरू करूंगा!
आदमी पछताता है उन पापों के लिए, जो उसने नहीं किए। आप उन पापों की याद नहीं करते, जो आपने किए। उन पापों की याद मन को घेरे रखती है, जो आपने नहीं किए।
भारतीय मनीषी बहुत समझदार थे, बुद्धिमान थे, प्रज्ञावान थे। वे कहते थे, पच्चीस वर्ष ऊर्जा को इकट्ठा कर लो, समस्त शक्ति को जरा भी बहने मत दो। ताकि जब तुम कूदो जीवन के भोग के जगत में, तो तुम्हारी शक्ति से भरी हुए ऊर्जा के तीर तुम्हें वासनाओं के आखिरी तल तक पहुंचा दें। तुम वह सब देख लो, जो संसार दिखा सकता है, ताकि संसार से पीठ मोड़ते वक्त मन में एक बार भी पीछे लौटकर देखने का भाव न आए। यह ब्रह्मचर्य-आश्रम का अर्थ था। इसका यह अर्थ नहीं था कि लोगों को साधु बनाना है, इसलिए ब्रह्मचर्य। नहीं, लोगों को भोग की इतनी स्पष्ट प्रतीति हो जानी चाहिए कि भोग व्यर्थ हो जाए। तभी तो साधुता का जन्म होता है।
इसलिए ब्रह्मचर्य के पच्चीस वर्ष के बाद हम भेज देते थे व्यक्ति को गृहस्थ-आश्रम में। अजीब सी बात थी कि पच्चीस साल तक उसे रखते थे दूर वासनाओं के जगत से और पच्चीस साल के बाद बैंड-बाजे बजाकर उसे वासनाओं के जगत में प्रवेश कराते थे। बड़े गुणी लोग थे, जिन्होंने यह सोचा। उन्होंने सोचा कि शक्ति पहले तो संगृहीत होनी चाहिए!
आज अगर पश्चिम में या पूरब में भी कोई भी व्यक्ति तृप्त नहीं है, कामवासना से भी तृप्त नहीं है--यद्यपि आज के युग में जितनी कामवासना को तृप्त करने के उपाय हैं और आज के युग में जितना कामवासना को तृप्त करने का प्रचार है और आज के युग में कामवासना को जितना प्रदर्शित किया जाता है, उतना दुनिया में कभी भी नहीं था, फिर भी कोई आदमी तृप्त नहीं मालूम होता-- उसका कारण है कि शक्ति इसके पहले संगृहीत हो, विसर्जित होनी शुरू हो जाती है। इसके पहले कि फल पके, जड़ें रस को मिट्टी में खोना शुरू कर देती हैं। फल कभी पक ही नहीं पाता। और जो फल कच्चा ही रह जाता है, वह वृक्ष से कैसे त्याग कर दे वृक्ष का। कच्चे फल कहीं वृक्ष का त्याग करते हैं? पके फल गिरते हैं, चुपचाप गिर जाते हैं। वृक्ष को भी पता नहीं चलता, कब! लेकिन पकने के लिए ऊर्जा चाहिए। जीवन के अनुभव के पकने के लिए भी ऊर्जा चाहिए।
तो पच्चीस वर्ष तक तो हम समस्त रूपों में शक्ति को संगृहीत और शक्ति
को जन्माने और शक्ति को पैदा करने का उपाय करते थे। और एक-एक आदमी को हम एक रिजर्वायर बना देते थे कि वह ऊर्जा से आंदोलित, शक्ति-संपन्न, भरा हुआ जगत में आता था।
ध्यान रहे, जितना शक्तिशाली पुरुष हो, उतनी जल्दी वासनाओं से मुक्त
हो जाता है। जितना निर्बल पुरुष हो, उतनी देर लग जाती है। क्योंकि निर्बल कभी भोग का अनुभव ही नहीं कर पाता, और जिसका अनुभव नहीं, उससे छुटकारा कैसे होगा? जिसे जाना ही नहीं, वह व्यर्थ है, यह कैसे जाना जाएगा? व्यर्थता का ज्ञान तो पूरे जानने से ही उपलब्ध होता है।
इसलिए दुनिया जब तक भारतीय मनीषा के द्वारा विभाजित मनुष्य के खंडों
को पुनः स्वीकार नहीं कर लेती, हम मनुष्य को वासनाओं से मुक्त करने में समर्थ न हो सकेंगे।
ऋषि कहता है, पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य के आवास में जो जाना, गृहस्थ जीवन में जो अनुभव किया... । पचास वर्ष की उम्र तक व्यक्ति गृहस्थ रहेगा। पच्चीस वर्ष वह गृहस्थ जीवन का अनुभव करेगा। और जब वह पचास वर्ष का होने के करीब होगा, तब उसके बेटे आश्रम से लौटने के करीब हो जाएंगे। उसके बेटे पच्चीस वर्ष के करीब होने लगेंगे।
भारत के ऋषि कहते थे कि जब बेटा घर में पत्नी के साथ आ जाए, तब भी पिता बच्चे पैदा करता जाए, इससे बेहूदी और कोई बात नहीं हो सकती। है भी बेहूदी

बात। बेटा जब भोग में उतर जाए, तब बाप भोगना जारी रखे, असंगत है। जरा भी इसमें समझदारी नहीं दिखाई पड़ती। और फिर भी बाप चाहे कि बेटा आदर दे, तो मूढ़ता की हद हो गई। कोई वजह नहीं। लगता तो ऐसा है, बेटा आपके कंधे में हाथ रखे और ट्विस्ट करे, क्योंकि दोनों की योग्यता बराबर है। बेटा भी वही कर रहा है, बाप भी वही कर रहा है। बेटा भी खड़ा है क्यू में सिनेमाघर के, बाप भी खड़े हैं क्यू में सिनेमाघर के। फिर आदर, फिर श्रद्धा, फिर सम्मान, वह अगर खो जाएं, तो कसूर किसका है?
नहीं, नियम यह था कि बेटा जिस दिन विवाहित होकर घर आए, उस दिन बाप का वानप्रस्थ हो गया, उस दिन मां का वानप्रस्थ हो गया। उसी दिन हो गया। बात खतम हो गई। जब बेटे भोगने के जगत में आ गए, तो बाप को अब त्यागने के जगत में जाना चाहिए। नहीं तो फासला क्या है? फर्क क्या है? भेद क्या है?
पचास वर्ष में व्यक्ति वानप्रस्थ हो जाएगा। वानप्रस्थ का अर्थ है, जिसका मुंह वन की तरफ हो गया। अभी वन में गया नहीं है। अभी जंगल चला नहीं गया, क्योंकि जो बेटे अभी गुरुकुल से वापस आए हैं, बाप की कुछ जिम्मेवारी है कि उनको वह अपने जीवन के अनुभव दे दे। अभी अगर वह जंगल भाग जाए, तो बेटों और बाप के बीच, पीढ़ियों के बीच जो ज्ञान का संक्रमण होना चाहिए, ट्रांसमिशन होना चाहिए, वह नहीं हो पाएगा। अभी बेटे गुरुकुल से आए हैं, अभी वे ज्ञान की बातें लेकर आए हैं, शब्द सीखकर आए हैं, शास्त्र सीखकर आए हैं, शक्ति लेकर आए हैं, अभी चमत्कृत हैं जीवन से, अभी ऊर्जा से भरे हैं युवा अवस्था के, अभी पिता ने जो पच्चीस वर्षों में और जाना है, वह सब उसे सिखा दे।
तो पच्चीस वर्ष तक माता और पिता वानप्रस्थ होंगे, वन की तरफ जाते हुए। चेहरा उनका अब जंगल की तरफ होगा, पीठ घर की तरफ हो जाएगी। पच्चीस वर्ष वे रुकेंगे ऐ.ज ए ट्रस्टी, कि बेटे को, जो उन्होंने जाना है, सौंप दें।
लेकिन जब वे पचहत्तर वर्ष के होंगे, तब तक तो बेटों के बेटे गुरुकुल
से लौट रहे होंगे। तब उनके रुकने की कोई जरूरत नहीं रही, क्योंकि उनके बेटे ही अब अनुभवी पिता हो गए हैं, वे पचास साल के हो गए हैं। अब वे ज्ञान को, अनुभव को दे सकेंगे। अब उनके संन्यास का क्षण आया, अब वे छोड़ दें और जंगल चले जाएं।
और एक बहुत अदभुत सर्किल हमने निर्मित किया था। ये जो पचहत्तर वर्ष
के वृद्ध-जन जंगल चले जाएंगे, ये आने वाले बच्चों के लिए गुरु का काम करेंगे। यह एक सर्किल था हमारा।
और ध्यान रहे, हमने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि विद्यार्थी और गुरु
के बीच इससे कम उम्र का फासला उचित है। पचास साल की उम्र का फासला जरूरी है। क्योंकि एक तो वृद्ध की सब वासनाएं क्षीण हो गई होती हैं। केवल वे वृद्ध ही जिनकी वासनाएं समस्त क्षीण हो गईं, जो अनुभव से वासनाओं के पार हो गए हैं, अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य में दीक्षित कर सकते हैं, नहीं तो नहीं। कैसे करेंगे? अब यह गुरु खुद गीता में काम-शास्त्र छिपाकर पढ़ता हो, फिर ठीक है, फिर बच्चे भी पहचान जाते हैं। पहचानने में देर नहीं लगती। फिर यही गुरु उनको ब्रह्मचर्य की बात करता हो। तो देख लेते, सुन लेते, लेकिन जान जाते कि ये सब बातें करने की हैं।
आज तो यूनिवर्सिटी में ऐसा होता है कि अक्सर ऐसा हो जाता है--मैं कोई
दस वर्ष तक यूनिवर्सिटी में था--अक्सर ऐसा हो जाता है कि एक ही लड़की के लिए प्रोफेसर भी दीवाना है और लड़के भी दीवाने हैं। भारी प्रतिस्पर्धा हो जाती है। अब, अब ब्रह्मचर्य की बात करने की भी तो जरूरत नहीं रह गई, शोभा भी नहीं देती। पचास साल का फासला हमने माना था कि विद्यार्थी और गुरु में होना चाहिए। इतना डिस्टेंस कई अर्थों में जरूरी है।
एक तो वार्धक्य का अपना सौंदर्य है, अपनी गरिमा है। अगर कोई व्यक्ति
सच में ढंग से बूढ़ा हुआ हो, तो बुढ़ापे का जो सौंदर्य है, वह किसी भी स्थिति में कभी नहीं होता। क्योंकि जवानी में तो एक उत्तेजना होती है, इसलिए सौंदर्य में शांति नहीं होती, स्निग्धता नहीं होती, चांद जैसा नहीं होता सौंदर्य। और जवानी में तो एक उतावलापन होता है, जल्दी होती है। जल्दी कुरूप होती है। जल्दी में कभी भी सौंदर्य नहीं होता। सौंदर्य तो बहुत धीरे से बहने वाली नदी की दशा है। और जवानी इतनी ऊर्जा से भरी होती है कि

उसे फेंकने के लिए पागल होती है, विक्षिप्त होती है। जवानी कभी भी स्वस्थ नहीं होती। हालांकि हम कहते हैं कि जवान बहुत स्वस्थ होते हैं शरीर से, लेकिन मन से जवानी बहुत अस्वस्थ अवस्था है। बूढ़े ही स्वस्थ हो पाते हैं। रवींद्रनाथ ने कहा है कि अगर कोई ठीक से वृद्ध हो... और ठीक से वृद्ध होने का मतलब यही है कि भीतर जवानी सरकती न रह जाए, और तो कोई अर्थ ही नहीं होता। नहीं तो शरीर बूढ़ा हो जाता है और मन जवान रह जाता है। तब बूढ़े से ज्यादा कुरूप इस जमीन पर कोई घटना नहीं होती, द मोस्ट, द अग्लीएस्ट, जब बूढ़ा शरीर होता है और मन जवान की तरह बेताब, पागल और रुग्ण और वासनाग्रस्त होता है।
यह बड़े मजे की बात है, बच्चे अब भी सुंदर होते हैं, जवान अब भी सुंदर होते हैं, बूढ़े अब सुंदर होना बंद हो गए। कभी मुश्किल से कभी कोई वृद्ध व्यक्ति सुंदर दिखाई पड़ता है। रवींद्रनाथ ने कहा है कि जब सचमुच कोई बूढ़ा जीवन के अनुभव से पककर सुंदर वार्धक्य को उपलब्ध होता है, तो उसके सिर पर आ गए सफेद बाल ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे गौरीशंकर पर जम गई शुभ्र बर्फ--शांत शिखर को छूता हुआ, आसमान को छूता हुआ। जहां बादल भी शर्म से झुक जाते हैं और नीचे पड़ जाते हैं। ऐसे बूढ़ों को हम कहते थे गुरु।
इतना फासला न हो तो गुरु और शिष्य के बीच जो श्रद्धा का जन्म होना चाहिए, वह नहीं हो सकता। और फिर ये जो सब जान चुके हैं, यही देने में समर्थ हो सकते हैं। आज करीब-करीब जिन्होंने कुछ भी नहीं जाना--शब्द जाने हैं, परीक्षापत्र जाने हैं, सर्टिफिकेट जाने हैं--जिनका अनुभव से कोई संबंध नहीं, वे उनको ज्ञान देते रहते हैं, जो करीब-करीब उनकी ही मनोदशा में हैं। कोई भेद नहीं है। और अगर विद्यार्थी थोड़ा होशियार हो, तो शिक्षक से ज्यादा जान सकता है आज। पहले यह असंभव था। विद्यार्थी थोड़ा होशियार हो, तो शिक्षक से ज्यादा जान सकता है। और अक्सर कुछ विद्यार्थी तो थोड़े होशियार होंगे ही और शिक्षक से थोड़े ज्यादा ही होंगे। क्योंकि शिक्षक की तरफ जाने वाला जो वर्ग है समाज का, वह सबसे कम होशियार वर्ग होता है।
उसके कारण हैं। क्योंकि शिक्षक को न तनख्वाह है ठीक, न कोई सम्मान है। लोग पूछते हैं, अच्छा मास्टर हो गए! यानी मतलब बेकार हो गए! आदमी डरता है बताने में कि हम मास्टर हैं। इससे तो कांस्टेबल कहता है, तो भी रीढ़ अकड़ जाती कि कांस्टेबल हैं। मास्टर हैं, तो वह ऐसा कहता है कि पिट गए, बेकार हो गए, जिंदगी बेकार गई, मास्टरी में गंवा दी। तो जाता ही मीडियाकर वर्ग है, मध्य-वृत्त वाला वर्ग जाता है। और जरा सा विद्यार्थी होशियार हो, तो शिक्षक पीछे पड़ जाता है।
लेकिन भारत की दृष्टि यह थी कि शिक्षक किसी भी स्थिति में विद्यार्थी
से पीछे नहीं पड़ना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब इतना लंबा जीवन का अनुभव हो।
ऋषि कह रहा है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य जाना, गार्हस्थ्य जाना, जिन्होंने वानप्रस्थ जाना, इस जानने से ही वे जिस त्याग को उपलब्ध होते हैं, उसका नाम संन्यास है। इस जानने से ही, दिस वेरी नोइंग लीड्स टु रिनंसिएशन, यह जानना ही संन्यास बन जाता है। जिसने जान लिया जीवन को इतने- इतने पहलुओं से, वह जीवन से चिपका नहीं रह जाता। वह जान लेता है कि असार को पकड़कर रखने का क्या प्रयोजन है, तो छूट जाता है।
और अंत में समस्त शरीरों का नाश हो जाता है और ब्रह्मरूप अखंडाकार में प्रतिष्ठा होती है।
मनुष्य के सात शरीर हैं। एक शरीर, जो हमें दिखाई पड़ता है, यह है। फिर इसके भीतर और, और, और, सात शरीरों की पर्तें हैं। एक शरीर तो भौतिक है, जो हमें दिखाई पड़ता है। और सूक्ष्म शरीर हैं, जो हमें दिखाई नहीं पड़ते, लेकिन जब कोई योग में प्रवेश करता है, तो वे दिखाई पड़ने शुरू होते हैं। एक-एक आदमी सात पर्तों से घिरा हुआ है, सेवेन लेयर्स।
ये जो सात शरीर हैं हमारे, जब तक ये सातों के सातों न गिर जाएं, तब तक अखंड ब्रह्माकार स्थिति नहीं बनती है। अगर एक शरीर भी बच जाए पीछे, तो वह यात्रा जारी रखता है। अगर सातों शरीर हों, तो जन्म होता है अलग ढंग से। अगर एक ही शरीर रह जाए, तो भी जन्म होता है अलग ढंग से। भौतिक शरीर निर्मित

नहीं होता, लेकिन जन्म की यात्रा जारी रहती है। जन्म तो उसी दिन मिटते हैं, जिस दिन हमारे भीतर कोई शरीर ही नहीं रह जाता।
लेकिन कब यह घटना घटती है, जब कोई शरीर न रह जाए? यह तभी घटती है, जब भीतर कोई वासना न रह जाए। क्योंकि वासना शरीर को संगृहीत करती है, क्रिस्टलाइज करती है। वासना ही शरीर को संगृहीत करती है, इकट्ठा करती है। और हमारे भीतर वासनाओं के भी सात तल हैं, इसलिए हमारे भीतर सात शरीर हैं। उन सात शरीरों का विनाश हो जाता है। जब कोई व्यक्ति जानकर जीवन का त्याग कर देता है, तब वे सातों शरीर भस्मीभूत हो जाते हैं। वैसे व्यक्ति की फिर अखंड ब्रह्म के साथ सत्ता एक हो जाती है। फिर जन्म का कोई उपाय न रहा, क्योंकि जन्म लेगा कहां? जाएगा कहां? आवागमन की कोई सुविधा न रही। फिर तो प्रतिष्ठा उसमें हो गई, जो सरल है, आकाश की भांति जो फैला है सब ओर। उसके साथ एक होना हो गया।
यही क्षण परम अनुभूति और परम आनंद का क्षण है, जब हमें जन्मने की जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि फिर मरने का कोई कारण नहीं रह जाता। और जब हमें शरीर ग्रहण नहीं करने पड़ते, तब हमें शरीरों से पैदा होने वाले कष्ट भी नहीं झेलने पड़ते। और जब इंद्रियां हमें नहीं मिलतीं, तब इंद्रियों से जो भ्रांतियां पैदा होती हैं, वे भ्रांतियां भी पैदा नहीं होतीं। तब हम शुद्ध चैतन्य में, शुद्ध सत्य में, शुद्ध अस्तित्व के साथ एक हो जाते हैं। इस एकता का जो ज्ञान है, इस एकता का जो दिशा-निर्देश है, इस परम ऐक्य की जो इंगित व्यवस्था है, ऋषि कहता है, यही निर्वाण दर्शन है।
जिसका--एक बहुत अदभुत बात इस सूत्र में कही है अंत में--जिसका शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को उपदेश नहीं करना, ऐसा यह रहस्य है।
यह बहुत अजीब लगेगा। इतनी अदभुत बातों के बाद, इतने परम ज्योतिर्मय
की ओर इशारे करने के बाद एक बात ऋषि कहता है कि यह ज्ञान ऐसा है कि इसे अपने पुत्र या अपने शिष्य के अतिरिक्त और किसी से मत कहना।
उपनिषद का अर्थ होता है, द सीक्रेट डाक्ट्रिन। उपनिषद का अर्थ होता है, गुह्य रहस्य। उपनिषद शब्द का अर्थ होता है, जिसे गुरु के पास चरणों में बैठकर सुना।
रहस्य इतना गुह्य है कि ऐसे ही राह चलते नहीं कहा जाता। रहस्य इतना गुह्य है कि हर किसी से नहीं कहा जाता। बहुत इंटिमेसी चाहिए, बड़ा आंतरिक संबंध चाहिए। रहस्य ऐसा गुह्य है कि जहां तर्क और वितर्क और विवाद चलता हो, वहां नहीं कहा जा सकता है। जहां प्रेम की अंतर्धारा बहती हो, वहीं कहा जा सकता है। जहां संवाद संभव हो, कम्यूनिकेशन जहां संभव हो, जहां हृदय हृदय से बोल सके, हार्ट टु हार्ट, वहीं कहना। ऋषि ने यह सूचना दी है।
बेटे या शिष्य को कहने का भी कारण है। असल में बेटे से मतलब है, जो इतना अपना हो कि अपनी ही मांस-मज्जा मालूम पड़े। जरूरी नहीं है कि वह आपके शरीर से पैदा ही हुआ हो। यह जरूरी नहीं है। यह जरूर जरूरी है कि वह आपको ऐसा लगे कि अगर वह मर जाए, तो आपका कोई हिस्सा मर जाएगा; कि अगर वह खो जाए, तो आपका कोई अंग खो जाएगा; कि वह डूब जाए, नष्ट हो जाए, तो आपके हृदय की धड़कनें कुछ नष्ट हो जाएंगी; आप फिर कभी उतने पूरे न होंगे, जितने उसके होने से थे। जिसके साथ ऐसी आत्मीयता मालूम हो, जो इतना आत्मज मालूम पड़े, उससे कहना, क्योंकि यह रहस्य गुह्य है। या उससे कहना जो शिष्य हो। शिष्य का अर्थ होता है, वन हू इ.ज रेडी टु लर्न, जो सीखने को तैयार है।
बहुत कम लोग दुनिया में सीखने को तैयार होते हैं, मुश्किल से। सिखाने
की उत्सुकता बहुत आसान है, सीखने की तैयारी बहुत कठिन है। क्योंकि सीखने के लिए झुकना पड़ता है।
इस शिष्य शब्द से मुझे ख्याल आया। हमारे मुल्क में पांच सौ वर्ष पहले नानक के शब्दों से एक धर्म का जन्म हुआ, जिसको हम कहते हैं सिख। लेकिन सिख केवल शिष्य का पंजाबी रूपांतरण है। शिष्य का पंजाबी रूप है सिख--जो सीखने को तैयार है। इतना ही उसका मतलब है। सिख कोई पंथ नहीं, कोई मजहब नहीं। जो भी सीखने को तैयार है, वही शिष्य है।
ऋषि कहता है, यह जो सीखने की तैयारी न हो अगर, तो मत कहना। क्योंकि ये बातें ऐसी हैं कि सीखने को जो तैयार न हो, उससे कहो, तो उसके कानों में भी प्रवेश नहीं होगा और खतरा यह है कि वह इनके गलत अर्थ निकाल लेगा। क्योंकि

यह रहस्य गुह्य है, यह सीक्रेट है। यह ऐसी बात नहीं है बोलचाल की कि कह दी।
यह कहना सोच-समझकर।
निश्चित ही, हम पूरा शास्त्र देख गए हैं, सोच-समझकर कहने जैसा है।
स्वेच्छाचार संन्यास है, यह जरा सोच-समझकर कहना उससे, जो समझ सके, समझने की जिसकी तैयारी हो। नहीं तो वह समझेगा कि बिल्कुल ठीक। स्वेच्छाचार का मतलब समझेगा कि लाइसेंस मिल गया। अब कुछ भी करो। और अगर कोई कुछ कहे, तो कहना, संन्यासी हैं, क्या समझते हो? स्वेच्छाचार करेंगे ही, संन्यासी जो हैं। हम देख गए हैं पूरा निर्वाण उपनिषद। जो बातें कही हैं, वे निश्चित ऐसी हैं कि ऋषि को यह वक्तव्य पीछे दे ही देना चाहिए कि उससे ही कहना, जो इतना निकट हो कि मिसअंडरस्टैंड न कर पाए, गलत न समझ जाए। उससे ही कहना, जो सीखने को इतना तैयार हो कि अपनी तरफ से जोड़े न। जो कहा जाए, वही समझे। जो चरणों में बैठकर झुक सके। जो सिर्फ प्रश्न ही न कर रहा हो, जो केवल जवाब ही न चाहता हो; जो समाधान की तलाश में निकला हो, जो समाधि पाना चाहता हो, उससे कहना।
निर्वाण उपनिषद समाप्त।
ऋषि कहता है, बस यह आखिरी बात कहनी थी कि जब किसी से कहो, सोच-समझकर कहना। इतना ही मुझे कहना है, ऋषि कहता है। और निर्वाण उपनिषद समाप्त हो जाता है।
निर्वाण उपनिषद तो समाप्त हो जाता है, लेकिन निर्वाण निर्वाण उपनिषद
के समाप्त होने से नहीं मिल जाता है। निर्वाण उपनिषद जहां समाप्त होता है, वहीं से निर्वाण की यात्रा शुरू होती है। उपनिषद समाप्त हो गया।
इस आशा के साथ अपनी बात पूरी करता हूं कि आप निर्वाण की यात्रा पर चलेंगे, बढ़ेंगे। और यह भरोसा रखकर मैंने ये बातें कही हैं कि आप सुनने को, समझने को तैयार होकर आए थे। अगर कोई शिष्य के भाव से न आया हो, तो उसके कारण मुझे ऋषि से क्षमा मांगनी पड़ेगी, क्योंकि फिर ऋषि के इशारे के विपरीत बात हो गई। कोई अगर मन में विवाद लेकर इन बातों को सुना और समझा हो, तो उससे मैं प्रार्थना करूंगा, वह भूल जाए कि मैंने उससे कुछ भी कहा है।
मैंने जैसा कहा है और जो कहा है, उसमें अगर रत्तीभर भी अपनी तरफ से जोड़ने का ख्याल आए, तो स्मरण रखना कि वह अन्याय होगा--मेरे साथ ही नहीं, जिसने निर्वाण उपनिषद कहा है, उस ऋषि के साथ भी।
यही मानकर मैं चला हूं कि जो यहां इकट्ठे हुए हैं, वे आत्मीय हैं, एंड कम्युनिकेशन इ.ज पासिबल, और संवाद हो सकता है।
इसलिए सिर्फ चर्चा नहीं रखी, साथ में आपके ध्यान के गहन प्रयोग रखे हैं। क्योंकि मैं मानता हूं कि चर्चा में वे लोग भी उत्सुक हो जाते हैं, जो शब्दों को विलास समझते हैं। चर्चा में वे लोग भी उत्सुक हो जाते हैं, जो शब्दों को मनोरंजन समझते हैं, लेकिन ध्यान में वे लोग उत्सुक नहीं होते। और दिन में तीन बार अथक श्रम करना पड़े ध्यान के लिए, तो जो चर्चा में उत्सुक थे, वे भाग गए होंगे। भाग जाएंगे। इसलिए ध्यान को अनिवार्य रूप से पीछे जोड़कर रखा था। और मैं, आप जब मुझे सुनते हैं, तब आपकी फिक्र नहीं कर रहा हूं; जब आप ध्यान करते हैं, तब आपकी फिक्र करता हूं।
आपके ध्यान करने की चेष्टा ने मुझे भरोसा दिलाया है कि जिनसे मैंने बात कही है, वे कहनेयोग्य थे।
निर्वाण उपनिषद समाप्त!
निर्वाण की यात्रा प्रारंभ!!

आज इतना ही।

अब हम रात्रि के अंतिम ध्यान में लग जाएं। यह अंतिम ध्यान है, इसलिए पूरी शक्ति लगा देनी जरूरी है। जो लोग बहुत तेजी से करेंगे वे मेरे सामने रहें, बाकी लोग पीछे हट जाएं।
एक पांच मिनट पहले तीव्र श्वास ले लेंगे, ताकि शक्ति जग जाए!